श्राद्ध

परमपूज्य पांडुरंगशास्त्री आठवलेजी के प्रवचन

भाव वंदना

भगवान को स्वयं के वर्णन की अपेक्षा अपनी प्रिय संतानों का वर्णन करने वाला अधिक अच्छा लगता है। भगवान गीता में कहते हैं: "**यो मद्भक्तः स मे प्रियः।**" लेकिन भागवत में भगवान ने कहा है: "**मद्भक्तानां च ये भक्ताः ते मे प्रियतमाः मताः।**" अर्थात् मेरे भक्त मुझे प्रिय हैं किन्तु मेरे भक्तो के भक्त मुझे प्रियतम हैं। ऐसे महापुरुष भगवान के ही बन जाते हैं।

शायद इसीलिए **पूज्य पांडुरंगशास्त्रीजी** कच्छ, गुजरात. सौराष्ट्र, महाराष्ट्र आदि में धर्मयात्राओ के कार्यक्रमों का प्रारंभ ऐसी महान विभूतियों को श्रद्धांजलि अर्पित करके ही करते थे। भारतीय महानुभावों के वे चरित्र आज जब ग्रंथस्थ हो रहे हैं तब अंतःकरण प्रसन्नता से पुलकित हो उठता है। विज्ञान के इस युग में "श्राद्ध" शीर्षक पुराना महसूस होता होगा, किन्तु यह शब्द जितना पुराना है उतना ही उसका अर्थ नूतन और स्फूर्तिदायक है।

श्राद्ध **अर्थात्** श्रद्धा से किया हुआ स्मरण, श्राद्ध याने पूर्वजों के बारे में आदर, श्राद्ध याने कृतज्ञता। भारतीय संस्कृति की महानता, भव्यता, दिव्यता ऋषिओं और संतो की आभारी हैं। उन्हीं की तपश्चर्या के कारण आज भी भारत को विश्व में काफी महत्त्व मिल रहा है। भावी पीढ़ी आनंदमय जीवन जी सके इसलिए निरपेक्ष भाव से अपना लहू बहाकर उन्होंने समाज को दिव्य विचार-प्रणाली प्रदान की। दीपक की तरह खुद जलकर उन्होंने अनंत जीवनों को प्रकाशित कर दिया। समाज उनका ऋणी है। इस ऋण से उऋण होने के लिए उनके विचारों का प्रचार करना चाहिए। ऋषिमान्य संस्कृति का संरक्षण और विस्तार करने के लिए अविरत परिश्रम करना चाहिए।

ऋषियो के विचारों का सुयोग्य प्रचार ही समाज के आचार को बदलकर उसे स्वस्थ और समाधानी बनायेगा।

ब्रह्मर्षि, महर्षि, ज्ञानी-भक्त और भारतीय संस्कृति के प्रणेता दधीचि, याज्ञवल्क्य, वसिष्ठ इत्यादि के चरित्र पढ़कर उनका भाव-स्मरण करने का सौभाग्य जब मिलने वाला होगा तब मिलेगा, किन्तु इस पुस्तक में जीवन-पथ की पगडंडी दिखाने वाले दासोदिगंबर, त्यागराज, नांवि, एकनाथ वगैरह महापुरुषों का श्रद्धापूर्वक स्मरण किया गया है।

भारतीय संस्कृति में त्याग और पवित्रता जैसे सद्गुणों को अति महत्त्व का स्थान दिया गया है। भारतीय जनता ने किसी राजा की नहीं किन्तु हमेशा संतो की पालकी उठाई है। भारतीय संस्कृति का इतिहास उन महान विभूतियों का इतिहास हैं जिन्होंने एक-एक सद्गुण के लिए, अपना सर्वस्व समर्पित किया है। भारतीय संस्कृति का इतिहास याने भारतीय संतों का इतिहास, भारतीय वीरों का इतिहास।

भारत के ऐसे श्रेष्ठ महानुभावों का चरित्र-चित्रण **पूज्य शास्त्रीजी** जैसे विरल व्यक्ति ही कर सकते हैं। चरित्र-चित्रण करते समय पूज्य शास्त्रीजी की वाणी में उनका अपना विलोभनीय जीवन प्रतिबिंबित होता था, इतना ही नहीं किन्तु उनके हृदय का भाव, भावाश्रु और आनंदाश्रु के रूप में उनके नेत्रों से प्रवाहित होता था। संपूर्ण श्रोतागण उनके अस्खलित वाक्-प्रवाह में मंत्रमुग्ध हो जाता था। उस भाव-प्रवाह को पूर्ण रूप से शब्दांकित करना केवल मुश्किल ही नहीं, असंभव सा महसूस होता है। फिर भी उस जीवंत चैतन्य के शब्दो को अंशतः समाज तक पहुँचाने का नम्र प्रयास ही इस पुस्तक को समझना चाहिए।

भारतीय महानुभावो का यह स्मरण भारतीय अस्मिता को जागृत करेगा और जीवन में वह हमारा सच्चा मार्गदर्शक बनेगा। पूर्वजों के स्मरण और तर्पण द्वारा हम भी अपना जीवन कृतार्थ करे, यही अभ्यर्थना है।

-अस्तु

अनुक्रमणिका

॥ श्री जटाजूटः शरणम् ॥

दासो दिगंबर

भारत में मुगलों का बोलबाला था। धर्म परिवर्तन का कार्य जोरों से चल रहा था। उस काल में मराठवाड़ा (महाराष्ट्र) में दिगम्बरपंत कुलकर्णी नामका एक ब्राह्मण रहता था। वह भक्तिमय, सात्विक और समाधानी जीवन जीता और मुगल बादशाह के पास कर-वसूली का कार्य करता था। उस काल में कर पैसों में नहीं; अनाज के रूप में लिया जाता था। दिगम्बरपंत अन्न-भण्डारों का व्यवस्थापक था।

उसका एक पुत्र था, जिसका नाम दासो था। वह बाल्यकाल से ही पिता के साथ गाँवों में घूमा करता था। वह इतना प्रज्ञावान, तेजस्वी और जिज्ञासु था कि अनेक प्रकार के प्रश्न पूछ-पूछकर पिता को आश्चर्य में डाल देता था। वह जन्म-जन्मान्तरों का पुण्य लेकर आनेवाले महापुरुष जैसा था।

एक दिन मौलवी लोग उनके गाँव में मुस्लिम धर्म का प्रचार करने के लिये आये। उनको देखकर दासो ने पूछा—

"पिताजी! ये लोग कौन हैं और यहाँ किस लिये आये हैं?" पिता ने उत्तर दिया—"अपना धर्म प्रचार करने के लिये।"

"इनको यहाँ कौन भेजता है?" पिता ने उत्तर दिया—"बादशाह।"

"पिताजी! बादशाह के पास इतना धन कहाँ से आता है?"

"बेटा! प्रजा, राजा को कर देती है, राजा उसमें से कुछ अपना धर्म-प्रचार और धर्म-परिवर्तन करने में खर्च करता है।" दासो ने कहा—"पिताजी! धर्म-

परिवर्तन के कार्य में लोगों का पैसा क्यों लगाया जाता है ?" दिगम्बरपंत के पास इसका कोई समुचित उत्तर न होने से वह मौन रह गया।

दासो ने कहा–"तो लोग ऐसी अधार्मिक प्रवृति के लिये धन क्यों देते हैं ? जो राजा संस्कृति को स्थान नहीं देता, दूसरे का धर्म परिवर्तन कर अन्याय करता है, उसको धन देना पाप है।"

दासो के गम्भीर प्रश्नों की झड़ी से दिगम्बरपंत ने मौन धारण कर लिया। परन्तु उसका अन्तःकरण जल रहा था। उसे लगता था कि क्षुद्र, अनैतिक और अधार्मिक राजा की नौकरी करना भी पाप है, परन्तु वह मजबूर था।

एक दिन नर्तकियों का एक बड़ा समूह राजदरबार की ओर जाते हुये उस गाँव से गुजरा। उनको देखकर दासो ने दिगम्बरपंत से पूछा–"पिताजी! ये लोग कौन हैं ?"

"बेटा! ये नाच करने वाली नर्तकियाँ हैं। राजा उनका नृत्य देखना चाहते हैं, इसलिये उनको दरबार में बुलाया है। वे राज-दरबार में जा रही हैं।"

"पिताजी! इनको भी राजा ही धन देता होगा और वह भी प्रजा से ही आता होगा न ?" पिता ने एकाक्षरी उत्तर दिया– "हाँ।"

"तो क्या राजा के भोग–विलास के लिये ही प्रजा कर देती है ? प्रजा के धन से मौज करने वाला राजा पापी और अधार्मिक है। उसको कर देना बन्द कर देना चाहिये। उसको कर देना पाप है।"

आज के राजनीतिज्ञों के पास इस प्रश्न का उत्तर होगा या नहीं, इसमें सन्देह है। परन्तु दासो ने बाल्यकाल से ही इन क्रांतिकारी विचारों का प्रचार करना प्रारम्भ कर दिया था। उसने कहा– "पिताजी! आप इस अधार्मिक और अनैतिक नौकरी को छोड़ दीजिये। आप अपना पसीना बहा कर लोगों के खून–पसीने की कमाई से जो कर वसूल करते हैं, उससे बादशाह मौज करता है। उससे संस्कृति या भगवान का कार्य नहीं होता और आप पर व्यर्थ पाप चढ़ता है।"

पुत्र की बात दिगम्बर को अच्छी लगी, परन्तु उसको आचरण में लाने की उनकी हिम्मत नहीं होती थी। फिर नौकरी छोड़कर परिवार के भरण–पोषण का बहुत बड़ा प्रश्न चिन्ह भी सामने खड़ा था। इसलिये वह दासो की बातों को टालते रहा।

धरती माता अपने परिश्रमी कृषक बेटों को खूब अन्न देती है और उनकी क्षुधा शांत करती है, परन्तु कभी–कभी किसी एक के पाप से सब को दण्ड भुगतना पड़ता है और ऐसी स्थिति आ जाती है कि एक–एक दाना अन्न के लिये भी तरसना पड़ता है। बच्चे भूख से बिलखने और तड़पने लगते हैं।

एक बार मुगल बादशाह के राज्य में भी घोर अन्नकाल पड़ गया। लोग भूख से तड़पने लगे। भूख से तड़पते बच्चों को देखकर दासो ने अपने पिताजी से कहा— "पिताजी ! आप मेरा कितना ध्यान रखते और भर पेट सुन्दर-सुन्दर भोजन खिलाते हैं। परन्तु मेरे मित्रों ने चार दिन से भोजन नहीं किया है। उनके घर मे अन्न का एक दाना भी नहीं है और यहाँ अन्न के भण्डार भरे पड़े हैं। जिनके पसीने से यह अन्न पैदा हुआ है, वे ही बिना अन्न के भूख से मर रहे हैं। आप इन भण्डारों को भूखी प्रजा के लिये खोल दीजिये।"

'बेटा दासो ! यह अनाज मेरा नहीं है। इसलिये मुझे उसे देने का अधिकार भी नहीं है। मैं तो नौकर हूं, मात्र व्यवस्थापक हूं।"

"पिताजी ! आप विचार कीजिये। नन्हे-नन्हे बालक जब अपनी माताओं से खाना माँगते होंगे तो उस समय माताओं का हृदय क्या कहता होगा ? जो अन्न-भण्डार आपत्ति के समय प्रजा के काम न आते हों, उनकी क्या आवश्यकता और उपयोगिता है। जो राजा प्रजा के कष्टों को नहीं देखता, दुःखों से उनकी रक्षा नहीं करता, वह प्रजा का रक्षक नहीं भक्षक है। कोठारों में अनाज सड़ रहा है और लोग भूख से बिलख रहे हैं। यह महान अधर्म है। पिताजी ! आप इस अधर्म के भागीदार मत बनिये। अन्न के कोठारों को खोल दीजिये। आपको मेरी सौगन्ध है।" दासो ने हठाग्रह पकड़ लिया।

दूसरे दिन राज्य के सभी कोठार प्रजा के लिये खोल दिये गये। प्रजा ने अपनी क्षुधा शांत की, पिता-पुत्र को आशीर्वाद दिया और बादशाह को शाप।

बादशहा को जब यह समाचार मिला तो वह आग बबूला हो गया। दिगम्बर-पत को दरबार में बुलाया गया। जब यह मालूम हुआ कि अधिक अपराध उसके क्रान्तिकारी पुत्र का है तो दासो को भी दरबार में हाजिर किया गया।

दरबार लगा था। पिता-पुत्र दोनों अपराधियों के कठघरे में खड़े थे। बादशाह ने दिगम्बरपंत से पूछा—"क्या सचमुच तुमने बिना राजाज्ञा के कोठारों को खुलवाया है ?"

दासो ने पिता के कहने से पूर्व ही उत्तर दिया—

"शाहंशाह ! प्रजा आपकी है। ऐसे महान संकट काल में उसकी रक्षा करना आपका धर्म है। मेरे पिताजी ने उस धर्म को निभाया और आपका सम्मान टिकाया है। लोग आपको आशीर्वाद दे रहे हैं और आपका जय ज्यकार कर रहे हैं।"

दासो की निर्भयता और साहस को देखकर सभी लोग स्तम्भित हो गये। बादशहा भी उसकी निर्भयता और तेजस्विता को देखकर दंग रह गया।

दासो ने आगे कहा–"और हुजूर! प्रजा को अन्न–वस्त्र, घर तथा जीवन–विकासार्थ योग्य शिक्षा प्रदान करना आपका कर्तव्य है। इसीलिये तो प्रजा आपको कर देती है। मेरे पिताजी ने भूखों को (उन्हीं का कमाया हुआ) अन्न देकर कौनसा अपराध किया है?"

बालक की तेजस्विता, दृढ़ता, निर्भयता तथा वाक्पटुता को देखकर राजा ने नीति से काम लेकर उसे अपने वश में करना चाहा। उसने सोचा–यदि दासो को मुसलमान बना दिया जाय तो अपने धर्म–प्रचार में वह बहुत सहायक सिद्ध होगा। हाथ में आया हुआ यह रत्न जाने नहीं देना चाहिये।

बादशाह ने निर्णय दिया कि दिगम्बर पंत ने राज्य का अक्षम्य अपराध किया है, इसलिये उस को पाँच लाख अशर्फियों का अर्थ–दण्ड दिया जाता है। उसे जमा करने के लिये उसको एक मास का समय दिया जाता है। तब तक बंधक के रूप में दासो नजरबन्द रहेगा। यदि तीस दिन के अन्दर जुर्माना अदा नहीं होगा तो एकतीसवें दिन दासो को पाक (मुसलमान) बना दिया जायेगा।

इस निर्णय को सुनकर दिगम्बर पंत का हृदय काँप उठा। किंकर्तव्यविमूढ़ होकर वह दरबार से बाहर निकला। उसके पैर आगे नहीं बढ़ते थे। घर जा कर पत्नी पूछेगी कि दासो कहाँ है। तो वह क्या उत्तर देगा? वह पाँच लाख अशर्फी कहां से लायेगा? समस्त जायदाद बेचकर भी इतनी रकम नहीं आ सकती। इतनी बड़ी रकम कर्ज देने वाला भी कौन है? तो फिर क्या उसका लड़का पाक (मुसलमान) बनेगा? नहीं–नहीं! यह कभी नहीं हो सकता!! वह सहसा आवेश में चिल्ला उठा। रास्ते भर उसके मन में एक ही विचार चलता था–"क्या मेरा दासो मुसलमान बनेगा?"

दिगम्बरपंत की पत्नी आँगन में खड़ी–खड़ी कभी से आतुरतापूर्वक पति और पुत्र की बाट देख रही थी। पति को अकेला देखकर वह स्तब्ध रह गई। उसने सशंक हो कर पूछा–"दासो कहाँ है?"

दिगम्बरपंत के पास इसका क्या उत्तर था? किस मुँह से कहे कि दासो अब हमारा नहीं रहा! वह अब मुसलमान हो जायेगा। उसने बिना कुछ कहे सिर झुका लिया। पति की दशा देखकर उसके मन में अनेक शंका–कुशंकायें उठने लगीं। उसके रोयें खड़े हो गये।

हृदय को कड़ाकर दिगम्बरपंत ने कहा–"दासो की माँ! आज से हमारा दासो चला गया। दासो अब गीता और उपनिषद के बजाय कुरान पढ़ेगा और मन्दिर में पूजा करने के बजाय मस्जिद में बाँग देगा।" यह कहते–कहते उसका दिल भर आया, आवाज रुक गई और आँखो से अश्रु–धारायें बहने लगी। बारह वर्ष के

बालक पर हुये अन्याय को वह सहन नहीं कर सका। उसका चेहरा स्याह हो गया। वह आगे कुछ कह नहीं सका।

यह दशा तो दिगम्बरपंत की थी, तब दासो की माँ के मातृ-हृदय ने इस आघात को कैसे सहन किया होगा? उसके हृदय की दशा वर्णनातीत है। परन्तु परिस्थिति को देखकर उसने स्वयं को संभाला और पति को भी आश्वस्त कर सम्पूर्ण घटना की जानकारी प्राप्त की। पति-पत्नी दोनों इस बात को समझ गये कि बादशाह दासो को मुसलमान बनाना चाहता है, इसीलिये उसने इतना भारी अर्थ-दण्ड दिया है।

बादशाह दासो को मुसलमान बनाना चाहता था, इसलिये उसने बलात्कार के बजाय युक्ति से काम लेना चाहा-'द्राक्षं खर्जूरमाग्रं' उसने दासो को खुश करने के लिये उसे नित्य एक एक अशर्फी देना शुरू किया। दासो को भी विश्वास हो गया कि उसके पिताजी पाँच लाख अशर्फी दे नहीं सकेंगे और उसे मुसलमान बनाना ही पड़ेगा।

रात्रि का समय था। चारों ओर चांदनी छिटक रही थी। शांत वातावरण में दासो अकेला बैठा हुआ आर्त भाव से विचार मग्न है-" इस सृष्टि में मेरा कौन है? मानव भगवान की इस विशाल सृष्टि में मेरा-मेरा करके जीवन बिताता है, परन्तु भगवान के अतिरिक्त सुख-दुःख का कोई दूसरा साथी नहीं है।" इस विचार में डूबा हुआ दासो अन्तःकरण से जगदम्बा का स्तोत्र गाने लगा।

विवादे विषादे प्रमादे प्रवासे, जले चानले पवत शत्रुमध्ये
अरण्ये शरण्ये सदा मां प्रपाही गतिस्त्वं गतिस्त्वं त्वमेका भवानी॥

माँ! इस जगत में मेरा कौन है? मेरे संसारी सम्बन्धियों में से मेरे पीछे कौन है? हे माँ! विवाद, विषाद, प्रमाद, प्रवास, जल, अग्नि, पर्वत, वन तथा शत्रुओं के बीच में तू ही मेरी रक्षा करने वाली है। तू ही मेरी एक मात्र गति है।

सिंह के समान तेजस्वी दासो ने दत्त भगवान की आराधना शुरू कर दी। वह " दिगम्बरा दिगम्बरा श्री पादवल्लभ दिगम्बरा " इस प्रकार वह दत्त भगवान का भजन करता और जो अशर्फी उसे मिलती, नित्य उसका दान कर देता था। दासो की भक्ति की सूचना एक दिन बादशाह के पास पहुंच गई।

बादशाह दासो के पास आया और उसे समझाने लगा-" दासो! तुम जैसे चतुर और बुद्धिमान व्यक्ति को व्यर्थ इतना कष्ट नहीं उठाना चाहिये। तुम क्षुद्र हिन्दू जाति में पैदा हुये हो, यही मेरे लिये दुःख की बात है। तुम चिंता छोड़कर मुसलमान बन जाओ। फिर मेरा यह सम्पूर्ण वैभव तुम्हारे चरण चूमेगा।"

दासो बालक था, परन्तु शेर था। वह बोला–"हुजूर बादशाह! आपके गुलामी के इस वैभव को मैं ठोकर मारता हूं"। उसने सचमुच में बॉये पैर से लात मारने का अभिनय किया। उसने आगे कहा–"बादशाहा! मै आपके इस वैभव पर थूकता हूँ। मुझे आपकी दासता की सत्ता और सम्पत्ति नहीं चाहिये। मेरा धर्म और मेरा भगवान मुझको प्यारा है।" दासो के धृष्टतापूर्ण उत्तर से बादशाह ने क्रोध से मुठ्ठियाँ बाँधली।

"मेरा हिन्दू धर्म है, मै हिन्दू होकर मरूँगा। बादशाहा! आपके धर्म में क्या है? सगुणोपासना है? क्या उसमें प्रेमसे भगवान के साथ बोलकर अपने हृदय का भार कम कर सकते हैं? क्या आपके धर्म में भगवान के साथ आत्मीय सम्बन्ध बांध कर प्यार करने की हिम्मत है? "**स्वधर्मे निधनं श्रेय परधर्मो भयावहः।**" ऐसा कहकर उसने भगवान कृष्ण की गीता अपने हाथ मे पकड़ ली।

बादशाह को लगा कि 'लातों के भूत बातों से नहीं मानते।' इसलिये वह अपने पूर्व निर्णयानुसार अंतिम दिन की राह देखने लगा।

"कल प्रभात होगा और मुझे मुसलमान बना दिया जायेगा। भगवान! तेरे रहते मेरी ऐसी दशा! प्रभो! मेरे पिता कहते थे–वेद, उपनिषद और गीता हमारी माँ हैं। कल से मैं उनका अध्ययन नही कर सकूँगा। वैदिक धारणा और निष्ठा का प्रतीक यह यज्ञोपवीत कल तोड़ना पड़ेगा। मैं वेदों को देख भी नहीं सकूँगा, छू भी नहीं सकूँगा। गीता का पारायण भी नहीं कर पाऊँगा!! प्रभु! इस विचार से ही मेरा रोम–रोम जलने लगता है। जगदीश! मेरे ऊपर इतनी महान विपत्ति क्यों?..." ऐसा कहते–कहते दासो रो पड़ा।

"भगवान! तू जैसा रखेगा वैसा रहना पड़ेगा। परन्तु प्रभु! ऐसी स्थिती न आने देना!" ऐसा विचार करते–करते दासो निद्रा देवी की गोद में चला गया।

दूसरे दिन दरबार में अपार भीड़ उमड़ पड़ी। बादशाह के निर्णयानुसार तीस दिन की अवधि समाप्त हो गई थी। सब की दृष्टि बादशाह की ओर लगी थी। लोग सोचते थे क्या दिगम्बरपंत पॉच लाख अशर्फियॉ जुटा सकेगा? यदि नहीं तो बादशाह इस चतुर बालक को मुसलमान बना देगा। इस विचार से मुसलमान प्रजा खुश थी तो बहुत से हिन्दू लोग परेशान थे। सत्ता के सामने चतुराई काम नहीं आती। इसलिये सब मूक होकर घटनाक्रम को देख रहे थे।

बादशाह बोला–"दिगम्बरपत को उपस्थित करो।" सर्वत्र सन्नाटा छाया था। बादशाह मन ही मन प्रसन्न था कि अब दासो उसका हो गया है, अब वह मौलवी बन जायेगा। बादशाह ने घोषणा की कि पाँच लाख अशर्फियाँ देकर कोई भी दासो को छुड़ा सकता है। परन्तु सब एक दूसरे का मुँह ताकते रहे।

"तो फिर आज से दासो हिन्दू नहीं...बादशाह का वाक्य पूरा भी नहीं हो पाया था कि उस मानव मेदनी को चीरते हुये एक व्यक्ति आगे बढ़ा और चिल्ला कर बोला–"बादशाह ! ठहरो !! यह लो अपनी पाँच लाख अशर्फियाँ और छोड़ो हमारे प्यारे दासो को।"

बादशाह के मुँह का कौर (ग्रास) छिन गया ! वह स्तब्ध हो गया। "लेकिन आप कौन हैं ?" बादशाह ने पूछा। उस व्यक्ति के द्वारा पाँच लाख अशर्फियाँ दिया जाना बादशाह को अच्छा नहीं लगा।

"मेरा नाम दत्ताजी भास्कर है" मानव–समूह से आवाज आई, पर किसी ने उसे देखा नहीं और वह चला गया। दासो प्रसन्न हो गया। भगवान ने उसकी लाज रख दी। उसे मुसलमान होने से बचा लिया। वह दत्ताजी भास्कर की खोज में निकला पर वह उसे नहीं मिला।

दासो ने सोचा इन दत्ताजी भास्कर को भगवान ने ही भेजा होगा या प्रभु स्वयं ही दत्ताजी बनकर आये होंगे। नहीं तो इस स्वार्थी–संसार में पाँच लाख अशर्फियाँ देने वाला कौन हो सकता है ? उसने मन ही मन में भगवान को नमस्कार किया।

प्रसन्न मन दासो भागता हुआ घर पहुँचा। माता पिता ने सोचा कि बादशाह ने उसे मुसल्मान बना लिया होगा, इसलिये उन्होंने शर्म से सिर झुका लिये। परन्तु दासो के मुख–मण्डल पर तेजस्विता झलक रही थी। उन्होंने आश्चर्य चकित होकर उसकी ओर देखा और पूछा– "दासो ! क्या बादशाह ने तुमको मुक्त कर दिया है ? किसने इतनी बड़ी धन–राशि जमा की ?"

निरुत्तर दासो ने माता–पिता को प्रणाम किया और "**दिगम्बरा दिगम्बरा श्रीपादवल्लभ दिगम्बरा**" की धुन गाने लगा।

दिगम्बरपंत के मन में आनन्द का सागर उमड़ रहा था। वह दासो को प्रेम से आलिंगन कर मन ही मन भगवान को नमस्कार कर रहा था। उसके नेत्रों से हर्ष के आँसू प्रवाहित हो रहे थे। प्रभु की कृपा से उसका बेटा मुसलमान बनने से बच गया, इसका उसे अपार हर्ष हो रहा था।

दासो की वृत्ति मे उस दिन से भारी परिवर्तन हो गया। वह सोचता था कि इस जगत में संकटकाल में प्रभु के अतिरिक्त कोई दूसरा सहायक नहीं है। जिस भगवान ने मुझको इस महान संकट से मुक्त किया उसे कैसे भूलूँ ?

दासो की माता उसके लिये सुन्दर, स्वादिष्ट पकवान बनाती लेकिन दासो की भोजन और स्वाद में रुचि नहीं रह गई थी। माता–पिता भी उसको पराये लगते थे।

वह विद्याध्यायन करने के लिये जाता था, परन्तु वह भी उसको केवल वाणी का विलास ही लगता था।

षडंगादि वेदो मुखे शास्त्र विद्या, कवित्वादि गद्यं सुपद्यं करोति।
हरेरंघ्रिपद्मे मनश्चेन्नलग्नं, ततः किम् ततः किम् ततः किम् ततः किम् ॥

भगवान के चरण–कमलों के अतिरिक्त कहीं उसका मन नहीं लगता था। जब भी वह अध्ययन करने लगता तो उसको विचार आता कि उसे किसने छुड़ाया? माता-पिता तो नहीं छुड़ा सकते थे। ऊपर की माता जगदम्बा ने ही उसे छुड़ाया है। तब संसारी माँ से जगदम्बा श्रेष्ठ हुई। मैं यदि उस माता को न मिलूँ तो इससे बड़ा दुःख क्या है? और उस माता को कितना दुःख होगा? लौकिक माता मुझे भोजन देती और मेरा पालन–पोषण करती है, परन्तु जगन्मता भोजन पचाती, दिन–रात मेरे साथ रहती और संकट से बचाती है। मानव अपने कर्तृत्व की डींग मारता है। पर वस्तुतः वह लूला है। अंतिम गति भगवान ही है।

न तातो न माता न बन्धुर्न दाता, न पुत्रो न पुत्री न भृत्यो न भर्ता।
न जाया न विद्या न वृत्तिर्ममैव, गतिस्त्वं गतिस्त्वं त्वमेका भवानी ॥

एक दिन इसी विचार मे निमग्न दासो ने निश्चय किया कि मैं जगदम्बा भवानी की ही शरण क्यों न लूँ? और वह रात के ठीक बारह बजे ध्रुव की तरह घर से निकल पड़ा और सह्याद्रि पर्वत की ओर चला गया।

प्रातः काल दिगम्बरपंत ने दासो को नहीं देखा तो वह अत्यन्त दुःखी हुआ। चारों ओर उसकी ढूँढ़ की परन्तु दासो का कहीं पता नहीं चला। उधर दासो नन्दीग्राम में पहुँचा। गोदावरी में स्नान कर सह्याद्रि की श्रृंखलाओं में दत्तात्रय का नाम लेते हुये और '**दिगम्बरा दिगम्बरा श्रीपादवल्लभ दिगम्बरा**' की धुन गाते हुये प्रभु–प्राप्ति के लिये विचरण करने लगा। भूख लगती तो किसी ब्राह्मण के यहाँ जाकर भोजन कर लेता, नींद लगती तो पेड़ के नीचे सो जाता। कभी भूखा ही रह जाता।

प्रभु का विधान विचित्र है। उसकी हर क्रिया के पीछे कुछ हेतु होता है। दासो का मार्ग–दर्शन करना था, क्योंकि केवल भगवान का नामस्मरण करने या भूखा रहने से प्रभु न प्रसन्न होते हैं और न मिल ही सकते हैं।

एक दिन दासो एक ब्राह्मण के घर भोजन करने गया। ब्राह्मण उसकी तेजस्विता से प्रभावित हुआ। दोनों परस्पर प्रभु–चर्चा करने लगे। ब्राह्मण ने कहा– "भाई दासो! केवल भगवान का वर्णन करने या पुकारने से भगवद् प्राप्ति नहीं होती।

इसके लिये भगवान का काम करना चाहिये। भगवान को दयालु, पतित-पावन, करुणानिधि आदि का प्रमाण-पत्र देने से भगवान खुश हो जायेंगे, यह भ्रम है, यह लूली-लंगड़ी भक्ति है। नामस्मरण केवल आत्मशांति और समाधान के लिये आवश्यक है, पर उससे दिव्यता-तेजस्विता की प्राप्ति नहीं होती। केवल नामजप भिखारियों की भाषा है। नाम-जप के साथ-साथ प्रभु कार्य करने वाला ही सच्चा भक्त है।

दासो के हृदय पर इस ब्राह्मण की बातों का गहरा प्रभाव पड़ा और दूसरे दिन से ही उसने गाँव-गाँव और घर-घर जाकर प्रभुकार्य करना प्रारम्भ कर दिया।

दासो ने देखा लोग पशुतुल्य जीवन जी रहे हैं। भूख लगे तो खाना, नींद लगे तो सोना। थाली में भोजन परोसा या पूरा परोसा भी न गया कि खाने लगते हैं। पशु भी यही तो करता है! मनुष्य की मनुष्यता तो यह है कि थाली में पूरा भोजन परोस लिये जाने के बाद शांति से एक दो श्लोक बोलकर उस भगवान का स्मरण करे, जिसने इन पदार्थों को बनाया है, जो उन्हें पचाता है, उसका रक्त बनाता और जीवन चलाता है। सोते और उठते समय भी भगवान का स्मरण करे जो सुलाता और उठाता है। हम स्वयँ सो या उठ नहीं सकते, प्रभु ही क्योंकि वह सुलाते और उठाते हैं।

लोगों के इस जीवन को देखकर दासो का हृदय भर आया। उसने झोपड़ी-झोपड़ी में जाकर लोगों को प्रभु के विचार-संस्कृति के विचार समझाये तथा उन्हें तेजस्वी जीवन जीना सिखाया और भगवान से बिछुड़े हुये जीवों को भगवान की ओर उन्मुख किया।

दासो के जीवन में भक्ति तो थी ही अब कर्मयोग का समावेश भी हो गया। एक दिन वह रात्रि को शांति से बैठकर प्रभु का चिंतन कर रहा था-"प्रभु! तेरी कला वर्णनातीत है, तेरा सृजन अद्वितीय है। भगवान! मेरी उत्कट अभिलाषा है कि तेरा दर्शन हो और मैं तेरी दी हुई शक्ति को तेरे काम पर लगाऊँ। प्रभु! मुझे अपने से अलग रखकर तड़पते देखोगे...? यह कहते कहते वह सो गया।

भगवान दत्तात्रय ने प्रसन्न होकर स्वप्न में उससे कहा-"दासो! तू अब भिखारी नहीं, मेरा है और मेरा कार्य करने वाला महान भक्त है। बोल तेरी क्या अभिलाषा है?"

दासो की आँखें खुल गई? सामने दत्त-प्रभु को देखकर आनन्द से उसका हृदय भर आया। आँखें हर्षाश्रु से डबडबा गई। उसके जन्म-जन्मांतर के पुण्य खिल उठे और उसका जीवन सार्थक हो गया।

उसने कहा–"भगवान! आपके दर्शनों के बाद त्रिभुवन का वैभव भी तुच्छ है। मुझे सत्ता सम्पत्ति या कीर्ति कुछ नहीं चाहिये। मेरी एक ही अभिलाषा है कि मुझे आपके मुखारविंद की झांकी सतत मिलती रहे और मैं आपका कार्य करता रहूँ। और प्रभु! मुझे आपके चरण कमलों की खड़ाऊँ चाहिये, जिनमें चित्त एकाग्र कर मैं अपना जीवन विकास कर आपको समर्पित कर सकूं।"।

"तू वाणी संगम की ओर जा। वहाँ गोदावरी में स्नान करने के पश्चात् तुझे मेरी खड़ाऊँ मिलेंगी।" इतना कहकर दत्त भगवान अन्तर्धान हो गये।

दासो ने गोदावरी तट पर जाकर गोदावरी माता का अष्टक गाया। करोड़ों लोगों के जीवन को पवित्र करने वाली गोदावरी माता को लगता था कि कब मेरा लाड़ला दासो मुझमें स्नान कर मुझे भी पावन करे। ज्यों ही दासो जल में उतरा गोदावरी मैय्या ने उसका आलिंगन किया। जल से बाहर आने पर उसे दत्त भगवान के खड़ाऊँ प्रसाद के रूप में उपलब्ध हो गये।

दासो बावेश्वर मंदिर में जाकर वहाँ आने वाले सैकड़ों विद्यार्थियों को जीवन का पाठ पढ़ाता और जीवन को पूर्णता समझाता था। एक दिन वहाँ एक यात्री दल आया। पंडे लोग उन्हें अपना यजमान बनाने की दौड़-धूप कर रहे थे। दासो के पूछने पर एक पंडे ने बताया कि मराठवाड़ से एक यात्री-दल आया है। उसमें एक श्रीमंत, उसकी पत्नी और युवा पुत्र-वधू हैं! युवती का पति चार वर्ष पूर्व घर छोड़कर चला गया था, अब तक उसकी कोई सूचना नहीं मिली। इसलिये प्रचलित प्रथानुसार वह अपने सौभाग्य-वस्त्र, चूड़ी, चन्द्रक तथा सुहाग को गोदावरी में अर्पित कर वैधव्य ग्रहण करने आई है।

पुत्र-वधू वैधव्य ग्रहण करनेवाली थी, इसलिये सारा परिवार शोक-संतप्त था। पंडे उन्हें आश्वस्त कर कहते थे कि उन्होंने यहाँ आकर अच्छा किया है। उन्हें यहाँ एक तेजस्वी युवक के दर्शन होंगे, जिसका जीवन-लक्ष्य प्रभु-कार्य ही है। परिवार के मुखिया को इस निरीह कर्मयोगी के दर्शनों की इच्छा हुई।

मराठवाड़ से एक यात्री-दल आया है, यह सुनकर दासो उसके दर्शन के लिये निकला। मार्ग में उसे एक तेजस्वी ब्राह्मण मिला। उसने कहा–"मैंने आपकी बहुत प्रशंसा सुनी है और आज आपका साक्षात्कार भी हो गया है। आप प्रभु-कार्य में निमग्न, निःस्पृह और निराकांक्षी भी हैं। यदि आप बुरा न मानें तो एक प्रश्न पूछ सकता हूँ?"

दासो ने कहा–"अवश्य पूछिये।"

ब्राह्मण ने कहा–" आपने यह विचित्र वेश क्यों धारण किया है ? जो यह समझता है कि मैंने कुछ प्राप्त कर लिया है और मैं सामान्य लोगों से ऊँचा हूँ, वह व्यक्ति यदि ऐसा वेष धारण करे तो बात समझ में आ सकती है। वह अपने को असामान्य और श्रेष्ठ दिखाने की इच्छा रखता है, उसे कीर्ति की भूख होती है। वह दूसरों को क्षुद्र और तुच्छ समझता है। लोग भी उसे असामान्य समझकर उसके पीछे भागते हैं। परन्तु आप जैसे निरीह, निराकांक्षी व्यक्ति की कोई अपेक्षा नहीं, फिर यह विचित्र वेष कैसे ? "

" आपका कथन सत्य है । लोग मुझे बड़ा या असामान्य समझें, मेरी ऐसी अपेक्षा नहीं है। यदि आपको मेरे विचित्र वेष से ऐसा लगता है कि मैं सामान्य लोगों से भिन्न हूँ ; तो मैं अपनी इस वेष भूषा को गोदावरी में समर्पण कर देता हूँ ।"

चौदस के चन्द्र की चांदनी छिटक रही थी, दासो धीरे-धीरे गोदावरी की ओर चले जा रहे थे। उन्हें किसी महिला की सिसकियाँ सुनाई दीं। रात्रि की नीरवता मे उस दर्दभरी करुण सिसकन से दासो का को हृदय द्रवित हो गया। यह करुण-क्रंदन किसका है ? पंडे ने जिस परिवार का प्रसंग वर्णन किया था, यह उसी युवा-वधू का रुदन तो नहीं है ? दासो की जिज्ञासा-बढ़ी और वह धीरे-धीरे उसी ओर बढ़ा।

" बेटी ! यह हमारे पूर्व जन्मों के पापों का परिणाम है। इसीलिये वृद्धावस्था में यह दुःख देखने को मिला रहा है।" दुःख-सागर मे डूबी हुई किसी स्त्री-कण्ठ के शब्द दासो के कान में पड़े।

फिर किसी पुरुष की आवाज सुनाई दी–" बेटी ! किस को पता है कि भाग्य में क्या लिखा है। यहां एक तपस्वी युवक रहता है, उसका आशीर्वाद लेकर..." हिचकी लेकर वृद्ध ने आगे क्या कहा कुछ सुनाई नहीं दिया।

दासो चुपचाप खड़ा हो गया। 'यह आवाज तो किसी परिचित व्यक्ति की है।' उसे तत्क्षण ध्यान आया कि वृद्ध उसके पिता और युवती उसकी धर्म-पत्नी होनी चाहिये। ऐसा विश्वास होते ही वह अन्दर चला गया और वृद्ध के पैरों पर लिपट कर प्रेमाश्रुओं से उसके चरणों का प्रक्षालन करने लगा।

" यह क्या करते हो महात्मन् ! तुम तो तपस्वी हो। तुमने सैकड़ों जीवों को जीवन दिया है। मुझ पापी को अपने पाप कर्मों से अपनी पुत्र-वधू को वैधव्य की दीक्षा देने का दुर्दिन देखने को मिला है। मेरे पैरों में पड़कर मुझे पाप के सागर में क्यों ढकलते हो ! " यह कहते हुये वृद्ध ब्राह्मण दो कदम पीछे हट गया।

" पिताजी ! आपने मुझे नहीं पहिचाना ! मैं आपका पुत्र दासो हूँ ।"

दासो ! दासो सुनते ही वृद्ध की आखों से अश्रुधारा बह चली। हर्ष के आवेग में वह कुछ बोल नही सका । " कौन ! दासो... ? उसने दासो को अपनी बाहों में बांध लिया और उसके तेजस्वी चेहरे को एकटक देखता रहा गया ।

पार्वती (दासो का पत्नी) को कितना आनन्द हुआ होगा. इसकी कल्पना करना भी कठिन है। प्रभु की क्या विचित्र लीला है। क्षणभर पूर्व शोक-सागर में डूबा हुआ परिवार क्षणभर पश्चात् आनन्द के सागर में तैरने लगा।

" बेटा दासो ! मेरे हाथ से कितना बड़ा अनर्थ होने वाला था ? मैं पुत्र के रहते पुत्र-बधू को वैधव्य की दीक्षा देने वाला था।"

दासो ने कहा-" पिता जी ! अब उसका सुहाग चिन्ह नहीं, बल्कि मेरी विचित्र वेश-भूषा गोदावरी में अर्पित होगी।

असामान्य जीवन धारण करने वाला दासो अब सामान्य मानव की तरह रहने लगा। यही उसका जीवन-विकास था। एक दिन भोजन करने के पश्चात दासो ने अपने मन की बात पिता से खोलते हुये कहा-" पिता जी ! हमारे पास जो जमीन, जागीर और वैभव है, उसे हम ब्रह्मार्पण क्यों नहीं कर देते ? मुझे तो उसकी आवश्यकता नहीं है।"

दिगम्बरपंत ने बिना कुछ कहे ही अपनी समस्त सम्पत्ति ब्रह्मार्पण कर दी और चारों जने प्रभु-कार्य के लिये निकल पड़े। वे गाँव-गाँव, घर-घर जाते और मानव देह धारण करने पर भी पशु-जीवन जीने वाले लोगों को जीवन-दर्शन देते और प्रभु के विचारों का प्रचार करते थे।

घूमते-घूमते वे आँवेजागोई गाँव के पास आये। गाँव के बाहर एक सुन्दर तालाब था। यह परिवार उसके पास टिक गया। सामान्य लोगों ने उन्हें भिक्षुक ब्राह्मण समझा। उस गाँव में सीतोपंत कुलकर्णी नाम का एक विद्वान ब्राह्मण रहता था। वह भावुक था, परन्तु अन्ध-श्रद्धालु नहीं था। वह बुद्धिनिष्ठ था और किसी के आगे अपना मस्कत झुकाना नहीं चाहता था। सन्ध्या को जब वह घूमने निकलता तो उसकी दासो से मुलाकात हो गई परंतु उसे पता न था कि वह दासो है।

कुलकर्णी ने चर्चा करते हुये दासो से अनेक प्रश्न पूछे, जिनके सन्तोष जनक उत्तर चुटकी में मिल गये। आज तक जिन प्रश्नों के उत्तर नहीं मिले थे, उन सबका दासो ने समाधान कर दिया। कुलकर्णी अत्यन्त प्रभावित हो गये और पूछा-" आप कौन हैं ? " " दासो दिगम्बर " संक्षिप्त उत्तर मिला।

कुलकर्णी आश्चर्य में पड़ गये। दासो की कीर्ति वह सुन चुके थे। जिसने राज्याश्रय ठुकराया, हजारों मानवों का जीवन बदल डाला, जो महान प्रभु-भक्त है, क्या यही वह दासो दिगम्बर है ? आजन्म किसी के आगे सर न झुकाने का निश्चय करने वाले सीतोपंत कुलकर्णी का मस्तक दासो के चरणों में नत हो गया। उसने कहा-" प्रभु ! आपकी बुद्धि, भक्ति और कृति महान है। फिर भी आप जैसा महान व्यक्ति इतनी सामान्य अवस्था में रहता है ? "

" प्रभु ! मैंने आज तक गुरु नहीं बनाया, जो भी मुझे मिला वह तेजहीन, दुर्बल और क्षुद्र विचारों वाला ही निकला, सभी भगवान से भीख माँगने वाले मिले आप महान हैं, आप की भक्ति शूरों की भक्ति है। आप वेदों को अपने जीवन में उतार चुके है, इसलिये मैं आज से आपको गुरु बनाता हूं।"

दासो ने नम्रता से कहा-" सीतोपंत आप महान हैं परन्तु मैं किसी का गुरु नहीं हूँ, किसी का रु नहीं बनता और गुरु बनकर किसी का बोझ ढोने की सामर्थ्य भी मुझमें नहीं है।"

सीतोपंत ने निवेदन किया-" प्रभु ! गुरु बनाया नहीं जाता, स्वयं बन जाता है। भगवान के बाद जो व्यक्ति अपनी नजरों में उतरता है, वह गुरु है ! इसलिये आप मेरे गुरु हैं। यदि आप कुछ लिखने का भी कष्ट करें तो सरस्वती माता भी अपने को धन्य मानेगी और वाङ्मय भी पुष्ट होगा।"

कुछ समय पश्चात् सीतोपंत ने अपनी सम्पूर्ण संपत्ति दासो के चरणों में अर्पित कर दी। दासो ने भी भगवान को स्मरण कर लिखना प्रारम्भ किया। उन्होंने 'गीतार्णव' के सवा लाख छन्द (सूक्त) लिखे ।

दासो असामान्य होने पर भी सामान्य जीवन जीकर पशु तुल्य मानव को दिव्य जीवन का मंत्र देने और 'गीतार्णव' द्वारा दैवी वाङ्मय को पुष्ट करने का कार्य अन्त तक करते रहे।

माघ वदी षष्ठी को दत्त भगवान का यह परम पावन भक्त मानवाकाश में प्रखर सूर्य के समान देदीप्यमान होकर तथा मानवी जीवन को प्रकाशित कर पुनः दत्त भगवान में विलीन हो गया।

ज्ञान, भक्ति और कर्म की त्रिवेणी संगम का लोकोत्तर जीवन जीने वाले इस महापुरुष के महान ग्रंथ 'गीतार्णव' का प्रकाशन स्वतंत्र भारत के राष्ट्रपति के कर-कमलों से हुआ है। उस महान सन्त और महान आत्मा को कोटिशः प्रणाम !

" पिताजी ! आपने मुझे नहीं पहिचाना ! मैं आपका पुत्र दासो हूँ ।"

दासो ! दासो सुनते ही वृद्ध की आखों से अश्रुधारा बह चली। हर्ष के आवेग में वह कुछ बोल नहीं सका। " कौन ! दासो... ? उसने दासो को अपनी बाहों में बांध लिया और उसके तेजस्वी चेहरे को एकटक देखता रहा गया।

पार्वती (दासो का पत्नी) को कितना आनन्द हुआ होगा. इसकी कल्पना करना भी कठिन है। प्रभु की क्या विचित्र लीला है। क्षणभर पूर्व शोक-सागर में डूबा हुआ परिवार क्षणभर पश्चात् आनन्द के सागर में तैरने लगा।

" बेटा दासो ! मेरे हाथ से कितना बड़ा अनर्थ होने वाला था ? मैं पुत्र के रहते पुत्र-बधू को वैधव्य की दीक्षा देने वाला था।"

दासो ने कहा-" पिता जी ! अब उसका सुहाग चिन्ह नहीं, बल्कि मेरी विचित्र वेश-भूषा गोदावरी में अर्पित होगी।

असामान्य जीवन धारण करने वाला दासो अब सामान्य मानव की तरह रहने लगा। यही उसका जीवन-विकास था। एक दिन भोजन करने के पश्चात दासो ने अपने मन की बात पिता से खोलते हुये कहा-" पिता जी ! हमारे पास जो जमीन, जागीर और वैभव है, उसे हम ब्रह्मार्पण क्यों नहीं कर देते ? मुझे तो उसकी आवश्यकता नहीं है।"

दिगम्बरपंत ने विना कुछ कहे ही अपनी समस्त सम्पत्ति ब्रह्मार्पण कर दी और चारों जने प्रभु-कार्य के लिये निकल पड़े। वे गाँव-गाँव, घर-घर जाते और मानव देह धारण करने पर भी पशु-जीवन जीने वाले लोगों को जीवन-दर्शन देते और प्रभु के विचारों का प्रचार करते थे।

घूमते-घूमते वे आँवेजागोई गाँव के पास आये। गाँव के बाहर एक सुन्दर तालाब था। यह परिवार उसके पास टिक गया। सामान्य लोगों ने उन्हें भिक्षुक ब्राह्मण समझा। उस गाँव में सीतोपंत कुलकर्णी नाम का एक विद्वान ब्राह्मण रहता था। वह भावुक था, परन्तु अन्ध-श्रद्धालु नहीं था। वह बुद्धिनिष्ठ था और किसी के आगे अपना मस्तक झुकाना नहीं चाहता था। सन्ध्या को जब वह घूमने निकलता तो उसकी दासो से मुलाकात हो गई परंतु उसे पता न था कि वह दासो है।

कुलकर्णी ने चर्चा करते हुये दासो से अनेक प्रश्न पूछे, जिनके सन्तोष जनक उत्तर चुटकी में मिल गये। आज तक जिन प्रश्नों के उत्तर नहीं मिले थे, उन सबका दासो ने समाधान कर दिया। कुलकर्णी अत्यन्त प्रभावित हो गये और पूछा-" आप कौन हैं ?" " दासो दिगम्बर " संक्षिप्त उत्तर मिला।

कुलकर्णी आश्चर्य में पड़ गये। दासो की कीर्ति वह सुन चुके थे। जिसने राज्याश्रय ठुकराया, हजारों मानवों का जीवन बदल डाला, जो महान प्रभु-भक्त हैं, क्या यही वह दासो दिगम्बर है? आजन्म किसी के आगे सर न झुकाने का निश्चय करने वाले सीतोपंत कुलकर्णी का मस्तक दासो के चरणों में नत हो गया। उसने कहा-" प्रभु! आपकी बुद्धि, भक्ति और कृति महान है। फिर भी आप जैसा महान व्यक्ति इतनी सामान्य अवस्था में रहता है?"

" प्रभु! मैंने आज तक गुरु नहीं बनाया, जो भी मुझे मिला वह तेजहीन, दुर्बल और क्षुद्र विचारों वाला ही निकला, सभी भगवान से भीख माँगने वाले मिले आप महान हैं, आप की भक्ति शूरों की भक्ति है। आप वेदों को अपने जीवन में उतार चुके है, इसलिये मैं आज से आपको गुरु बनाता हूं।"

दासो ने नम्रता से कहा-" सीतोपंत आप महान हैं परन्तु मैं किसी का गुरु नहीं हूँ, किसी का रु नहीं बनता और गुरु बनकर किसी का बोझ ढोने की सामर्थ्य भी मुझमें नहीं है।"

सीतोपंत ने निवेदन किया-" प्रभु! गुरु बनाया नहीं जाता, स्वयं बन जाता है। भगवान के बाद जो व्यक्ति अपनी नजरों में उतरता है, वह गुरु है! इसलिये आप मेरे गुरु हैं। यदि आप कुछ लिखने का भी कष्ट करें तो सरस्वती माता भी अपने को धन्य मानेगी और वाङ्मय भी पुष्ट होगा।"

कुछ समय पश्चात् सीतोपंत ने अपनी सम्पूर्ण संपत्ति दासो के चरणों में अर्पित कर दी। दासो ने भी भगवान को स्मरण कर लिखना प्रारम्भ किया। उन्होंने 'गीतार्णव' के सवा लाख छन्द (सूक्त) लिखे।

दासो असामान्य होने पर भी सामान्य जीवन जीकर पशु तुल्य मानव को दिव्य जीवन का मंत्र देने और 'गीतार्णव' द्वारा दैवी वाङ्मय को पुष्ट करने का कार्य अन्त तक करते रहे।

माघ वदी षष्टी को दत्त भगवान का यह परम पावन भक्त मानवाकाश में प्रखर सूर्य के समान देदीप्यमान होकर तथा मानवी जीवन को प्रकाशित कर पुनः दत्त भगवान में विलीन हो गया।

ज्ञान, भक्ति और कर्म की त्रिवेणी संगम का लोकोत्तर जीवन जीने वाले इस महापुरुष के महान ग्रंथ 'गीतार्णव' का प्रकाशन स्वतंत्र भारत के राष्ट्रपति के कर-कमलों से हुआ है। उस महान सन्त और महान आत्मा को कोटिशः पणाम!

चन्दा-महिपाल

आज से हजारों वर्ष पूर्व जिस जमाने में वैदिक सिद्धान्तों को जीवन में प्रमाण माना जाता था, उस काल की यह घटना है।

गाँव से कुछ दूर भैरवनाथ का मन्दिर था। मन्दिर के चारों ओर पीपल के विशाल वृक्षों की घटा शोभायमान थी। दिन ढलते ही सभी ग्रामवासी आकर इन वृक्षों के नीचे शीतल छाया में एक सुन्दर चबूतरे पर एकत्रित होते थे। सन्ध्याकाल में वृक्षों के नीचे चबूतरे पर बैठे हुये उल्लसित ग्रामवासियों का दृश्य देखने योग्य होता था। सभी के चेहरों पर मुस्कराहट और प्रसन्नता खिली होती थी। युवक-युवतियाँ और वयोवृद्ध सभी भैरवनाथ का प्रसाद लेकर उल्लसित होकर अपने-अपने घरों को लौटते थे। उनके मुखड़ो के कर्तृत्व की आभा से चांदनी भी लज्जित होती थी। उनमें उल्लास, उत्साह और हिम्मत थी। वे उछलते-कूदते और गाते हुये लौटते थे। सम्पूर्ण गाँव में सुख, शान्ति, स्वस्थता और समाधान का अलौकिक वातावरण छाया रहता था। उस स्वर्गीय आनन्द को देखकर देवताओं की भी उस गाँव में आने की इच्छा होती होगी।

इस सम्पूर्ण दिव्य वातावरण के मूल में एक ब्राह्मण की तपश्चर्या, कर्तृत्व और जीवन-धारणा थी, उसका नाम था-चन्द्रस्वामी। वह तपोवन में शिक्षा पाया हुआ उत्कृष्ट विद्वान और बुद्धिमान युवक था। उसके साथी पंडित राज्याश्रय लेकर सुख और विलास का जीवन विताते और अपना सुखी संसार चलाते थे। परन्तु चन्द्रस्वामी व्रती था, उसने राज्याश्रय ग्रहण न कर अपने व्रत के लिये कगाली और दरिद्रता के पैर पकड़े थे। चन्द्रस्वामी की धारणा थी कि पंडित को आश्रय की अपेक्षा ही कैसी ? जो प्रभु-सेवा और स्वतंत्र वृत्ति का आश्रय लेकर अपना जीवन यापन करे, वही सच्चा ब्राह्मण है।

एक दिन उषाकाल की सुनहरी वेला में यह पंडित अपनी पत्नी से प्रश्न कर रहा था-"देवमती! तू मेरी जीवन संगिनी है। हम दोनों ने अग्नि की

साक्षी में प्रतिज्ञा ली थी-'धर्मेच अर्थेच कामे च नाति चरामि-नाति चरामि' तू जीवन में मेरे पीछे-पीछे, मेरा अनुकरण कर, कष्टमय जीवन व्यतीत करते हुये आ रही है। क्या कभी तुझे ऐसा नहीं लगता कि मेरे पति के साथी पंडित राज्याश्रय लेकर सुखी जीवन व्यतीत कर रहे हैं और मैं उत्कृष्ट विद्वान और बुद्धिमान पंडित की पत्नी होकर भी दरिद्रता का जीवन जी रही हूँ! मैंने जानबूझकर, राज मार्ग को छोड़कर जंगल का मार्ग पकड़ा है, तुम्हें मेरा यह मार्ग गलत तो नहीं लगता ? तुम्हारे शरीर पर फटे हुये जीर्ण वस्त्र हैं, एक भी आभूषण नहीं है, जबकि राज्याश्रित पंडितों की स्त्रियाँ रेशमी साड़ियाँ और हीरेमोती के आभूषण पहिनकर घूमती हैं। क्या तुम्हें नहीं लगता कि मुझे भी उसी प्रकार के वस्त्रालंकारों से सज्जित होना चाहिये था ?"

देवमती ने कहा-"तुम मेरे देव, सर्वस्व और गुरु हो, तुम्हारा साथ है तो मुझे और क्या चाहिये। लाचारी और दीनता के हीरे मोतियों की अपेक्षा मेरा कच्चे धागे का मंगलसूत्र कई गुना श्रेष्ठ है। पराश्रित होकर पलना, फेंकी हुई जूठी मिठाई के टुकड़ों पर जीने के समान है, उसकी अपेक्षा तेजस्विता के साथ कमाई हुई सूखी रोटी पर जीना अधिक अच्छा है। मैं भारतीय नारी हूँ, आपके पद-चिन्हों पर चलना मेरा धर्म है कर्तव्य है। भारतीय नारी को पति के साथ रहने में ही आनन्द है।"

यह निष्ठावान ब्राह्मण-दम्पत्ति घूमते-घामते अपने दो बच्चों के साथ भैरवनाथ के मन्दिर में आ पहुँचे और भैरवनाथ के दर्शन कर पीपल की छाया में बैठ गये। इस स्थल की रमणीयता और भव्यता ने चन्द्रस्वामी का स्वागत किया और उन्हें आकर्षित भी। चन्द्रस्वामी को यह स्थान बहुत अच्छा लगा और उन्होंने स्थाई रूप से यहीं रहने का निश्चय किया।

सायँकाल को नित्य गाँव के बालक-बालिकायें मंदिर के प्रांगण में खेलने आते थे। चन्द्रस्वामी उनसे बातचीत करते, उनके साथ खेलते और सुन्दर-सुन्दर सांस्कृतिक कहानियाँ सुनाकर उनको सदाचार और सद्विचार की शिक्षा देते थे। उन्होंने बालकों के मन को जीत लिया था। बच्चे उनको बहुत प्यार करते थे। उन्होंने घर में अपने माता-पिताओं को बताया कि मन्दिर में एक ऐसा ब्राह्मण आया है जो उनको सुन्दर-सुन्दर बातें और कहानियाँ सुनाता है और उनके साथ खेलता भी है। माता-पिताओं को अपने बच्चों को जीवन में स्पष्ट परिवर्तन दिखाई देने लगा और वे भी ब्राह्मण के दर्शन के लिये जाने लगे। धीरे-धीरे सैकड़ों ग्रामवासी मन्दिर में जाकर चन्द्रस्वामी के उपदेश सुनने और

अपना जीवन विकास करने लगे। ब्राह्मण दम्पत्ति निःस्वार्थ और एकान्त भाव से लोगों की सेवा सुश्रुषा में जुट गया।

ब्राह्मण दम्पत्ति की मूक सेवा को देखकर गाँव वालों को लगा कि हम लोग गृहस्थ हैं, एक व्यक्ति निःस्वार्थ भाव से हमारे लिये अपना खून पसीना बहा रहा है और मात्र कन्द-मूल फल खाकर जीवन व्यतीत कर रहा है। हम उसको कुछ भी नहीं देते, यह ठीक नहीं है। इसलिये अब जो भी चन्द्रस्वामी के पास आता, दो मुट्ठी अन्न लेकर ही आता था।

चन्द्रस्वामी को लगा, ये लोग सामान्य श्रेणी के हैं, अपने बच्चों का पेट काटकर मेरे लिये लाते हैं, इसे कैसे स्वीकार किया जा सकता है? परन्तु लोगों के प्रेम-पूर्ण आग्रह को अस्वीकार भी कैसे किया जाय? दूसरी ओर उसके सामने चन्द्रा और महिपाल नाचने लगते थे। पितृ हृदय द्रवित हुआ और उसने सोचा लोग प्रेम से देते हैं तो भगवान ने भेजा होगा इसलिये उसने देवमती को अन्न स्वीकार कर लेने की आज्ञा दी।

चन्द्रस्वामी लोगों के जीवन के साथ घुलमिल गये थे। वे लोगों को भक्ति और कर्म के सिद्धान्त समझाते थे। दुःख को किस प्रकार सहन करना, जीवन का दृष्टिकोण कैसे बदलना? वे इस प्रकार नित्य सायंकाल स्वाध्याय करते और लोगों के जीवन विकास के लिये सतत प्रयत्नशील रहते थे।

चन्द्रा और महिपाल अपनी निष्पाप बाल सुलभ क्रीड़ा से घर का वातावरण आल्हादित रखये थे। धीरे-धीरे दुःख और दारिद्र्य के बादल छँटते गये। चन्द्रस्वामी और देवमती अपना सुखी संसार चलाने लगे। सारा गाँव धीरे-धीरे सुधरने लगा। चन्द्रस्वामी की कीर्ति चारों ओर फैल गई। अब धनिक वर्ग भी उनके पास आने लगा। उनको भी जीवन-दर्शन मिलता था। चन्द्रस्वामी बच्चों के साथ खेलता, युवकों के उलझे प्रश्नों को सुलझाता और वयस्क लोगों का मार्गदर्शन करता था। जब धनिक लोग उसके चरणों में धन रखते तो वह सोचता गरीबों के पास जो दिल होता है, वह धनिकों के पास नहीं होता। अपने बच्चों के हिस्से से मुट्ठीभर अनाज बचाकर देनेवाले और लाखों रुपयों में से पाँच-पचीस रुपया देने वाले धनवान में बहुत बड़ा अन्तर है।

चन्द्रस्वामी ने सोचा बिना माँगे जो सम्पत्ति आ रही है, वह भगवान की प्रेरणा से ही आ रही है। इसलिये उसे स्वीकार कर लूँ और गरीबों में उसे प्रसाद के रूप में लौटा दूँ? वह गरीबों से कहता था "तुम भगवान को

नहीं भूलते और दुर्दम्य निष्ठा से जीवन जी रहे हो। भगवान अवश्य तुम्हारी साहयता करेंगे।" भगवान ने गीता में स्पष्ट आश्वासन दिया है—

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥

चन्द्रस्वामी ने अपने जीवन में उक्त कथन की सार्थकता अनुभव की। अब वह श्रीमंत बन गया। प्रभुकृपा से अन्न से उसके कोठार भर गये थे। परन्तु '**सब दिन होत न एक समान**' जाने क्यों भगवान उस गाँव से रूठ गये। अनावृष्टि के कारण भयंकर अन्नकाल पड़ गया। पानी का एक बूंद नहीं रहा। धरती सूख गई, हरियाली जल गई। लोगों ने ज्यों-त्यों करके एक वर्ष निकाला, परन्तु दूसरे वर्ष भी मेघराज की कृपा नहीं हुई, दुष्काल और भी भीषण हो गया। बच्चे माता-पिता की आँखों के सामने भूख से तड़पने लगे। धनवानों के घरों पर भूख से अर्द्ध-मृत नरकंकालों की भीड लगने लगी। चारों ओर 'अन्न दो, अन्न दो' का आर्तनाद सुनाई देने लगा। सारा गाँव अन्नकाल की अग्नि में स्वाहा हो रहा था।

यह भयानक दृष्य देखकर चन्द्रस्वामी का हृदय द्रवित हो गया। उसने देवमती से कहा—'हमारे घर में काफी अनाज है, तुम इन भूखे लोगों को खाना क्यों नही खिलाती?' देवमती ने कहा—'इसे तो वही जानता है, जिसे विपत्ति का सामना करना पड़ता है। बारह बजे भूख लगने पर बच्चे पिता के पास नहीं जाते, बल्कि दौड़कर माँ के पास जाते हैं। यदि मैं इस प्रकार अनाज को लुटा दूं तो फिर हमारे बच्चे कहाँ जायेंगे? हमारे भी दो बच्चे हैं। वे यदि रोटी माँगेंगे तो कहाँ से दोगे?' देवमती का मातृ-हृदय जागृत हो गया। चन्द्रस्वामी ने समय की विषमता समझकर तथा यह विचार कर अपना समाधान किया कि 'भगवान ने जो कुछ दिया था, वह मैंने गृहलक्ष्मी को सौंप दिया। अब वह नही देती तो उसके मन को दुखाकर जबर्दस्ती करने का क्या अर्थ है?'

एक दिन दो पहर के समय चन्द्रा और महिपाल आँगन में खेल रहे थे। उसी समय एक माँ अपने बच्चों सहित भीख माँगते हुये वहाँ आई। उसके बच्चों ने महिपाल से खाना माँगा। उन्हें देखकर चन्द्रा को बड़ा दुःख हुआ। वह दौड़कर अपनी माँ के पास गई और बोली—'माँ! तू इन भूखे बच्चों को खाना दे दे। वे बेचारे भूख से रो रहे हैं।' माँ ने कहा—'कहाँ से दूं? यदि उनको दे दूँगी तो तुम दोनों क्या खाओगे?'

चन्द्रा से इन बच्चों का तड़पना नहीं देखा जाता था। उसने बड़ी नम्रता से कहा—'माँ! मेरी साम की रोटी उनको दे दे। मैं रोऊंगी नहीं और अपना हिस्सा

भी नहीं माँगूंगी।' इसी समय महिपाल ने भी कहा-'हाँ, माँ, हम एक ही समय भोजन करेंगे। तू हमारे हिस्से का खाना उन्हें दे दे।'

देवमती की संस्कारिता जाग हो उठी। मातृत्व की ममता पर उसने विजय प्राप्त की। उसने उन भूखे बालकों को पेट भरकर खाना खिलाया। चन्द्रस्वामी मन ही मन प्रसन्न हुये कि भगवान देवमती के हाथों से खाना बाँट रहे है। उसकी आँखों में प्रेमाश्रु और करुणाश्रु छलक आये। देवमती पति का साथ देने के लिये तैयार हो गई। दोनों ने निश्चय किया कि लोगों से आया हुआ अन्न उन्ही के उपयोग में आना चाहिये।

कमलपुर में कुछ ऐसे भी लोग थे, जो भीख माँगने के बजाय भूखों मरना पसन्द करते थे। चन्द्रस्वामी उनके पास गये और उन्हें कहा, 'ऐसे संकट के समय आप धनवानों के पास अन्न के लिये क्यों नहीं जाते हैं?' उन लोगों ने कहा—'आपने ही तो हमको यह दृष्टि दी और तेजस्वी जीवन जीना सिखाया है और आप ही भीख माँगने के लिये कहते हैं!' चन्द्रस्वामी उनकी तेजस्विता से प्रभावित होकर अवाक् हो गये। उन्हें अपनी तपस्या सफल लगने लगी। उन्होंने हजारों लोगों के लिये अपने घर पर भोजन बनाया और उन्हें सम्मानपूर्वक भोजना का आमंत्रण दिया।

लोगों ने कहा—'परन्तु हम आप जैसे पवित्र, श्रोत्रीय और तत्त्वनिष्ठ ब्राह्मण के यहाँ भोजन कैसे कर सकते है? हमें तो आपको ही जो देना चाहिये।' चन्द्रस्वामी ने उन्हें समझाया कि यह अन्न मेरा नही है। मैंने खेती, व्यापार या नौकरी कुछ भी नहीं की है। यह सब आपका ही है, मैं तो उसका मात्र संरक्षक था।

लोगों ने चन्द्रस्वामी के यहाँ भोजन करना शुरू किया। इससे अभिमानी धनिकवर्ग को बुरा लगा। उनको लगा कि चन्द्रस्वामी हमारे दिये हुये धन से बड़प्पन पा रहा है। इसलिये उन्होंने उसके यहाँ अन्न-धन भेजना बन्द कर दिया। परिणामतः आमदनी घट गयी और व्यय बढ गया। अन्त में चन्द्रस्वामी के कोठार का निचला भाग दिखाई देने लगा और एक दिन ऐसा आ गया कि उसके बच्चों को भी खाना नहीं रहा।

देवमती चन्द्रस्वामी के पास रोने लगी और बोली—'कल बच्चे खाना माँगेंगे तो मैं क्या उत्तर दूँगी?' चन्द्रस्वामी ने कहा—'तू धैर्य धारण कर और भगवान पर श्रद्धा रख। भगवान कुछ न कुछ मार्ग निकालेंगे। भगवान ने आश्वासन दिया है—

'अनन्याश्चिन्तयन्तो मां........योगक्षेमं वहाम्यहम्॥' परंतु

देवमती का समाधान नहीं हुआ । उसने कहा–' एक बात कहूँ–रजतपुर यहाँ से दूर है, वहाँ अन्नकाल नहीं है । हम यदि वहाँ चले जाँय तो ? '

चन्द्रस्वामी ने कहा–' देवमती तू भूल कर रही है । जीवन की खाद डाले बिना समाज रूपी पौधा नहीं पनपता । एक साधारण संकट में तेरी तेजस्विता समाप्त हो गई है । चन्द्रा के जन्म के समय तूने स्वयं अपने मायके (पितृ–गृह) को अन्तिम प्रणाम किया था । आज अपने स्वाभिमान को समाप्त कर उसी की शरण लोगी ? जिस दिन तेरे भाई की शादी थी, तू साड़ी के छोर पर थोड़े से चेवड़ा लेकर गई थी कि भाई अपनी गरीब बहिन की यह भेंट स्वीकार कर और अपने दाम्पत्य जीवन को सुखी कर । उस दिन भाई ने तेरी उपेक्षा की और शादी में आये हुये धनिकों की स्त्रियों ने तेरी मजाक उड़ाई थी । तेरी माँ ने भी तुझे कंगाल, दीन और लाचार कहा था । तू उस अपमान की पीड़ा से बिना भोजन किये ही वापस आ गई थी । क्या तू उस अपमान को भूल गई है ? जिस मुँह से भगवान का नाम लेती है, उससे क्या आश्रय की भीख माँगेगी ? '

देवमती ने कहा–' मैं नहीं, यह मेरा मातृत्व बोल रहा है । मुझे इन कोमल बच्चों की चिंता सता रही है । हमने अयाचक वृत्ति धारण की है, हमें इस निष्ठा को टिकाने के लिये संकट सहना पड़ेगा, परन्तु इन दोनों बच्चों का तो व्रत नहीं है । तब उन्हें रोटी के बिना कैसे तड़पने दोगे ? ' दोनों ने निश्चय किया कि चन्द्रस्वामी बच्चों को रजतपुर छोड़ आयेंगे । इस बीच स्वाध्याय आदि कार्यों को देवमती संभालेगी ।

बच्चों को अपने से अलग करने के विचार से देवमती को दुःख होने लगा, परन्तु दूसरा मार्ग ही नहीं था । प्रातःकाल उसने दोनों को प्रेम से बुलाकर कहा–' महिपाल ! चन्द्रा ! तुम दोनों आज मामा के घर जा रहे हो । परन्तु ध्यान रखना माम–मामी को कष्ट न हो । तुम दोनों परस्पर लड़ाई–झगड़ा मत करना । बेटा महिपाल ! तू बड़ा है, बहिन की देख–रेख की जिम्मेदारी तेरी है । प्रातः उठकर मामा-मामी को प्रणाम करना । ' इतना कहकर उसका दिल भर आया और आँखों से आँसुओं की धारा बहने लगी, जिसे उसने बलात् रोके रखा ।

चन्द्रा बोली–' परन्तु माँ ! जब मैं पूछती थी कि हमारे मामा कौन हैं ? तो तू कहती थी कि भैरवनाथ हैं । अब यह मामा कहाँ से आये ? ' बेचारी माँ के रुके हुये आँसू छलक पड़े । उसने चन्द्रा को छाती से लगा लिया, आलिंगन और चुम्बन किया, तथा उसके सिर पर हाथ फेरकर बिना उत्तर दिये ही उसे निरुत्तर कर दिया ।

माँ ने दोनों बच्चों को स्नान कराके भोजन कराया और हाथ में दही रख कर चलने की तैयारी की। चन्द्रा चिल्लाने लगी– 'माँ! तू भी चल न! तेरे बिना हमें अच्छा नहीं लगेगा।' माँ ने कहा– 'तू जानती है कि हम यहाँ नित्य स्वाध्याय करते हैं। यदि मैं तुम्हारे साथ आ जाऊँगी तो यहाँ स्वाध्याय कौन करायेगा? तुम अपने पिताजी के साथ जाओ।'

संस्कारी चन्द्रा ने कहा– 'पर माँ! भगवान तो सभी जगह हैं। मामा के घर ही स्वाध्याय, भजन आदि करेंगे।' बच्चे–कच्चे कभी-कभी ऐसा प्रश्न करते हैं, जिसका उत्तर नहीं सूझता। माँ ने कहा– 'अच्छा।' तुम पिताजी के साथ चलो, मैं घर का काम निपटा कर आती हूँ। इस प्रकार उसने बच्चों को चन्द्रास्वामी के साथ कर दिया। देवमती अनिमेष नेत्रों से तब तक उन्हें देखती रही, जब तक वे आँखों से ओझल नहीं हो गये।

चन्द्रस्वामी दोनों की उंगलियाँ पकड़कर चले जा रहे थे। मध्यान्ह हो गया, भगवान भास्करदेव अपनी पूर्ण प्रभा से चमक रहे थे। चन्द्रा को प्यास लग गई। वे विश्राम के लिये एक वृक्ष की शीतल छाया मे बैठे गये। चन्द्रस्वामी पानी की तलाश में इधर-उधर चक्कर लगाने लगे। उसे सामने से तीन चार आदमी आते हुये दिखाई दिये। उसे आशा हुई कि उनके पास पानी होगा। ये भील थे। चन्द्रस्वामी ने पूछा–"भाई! तुम्हारे पास पानी है क्या?" उनमें से एक ने कहा–"हमारे साथ चलो, हम पानी बतायेंगे। दोनों बच्चों को वहीं छोड़कर चन्द्रस्वामी उनके साथ हो लिया। काफी दूर चलने पर भी कहीं पानी नहीं दिखाई दिया। उसने पूछा–"भाई! पानी कितनी दूर है? मेरे बच्चे अकेले अधीर होते होंगे।" उनमें से एक ने डरावनी आवाज में कड़ककर कहा–"चुपचाप हमारे साथ चले चलो।" वे चन्द्रस्वामी को सिंहदष्ट नाम के भील राजा के पास ले गये।

चन्द्रस्वामी समझ गया कि वह कैद में पड़ गया है। उसने भीलराज से कहा–"मेरे छोटे कोमल बच्चे भूख-प्यास से तड़पते होंगे। भयानक जंगल में अकेले डरते होंगे। मैं ब्राह्मण हूँ, मुझे जाने की आज्ञा दे दीजिये।" भीलराज ने क्रूरता पूर्वक कहा–"तुम्हारे बच्चे मरते होंगे, पर हमारे लड़के भी भूख से मर रहे हैं, वर्षा नहीं हो रही है। हमारी कुल-देवी ने स्वप्न में आज्ञा की है कि किसी तेजस्वी ब्राह्मण की बलि दो तो वर्षा होगी। तुम जैसा तेजस्वी ब्राह्मण फिर कहाँ मिलेगा।" राजा की आज्ञा से चन्द्रस्वामी को एक गुफा में बन्द कर दिया गया।

गुफा में बैठे–बैठे चन्द्रस्वामी ने भगवान का स्मरण किया और कहा–"प्रभु! यदि मेरे बलिदान से सैकड़ों जीवों को जीवन मिलता है तो मैं मरने के लिये तैयार हूँ।

मैं मरने से नहीं डरता। परन्तु प्रभु ! मैं भी सांसारिक जीव हूँ और प्रेम-तन्तुओं से बंधा हूँ। मेरी चन्द्रा और मेरे महिपाल का क्या होगा ? वे अकेले जंगल में कैसे रहेंगे ? वे भूख प्यास से तड़पते होंगे, वे अधीर और भयातुर होकर रात के अंधेरे में मेरी प्रतीक्षा करते होंगे। मेरी यदि गलती है तो मुझे उसकी सजा मिलनी ही चाहिये। परन्तु प्रभु ! उन निष्पाप बच्चों ने तो कोई गलती नहीं की। एक बार मुझे अपने बच्चों को देखने दो प्रभु।" इस प्रकार भगवान से प्रार्थना करते करते वह सो गया।

भगवान की लीला अपरम्पार है। अपार सम्पत्ति देते हैं तो अथाह दुःख भी, सुख के शिखर पर चढ़ाते हैं तो दुःख की खाई में भी पटक देते हैं। चन्द्रस्वामी को भगवती ने आश्वासन दिया कि 'तेरे बच्चे तुझे मिलेंगे।' तथा राजा को स्वप्न में आदेश किया कि 'तुरन्त इस पवित्र ब्राह्मण को मुक्त करो, नहीं तो तेरा सम्पूर्ण वंश ही नष्ट हो जायेगा।' प्रातःकाल होते ही राजा ने चन्द्रस्वामी को मुक्त कर दिया।

धूप ढल चुकी थी। पिता पानी लेकर नहीं आये। चन्द्रा प्यास से तड़पती थी। अंधेरा होने लगा था। भयानक जंगल में दोनों अबोध बच्चे अकेले बैठे थे। चन्द्रा रोने लगी—'भाई! पिताजी कब आयेंगे?' 'पिताजी पानी लेकर आते ही होंगे, तू रो मत...' 'परन्तु मुझे डर लग रहा है।' 'चन्द्रा! डर मत, मैं तेरे साथ हूँ।' दस वर्ष का महिपाल चन्द्रा को आश्वासन देता है। छोटा सा महिपाल क्षणभर में बड़ा हो गया। दोनों ने पिता की तलाश में आगे बढ़ना शुरू किया।

'भाई मैं चल नहीं सकती।' 'मैं तुझे कंधे पर ले चलूँगा, तू डर मत।' और उसने चन्द्रा को कंधे पर ले लिया। संयोग और विपत्ति मानव को निर्भय बनाती तथा कर्तव्य निभाना सिखाती है। महिपाल, चन्द्रा को कंधे पर रखकर चलने लगा। मार्ग में फल मिलते तो तोड़कर पहिले चन्द्रा को खिलाता और फिर स्वयँ खाता। मानवता के दर्शन सदा कंगाली में ही होते हैं।

दोनों भटकते हुये आगे बढ़ते और पिता के सिखाये हुये श्लोकों और स्तोत्रों को बोलते जाते थे—

विवादे विषादे प्रमादे प्रवासे जलेचानले पर्वते शत्रुमध्ये।
अरण्ये शरण्ये सदा मां प्रपाहि गतिस्त्वं गतिस्त्वं त्वमेका भवानी॥

दोनों स्तोत्र बोलते हुये चले जा रहे थे। अंधेरा हो गया था, महिपाल अब स्वयँ डरने लगा था, परन्तु चन्द्रा को हिम्मत से धैर्य देता जाता था—'डरना नहीं चन्द्रा!' 'परन्तु तू तो डर रहा है।' 'ना रे पगली! मैं क्यों डरूँ! मर्द कभी नहीं डरता। मैं मर्द हूँ—मर्द को डर किस बात का!' दोनों रामरक्षास्तोत्र बोलते हुये चले जा रहे थे।

इतने में दूर से दस–पन्द्रह बैल गाड़ियों का एक समूह आता दिखाई दिया। सार्थधर नाम का एक वैश्य व्यापार करके घर लौट रहा था। इतने मनमोहक बालकों को अकेले जंगल मे स्तोत्र बोलते हुये सुनकर उसको आश्चर्य हुआ और उसने चन्द्रा को गोद में उठाकर महिपाल को पूछा कि वे इस वन में अकेले क्यों हैं? महिपाल ने अपनी सारी कहानी उसे सुना दी। ऐसे तेजस्वी बालक की मधुर और निष्पाप वाणी को सुनकर उसने पूछा–'मेरे साथ चलोगे?' निराधार बच्चों ने सार्थधर की शरण स्वीकार कर ली। भगवान सबकी व्यवस्था पहिले से ही किये रखते हैं। मनुष्य नाहक धैर्य खोकर प्रभु के प्रति अपनी श्रद्धा ढीली कर लेता है।

चलते चलते ही बच्चों ने सार्थधर का मन जीत लिया। घर जाकर उसने अपनी पत्नी से कहा कि ये अच्छे माता–पिता की संस्कारी सन्तानें हैं। इनको रत्नों की तरह संभाल कर रखना। हमारे भाग्य से ही ऐसे संस्कारी बच्चे हमारे यहाँ आये हैं। इन्हें अपने ही बच्चे समझना।

अरुणोदय से पहिले ही ये दोनों भाई–बहिन उठते। स्नान, प्रार्थना कर सूर्य-नमस्कार करते और फिर सार्थधर तथा रत्नप्रभा को नमस्कार करते थे। उनको देखकर सार्थधर, उसकी पत्नी तथा बच्चे भी प्रातःकाल उठकर स्नान करते और उनके साथ प्रार्थना करने के लिये बैठने लगे। चन्द्रा नित्य संध्या समय तुलसी की क्यारी के पास दीपक जलाती और मधुर वाणी में '**दीपज्योति नमो नमः**' श्लोक बोलती थी सार्थधर की लड़की यदि आभूषणों के लिये हठ करती तो चन्द्रा कहती–'बहिन आभूषणों के लिये क्यों हठ करती है। हाथों का आभूषण तो दान है–'**हस्तस्य भूषणं दानं सत्यं कंठस्य भूषणम्।**' सार्थधर यदि कभी किसी पर क्रोध करता तो महिपाल कहता–'पिताजी! एक बात कहूँ–क्रोध करने से मनुष्य की आयु घटती है–'**क्रोधो हंता मनुष्याणाम्,**' इस प्रकार इन दोनों बच्चो के कारण सार्थधर के परिवार का सारा वातावरण बदल गया और वे दोनों सबके प्रेम–पात्र बन गये। उनका जीवन–सौरभ भी दिन प्रतिदिन विकसित होने लगा। जबसे इस घर में ये दोनो बच्चे आये, तबसे सार्थधर की श्रीवृद्धि भी होने लगी।

एक दिन तारापुर का मंत्री सार्थधर के यहाँ आया। उसने मंत्री के स्वागत–सत्कार का उत्तरदायित्व महिपाल के ऊपर सौंप दिया। महिपाल की सेवा शीलता, नम्रता, विनयशीलता और सुसंस्कारी मधुर वाणी से मंत्री महोदय अत्यन्त प्रभावित व आकर्षित हो गये। मंत्री ने सार्थधर से पूछा–'मित्र! बहुत समय से आपकी और मेरी प्रगाढ़ मित्रता है। आजतक मैंने आपसे कभी कुछ नहीं माँगा। परन्तु आज मैं आपसे एक याचना करना चाहता हूँ। क्या आप उसे स्वीकार करेंगे?' सार्थधर ने 'हाँ' करके कहा, 'यदि मैं आपके काम आ सका, तो यह मेरा सौभाग्य होगा।'

मंत्री महोदय ने कहा—' मुझे पुत्र-सुख नहीं है और इन बच्चों को पितृ-सुख नहीं है। इन दोनों को मुझे दे दीजिये, मैं इन्हें पितृ-सुख दूँगा और स्वयं पुत्र-सुख प्राप्त करूँगा। सार्थधर चौंक पड़ा। उसे स्वप्न में भी कल्पना न थी कि वे ऐसी याचना करेंगे।

सार्थधर ने कहा—' ये अति संस्कारी बच्चे हैं, इन्होंने मेरे घर की रौनक ही अनोखी कर दी है। ये मेरे प्राणों से भी अधिक प्रिय हैं। यदि आप मेरे प्राण लेना चाहें तो मैं उन्हें भी सहर्ष दे सकता हूँ, परन्तु इनको अपनी आँखों के सामने से अलग करने की कल्पना भी नहीं कर सकता। मैं अपनी सम्पूर्ण सम्पत्ति आपके चरणों में रख सकता हूँ, परन्तु इन्हें अपने से अलग नहीं कर सकता।'

मंत्री ने रत्नप्रभा से कहा—' भाभी! क्या इन बच्चों को अपने यहाँ ले जाऊँ!' उसने कहा—' यदि तुमको हमारे बच्चे चाहिये तो मैं देने के लिये तय्यार हूँ। परन्तु इन बच्चों को तो मैं बिलकुल नहीं दे सकती। इन्होंने तो हमारा जीवन ही बदल डाला है। हमारे घर को पवित्रता, तेजस्विता और संस्कारिता की सुगन्ध से महका दिया है। ये दोनों तो हमारे गुरू हैं।'

मंत्री महोदय तो यह सुनकर स्तब्ध हो गये। उन्हें इस बात की कल्पना भी नहीं थी कि ये अनाथ बालक अपने दिव्य संस्कारों के द्वारा इस घर में इतना महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त किये होंगे।

सार्थधर को दुःख हुआ कि वर्षों की मित्रता के पश्चात् मेरे मित्र ने याचना की और मैं उसे पूरा नहीं कर पा रहा हूँ, तथा दिये हुये वचन को भंग कर रहा हूँ। इन बच्चों का मेरे ऊपर बड़ा ऋण है, इसलिये अपने स्वार्थ के लिये मुझे उनके उज्ज्वल भविष्य में बाधक नहीं बनना चाहिये। मेरे साथ रहकर वे व्यापार ही करेंगे और ब्राह्मण-पुत्र को व्यापार में सफलता भी नहीं मिलेगी। मंत्री के यहाँ उनको यथोचित शिक्षा मिलेगी और उनकी प्रतिभा का यथोचित विकास होगा। अन्त में उसने चन्द्रा-महिपाल को मंत्री के यहाँ भेजने का निश्चय किया।

अपने बच्चों को अलग करने में जितना कष्ट होता है, उससे दस गुनी वेदना सार्थधर और रत्नप्रभाको इन को अलग करने में हुई। सार्थधर का पुत्र रोता है कि महिपाल को मत भेजो, पुत्री रोती है कि चन्द्रा को मत भेजो। सारा परिवार ही रोता है।

दूसरे दिन प्रातः सार्थधर और चन्द्रप्रभा को प्रणाम कर चन्द्रा-महिपाल विदा होने लगे। चारों प्राणी रुदन कर रहे थे। बड़ा ही हृदय विदारक दृश्य था—वह! सार्थधर महिपाल को और रत्नप्रभा चन्द्रा को बार-बार चुम्बन और आलिंगन करते थे। नौकर चाकर स्तब्ध थे। घर में सन्नाटा छा गया था। इस स्नेह-बन्धन को देखकर मंत्री महोदय अवाक् हो गये। उसका हृदय भी भर आया। उसने सार्थधर को

शान्त्वना देते हुये कहा—'भाई! रोओ नहीं, धैर्य धारण करो। मैं चन्द्रा–महिपाल को अपने प्राणों से भी अधिक प्यार करूँगा। उनकी हृदय–कली को कभी कुम्हलाने नहीं दूँगा।'

चन्द्रा–महिपाल ने सार्थधर और रत्नप्रभा को अंतिम प्रणाम किया और रथ पर बैठे गये। रत्नप्रभा का आर्तनाद नहीं रुका, उसकी देह सुन्न पड़ गई। उसे अपना घर सूना–सूना लगने लगा।

भगवान की लीला अपरम्पार है, उसके रहस्य को कोई नहीं जान सकता। मानव उसके हाथ की कठपुतली है। वह जैसे नचाता है वैसा नाचना पड़ता है। किसी कवि ने ठीक ही लिखा है—

जे चावींनुं जड रमकडुं नाचणारुं तुंज छे,
ते चावीने तुज कर लई फेरवी ना शके तुं।

जिस चाबी से तू जड़ खिलौने (जगत) का निर्माण करता है, उसी चाबी से क्या तू घुमा नहीं सकता?

मंत्री के घर आने पर चन्द्रा–महिपाल ने विद्याध्ययन आरम्भ किया और थोड़े ही समय में वे शस्त्र, शास्त्र और राजनीति आदि में निपुण हो गये। उन्होंने बौद्धिक सम्पदा के साथ–साथ शारीरिक सम्पदा भी प्राप्त की। प्रधान मंत्री की उत्कट इच्छा थी कि आगे चलकर महिपाल राज्य का मंत्री बने। इसलिये वह महिपाल को अपने जीवन का सर्वस्व समझकर शिक्षा देने लगा।

स्वस्थ एवँ सुदृढ़ शरीर के महिपाल की आँखों से विद्या और बुद्धि की आभा झलकती थी। उसकी तेजस्विता, शीलता और सुन्दरता को देखकर लोग सहज ही उसकी ओर आकर्षित हो जाते थे। मंत्री को भी उसके सामने अपना व्यक्तित्व हीन लगता था। परंतु पिता की तो यही इच्छा होती है कि उसका बेटा उससे सौगुना श्रेष्ठ हो।

एक दिन युवा महिपाल अपने मित्रों के साथ वन–विहार के लिये गया। मार्ग में राजा ताराधर्म की राजकुमारी कलावती भी अपनी सहेलियों सहित इस टोली के साथ मिल गई। सभी ने एक साथ बैठकर सहभोज किया। राजकुमारी महिपाल के सौन्दर्य, यौवन के सौष्ठव, तेज और प्रतिभा से उसकी ओर आकर्षित हो गई।

भोजन करते समय चतुर राजकुमारी ने राजनैतिक चर्चा छेड़ दी–'राजसत्ता की आवश्यकता क्यों है? क्या समाज स्वयँशासित नहीं रह सकता है?' महिपाल ने उत्तर दिया–'नियंत्रित राज्यसत्ता होनी ही चाहिये। नियंत्रण इसलिये कि सत्ताधारी मर्यादा का उलंघन न करे। जब तक जगत और समस्त समाज सात्त्विक और नैतिक नहीं बन जाता तब तक अनैतिक, आसुरी और समाज–कंटक लोगों को सुधारने के लिये शस्त्र

की आवश्यकता है।' राजकुमारी महिपाल के उत्तरों से पूर्ण सन्तुष्ट हुई और उसने मन से ही अपना हृदय महिपाल को अर्पित कर दिया। उसने निश्चय किया कि मैं दैवी संपत्ति, दैवी विचारों की रक्षा के लिये इसी महापुरुष के साथ शादी करूँगी। उसने महिपाल को पूछा–'आप यदि गृहस्थाश्रम स्वीकार करेंगे तो क्या उस समय मेरी सहायता लेंगे?'

महिपाल ने कहा–'मैं अपने को धन्य समझूँगा। परन्तु मैं ध्येय–निष्ठ हूँ। मेरा जीवनव्रत लोगों के जीवन को दिव्य और भव्य बनाने का है, वह भोग–विलास के लिये नहीं है। इसलिये मैं तुमको सुखी नहीं रख सकता। तुम मेरे साथ विवाह करने का साहस न करो।' राजा भी कलावती के लिये योग्य वर की ढूंढ में था, जब उसे यह विदित हुआ कि कलावती का आकर्षण महिपाल के प्रति है तो वह पसन्न हो गया।

दूसरे दिन वहाँ अश्व–विद्या की प्रतियोगिता थी। महिपाल अश्व–विद्या में प्रवीण हो गया था। इसलिये वह सबसे आगे निकल गया। भगवान की कृति का हेतु किसी को ज्ञात नही होता। महिपाल आगे आकर एक पेड़ के पास ठहर गया। प्रभु का वैचित्र्य! उसे एक पीले रंग के साँप ने डंस लिया।

महीपाल को तुरन्त राज–महल मे ले जाया गया। राजकीय वैद्य और हकीमों ने अनेक प्रयत्न किये, किन्तु उसका जहर नहीं उतरा। सभी शोक-मग्न हो गये। चन्द्रा भाई के सिरहाने बैठकर फूट–फूट कर रोने लगी। "भाई! तू ही मेरा एक मात्र सहारा था, जब पिताजी हमको छोड़कर गये थे तब तू कहता था–'चन्द्रा डरना नहीं, मैं तेरे साथ हूँ' अब तू क्या मुझे अकेली छोड़कर चला जायेगा?" बेहोश महिपाल उसे क्या कहे?

सम्पूर्ण गाँव ही शोक–मग्न था। सभी ने महिपाल के जीने की आशा छोड़ दी थी। इतने में फटे–पुराने वस्त्र पहिने हुये, लम्बी दाढ़ी वाला, आँखों में अद्भुत तेज लिये, थके वदन एक अजनबी व्यक्ति प्रधान मंत्री का घर पूछते हुये आँगन में आया। 'क्या बात है? क्या हो गया?' ऐसा कहते हुये वह निस्संकोच आगे बढ़कर महिपाल की चारपाई तक पहुँच गया। वह अपलक दृष्टि से महिपाल को देखते रहा, उसके नेत्रों से अश्रु–प्रवाह होने लगा। उसने एक जड़ी घिसकर महिपाल को सुंघाई और क्षण भर में उसका जहर उतर गया। महिपाल ने आँखे खोली। वह आतुरता से इस वयोवृद्ध की ओर देखने लगा, पर उसे पहिचान नहीं सका। वृद्ध कुछ भजन गुनगुनाने लगा। महिपाल ने भजन को पहिचाना और फिर भजन गाने वाले को पहिचानने में भी उसे देर नहीं लगी। 'पिताजी! आप!!' कहते हुये, वह उठ बैठा और पिता के चरणों में गिर पड़ा। चन्द्रस्वामी ने उसे हृदय से लगाकर अश्रु–जल से नहला दिया। चन्द्रा भी प्रणाम कर पिता की गोद में बैठ गई।

महिपाल को स्वस्थ देखकर मंत्री ने कहा—'आपने मेरे लड़के को जीवनदान दिया है, मैं आपका ऋणी हूँ।' चन्द्रस्वामी ने कहा—'मैंने तो नहीं, पर प्रभु ने मेरे ही लड़के को जीवनदान दिया है।' मैं उसको ढूँढने के लिये पागलों की तरह गाँव-गाँव भटकता था। मैंने गाँवों में देखा कि लोग भोगवादी हो गये हैं। स्वार्थ के लिये भगवान का भजन भी गाते हैं, प्रसाद भी बाँटते हैं। परन्तु भगवान के लिये किसी के हृदय में सच्चा प्रेम नहीं है। भगवान का कार्य करने के लिये किसी के पैरों में शक्ति नहीं, मस्तिष्क में विचार नहीं, सब तरफ अर्थ की ही प्रधानता है। लोगों का जीवन शुष्क और निस्तेज हो गया है। यह देखकर मैं रोता था कि यदि मेरा महिपाल मेरे साथ होता तो मैं इन गाँवों की शक्ल बदल डालता। एक दिन मैं ऐसे ही विचारों में तल्लीन और दुःखी होकर बैठा था। एक योगिनी ने आकर मुझे यह जड़ी दी और कहा—'तुम तारापुर के मंत्री के घर जाओ। वहाँ तुम्हें महिपाल मिलेगा। मैं दौड़ता-भागता यहाँ आया हूँ।'

मंत्री ने कहा—'आपके आने से मुझे परम हर्ष और आनन्द हुआ। परन्तु आज से मैं पिता नहीं रहा, इसका दुःख है।' महिपाल ने तुरन्त नम्रता पूर्वक कहा—'आप भी मेरे पिता ही हैं'—

जनिता चोपनेता च यश्च विद्यां प्रयच्छति ।
अन्नदाता भयत्राता पंचैते पितरास्स्मृता ॥

राजा ताराधर्म ने चन्द्रस्वामी को नमस्कार कर प्रार्थना की कि क्या वे उसकी लड़की को अपनायेंगे? जो चन्द्रस्वामी एक दिन राज्याश्रय से दूर भागते थे, आज स्वयँ राजा उनके चरणों में याचना करता है। यह सब प्रभु का खेल है। महिपाल की शादि कलावती के साथ हो गई। महिपाल राजा बना और उसने अपनी उत्कृष्ट बुद्धि, अमित पराक्रम और अद्भुत कर्तृत्वशक्ति से समस्त राज्य को ही सुसंस्कृत, सात्विक और दिव्य नहीं बनाया, बल्कि आसपास के समस्त राजाओं को एकत्रित कर समस्त भारत का मानचित्र ही बदल दिया।

भारत को नन्दनवन बनाकर यह सुसंस्कारी महामानव भगवान को मिलने चला गया और अपना अमर नाम और यश जगत में छोड़ गया।

* * *

महान भक्त त्यागराज

एक डो वर्ष पूर्व की बात है। रामब्रह्म नाम का एक गृहस्थ ब्राह्मण था। श्रीराम उसके उपास्य देव थे। वैभव-सम्पन्न राजा राम केउपासक ब्राह्मण के घर में कंगाली का राज्य था। उसकी पत्नी शांता सुशील, धार्मिक और पति-परायण थी। जन्म-जन्मान्तरों के पुण्य से ही ऐसी पत्नी मिलती है।

रामब्रह्म इतना कंगाल था कि कभी कभी चार-चार दिन तक उन्हें अन्न के दर्शन नहीं होते थे, फिर भी शांता हँसते चेहरे से ही सब निभा लेती थी। अन्न आता तो पति को खिलाकर स्वयं फाँका करती थी। गुड़ की डली के साथ पानी पीकर दिन निकाला लेती थी।

एक दिन रामब्रह्म भोजन कर रहा था। उसने शान्ता से पूछा-'आज कल तू मुझको तो भोजन कराती है, परन्तु स्वयं भूखी रहती है।' शान्ता ने कहा-'नहीं, नहीं, ऐसा कुछ नहीं है; आप शान्ति पूर्वक भोजन कर लीजिये।' 'नहीं आज हम दोनों एक सात भोजन करेंगे।' रामब्रह्म ने हठ किया।

वास्तव में खाना इतना नहीं था कि दोनों खा सके। घर में इतना अन्न ही नहीं था। यदि वह खाती है तो पति आधा पेट ही रह जायेंगे, इस भय से शांता आना-कानी करती है। पर पति को क्या उत्तर दे। वह जल्दी में कह बैठी-'मैंने भोजन कर लिया है।' स्वयं भूखी रहकर उसने पति को भोजन कराया। पति के तृप्त हो जाने पर मानो उसका पेट भर जाता था। ऐसी नारी केवळ भारतवर्ष में ही मिल सकती हैं। शांता ने अपने मन और प्राण को पति में विलीन कर दिया था। इसी प्रकार जब एक प्राणी दूसरे में मिल जायेगा, तभी भारतीय संस्कृति खड़ी होगी। यह प्रेम और त्याग से होता है। जब इस महान संस्कृति का उत्थान होगा तो उसमें भारतीय नारी का बहुत बड़ा हिस्सा होगा।

रामब्रह्म समझ गये कि शान्ता ने अन्नाभाव से भोजन नही किया। उसने कहा— 'शान्ता ! तूने झूठ कहा है। तू मुझको छोड़कर पहिले भोजन कर ही नहीं सकती। मैं भोजन करूँ और तू भूखी रहे, मैं इसे सहन नहीं कर सकता। इसलिये एक दिन भोजन तू कर और एक दिन मैं करूँगा। विवाह के दिन हम दोनों ने अग्नि के सम्मुख शपथ ली थी—'**धर्मेच अर्थेच कामेच नाति चरामि नाति चरामि**' इसलिये तुम्हें भूखा रखकर मैं भोजन करता हूँ। इससे मैं अवश्य ही पाप का भागी बनूँगा।'

कंगाली में भी एक प्रकार की भव्यता है। वहाँ भाव और प्रेम का उद्भव होता है। परन्तु जहाँ धन आता है वहाँ प्रेम टूटने लगता है। फिर भले ही वह पति—पत्नी का प्रेम हो अथवा भाई—भाई का !

पति—पत्नी दोनों परस्पर प्रेम की ऊष्मा में अपनी कंगाली के दिन व्यतीत करते थे। प्रभु-कृपा से कंगाली की इस बगिया में दो पुत्र—पुष्प खिल गये। एक का नाम था जयेश और दूसरे का रामनाथ।

अब इस ब्राह्मण दम्पत्ति का अधिकांश समय इन दोनों शिशुओं के पालन पोषण तथा उनकी बाललीला का आनन्द लेने में व्यतीत होता था। ज्यों ज्यों बालक बडे हुये उनकी बुद्धि खिलने लगी। परन्तु रामब्रह्म को मालूम होने लगा कि दोनों में भक्ति का अभाव है। पुत्र के लक्षण पालने से ही मालूम पड़ने लगते हैं।

भक्तिहीन बालकों को देखकर पति—पत्नी को लगता था कि भगवान ने ऐसे बालक क्यों दिये ? वे भगवान के किस काम आयेंगे ? वे बड़े होंगे, शादी करेंगे, बाल—बच्चे होंगे और वृद्ध होकर मर जायेंगे। यह कौन सा जीवन है ? मानव जीवन पाकर यदि प्रभु का कार्य नहीं किया तो उस जीवन की क्या उपयोगिता है ? फिर मनुष्य और पशु के जीवन में अन्तर ही क्या रहा ?

शान्ता अपने आराध्य देव त्यागराज के पास गई और बोली—'भगवान ! तूने मुझे भाव तो बहुत दिया है, परन्तु बुद्धि और धन नहीं दिया, जिससे मैं तेरा काम कर सकती और तेरे उपयोगी बन सकती। प्रभु ! मुझे ऐसा पुत्र दे, जो तेरा कार्य कर सके। मैं उसे अपने रक्त से पालूँगी, उस में तेरे कार्य करने की प्रेरणा भरूँगी और उसे तेरे ही चरणों में अर्पण कर दूँगी।'

भगवान ने उसकी प्रार्थना सुनली। शांता का एक और पुत्र हुआ। उसका नाम त्यागराज रखा गया। उसके जन्म से ही घर के दिन बदलने लगे। घर में जब नारायण का भक्त आता है तो लक्ष्मी भी आती है। रामब्रह्म और शांता सुखी जीवन व्यतीत करने लगे।

पहिले दो पुत्रों को शांता ने वात्सल्य—प्रेम से पाला था। परन्तु त्यागराज तो उसे प्रभु—प्रसाद के रूप में मिला था। इसलिये उसका लालन—पालन करते समय वह

विचार करती थी कि वह भगवान की सेवा कर रही है। अतः उसके साथ की बाल-लीला उसकी भक्ति बन गई थी।

आठ वर्ष की अवस्था में त्यागराज का उपनयन संस्कार हुआ और उसे गुरु के पास विद्याध्यन के लिये भेज देने का निश्चय हुआ। इस दिव्य बालक के विछोह की कल्पना से माता-पिता को महान दुःख हुआ। परन्तु कोई चारा न था। बेटा पैदल कैसे जायेगा, किसकी बग्घी माँगे? तपोवन में वह अपने कोमल करों से कैसे रसोई बनायेगा, जूठे बर्तन साफ करेगा, स्वयँ कपड़े धोयेगा? कौन जानता है, जब पच्चीस वर्ष का त्यागराज तपोवन से लौटेगा तो मै जीवित भी रहूँगी या नही? इस कल्पना से शांता को रात भर नींद नहीं आई। वह सोये हुये बेटे के मुँह को निहारती और उसके बालों को सहलाती थी। उसकी आँखों से दो अश्रुकण त्यागराज के कोमल कपोलों पर गिर पड़े। वह सहसा उठ बैठा और माता को रोते हुये देखकर बोला- "माँ! तू क्यों रो रही है? मैं तपोवन में जा रहा हूँ, इसलिये? तो मुझे नहीं पढ़ना है। तुझे रुलाकर विद्या पढ़ने से क्या लाभ? माँ! मैं नहीं जाऊँगा... नहीं...।" त्यागराज ने हठ किया।

पुत्र को गले से लगाकर शांता ने कहा- "नहीं बेटा! मेरे आँसू इसलिये नहीं आ रहे हैं। खुशी के भी आँसू आते हैं। जब तू विद्वान बनकर तपोवन से लौटेगा, सर्वत्र तेरी कीर्ति फैलेगी, तेरा गुण-गान होगा और हर व्यक्ति के मुँह पर तेरा नाम होगा, इस आनन्द की कल्पना से मेरे आँसू आये हैं।" शांता की आँखे अब दूर भविष्य देखने लगीं।

'परन्तु माँ! मुझे अपने पास रखकर पढ़ाओ न!' नन्हा सा त्यागराज माँ के हृदय की व्यथा को समझ गया था। 'बेटा! लड़का माँ-बाप के निकट रहकर पढ़ नहीं सकता। माता-पिता के लाड़-प्यार से वह बिगड़ जाता है। उसकी जीवन-निष्ठा समाप्त हो जाती है। विद्याध्ययन के लिये गुरु-गृह में ही जाना चाहिये। बेटा! गुरु के पास रहकर खूब पढ़ना, अच्छा बनना, सबसे मिलकर प्रेम से रहना। तेरे पिताजी की वृत्ति और भाव सुन्दर हैं। वे परिस्थितिवश विद्याभ्यास नहीं कर सके। अविद्या प्रभु कार्य में बाधक होती है। इसलिये मेरे लाल! तू खूब विद्वान बनना। गुरू का प्रेम अर्जन करना, उनकी सेवा करना और जिस प्रकार मुझसे हठ करता है; वैसा गुरु से नहीं करना!' इस प्रकार पुत्र को उपदेश देते-देते शांता का हृदय भर आया उसने बेटे को छाती से लगा लिया।

अगले दिन रामब्रह्म रामबेला में त्यागराज को उठाकर भगवान के मन्दिर में ले गया। उसने भगवान को नमस्कार किया। माँ के हाथ में एक तश्तरी पर एक छोटा सा घृत-दीप और रोली थी। भगवान की पूजा कर वह

अपने हृदय के टुकड़े की मंगल कामना करती थी। त्यागराज ने माता को प्रणाम किया और उसके दोनों पैर पकड़ लिये। उसकी आँखें मातृ–वियोग से छलक पड़ीं। वह समझ गया था कि अब उसे वर्षों तक माँ का लाड़–प्यार नही मिलेगा। माँ की आँखों से भी गंगा–यमुना बह रही थी। उसने साड़ी के छोर से अपने आंसुओं को पोंछा और बार–बार आलिंगन कर त्यागराज को विदा दी।

तपोवन की ओर प्रस्थान करने से पूर्व त्यागराज ने कहा–'मैं अच्छा बनूँगा और तपोवन में अच्छी तरह से रहूँगा, तू चिंता मत करना। मां! मैं नित्य शाम को तुझे याद करूँगा, तू भी मुझे याद करना माँ!' त्यागराज ने अपनी सरल बाल–भाषा में माँ को सान्त्वना दी। पिता ने भी अपने आँसू पोंछते हुये त्यागराज का हाथ पकड़ा और शांता से विदा ली।

रामब्रह्म ने त्यागराज को अपनी बगल में लेकर कहा–'बेटा! मैं अनपढ हूँ। तू खूब पढ़ना, विद्वान बनना। हमारे कुल में जो कमी रह गई है, तू उसे दूर करना। तू संगीत का अध्ययन करना। संगीत के द्वारा तू अपनी विद्या को सामान्य लोगों तक सरलता से ले जा सकेगा। भगवान ने भी गीता में कहा है–'वेदानां सामवेदोऽस्मि।'

रामब्रह्म ने तपोवन में जाकर बेटे को गुरु के चरणों में अर्पित करते हुये कहा–'गुरुदेव! आज से यह बालक आपका है।' 'बेटा! खूब अध्ययन करना, सगीत पढ़ना और अच्छा बनकर रहना' पुत्र को इतना कहकर उसने आश्रम से विदा ली। जिस प्रकार लड़की को ससुराल भेजते समय माता–पिता को दुःख होता है, उसी प्रकार पुत्र को तपोवन में भेजने में भी होता है।

इस देश में बालक को अल्पायु में ही तपोवन में रखने की परम्परा थी। बालक चौदह वर्ष तक गुरु के पास अध्ययन कर युवान बनकर ही वापस लौटता था। गुरु जो पढ़ाता, वही शिष्य पढ़ता था। गुरु को शिष्य के अन्तःकरण, बुद्धि, रुचि और ग्रहणशीलता की जानकारी हो जाती थी, इसलिये तदनुसार ही वे शिष्य को पढ़ाते थे। त्यागराज संगीत पढ़ना चाहता था, परन्तु गुरु से कैसे कहे?

आज शिक्षा–पद्धति विपरीत है। लोग अपनी वित्तशक्ति का तीन चौथाई अपने बच्चों की शिक्षा पर व्यर्थ व्यय कर देते हैं। लड़के की बौद्धिक क्षमता, रुचि और रुझान के अभाव में भी उसको विज्ञान वर्ग में रखने के लिये पिता–पुत्र दोनों प्रधानाचार्यों से अनुनय-विनय करते हैं। इससे पिता का पैसा और पुत्र का समय निरर्थक जाता है और विज्ञान–वर्ग का एक स्थान व्यर्थ में घिर जाता है, जिसके कारण योग्य लड़के को भी स्थान नहीं मिल पाता। जिस विषय को पढ़कर अधिक पैसा मिले, उसे

पढ़ाना या पढ़ना आज शिक्षा का मूल उद्देश्य बन गया है। फलतः शिक्षा का सुन्दर परिधान सड़ी-गली साड़ी जैसा हो गया है।

त्यागराज चतुर, प्रतिभावान और प्रज्ञावान विद्यार्थी था। उसने अपने नम्र और मिलनसार स्वभाव से अपने सहपाठियों और गुरु के हृदय को भी जीत लिया था। वह नित्य संध्या समय एक पहाड़ी पर जाता और अपनी माँ की काल्पनिक मूर्ति आँखों के सामने खड़ी कर स्तोत्र गाने लगता था। उसके कण्ठ मे मधुरिमा और हृदय में भाव था। उसकी स्वर-लहरी में ताल, स्वर या अलाप थे या नहीं ? परन्तु उसमें एक निष्पाप हृदय-तंत्री की मधुर झंकार थी।

एक दिन कुलपति घूमते हुये उधर से निकले और उन्होंने इस मधुर संगीत को सुना। पूछताछ करने पर उन्हें ज्ञात हुआ कि वह मधुर गायक त्यागराज था, तो गुरू ने बड़े प्रेम से उसके मस्तक पर हाथ फेरकर उसे आशीर्वाद दिया और उसी दिन से उसे संगीतशास्त्र पढ़ाना भी प्रारम्भ कर दिया।

विद्या खरीदकर नहीं मिलती, उसे परिश्रम-पूर्वक प्राप्त किया जाता है। त्यागराज ने अल्पकाल मे ही सम्पूर्ण विद्या प्राप्त करली। वह जानता था विद्या, सरस्वती माता है, उसकी उपासना की जाती है, उसका व्यापार नही किया जा सकता, उसकी गोद में बैठकर जीवन-विकास किया जाता है। त्यागराज सुयोग्य सारस्वत बनकर तपोवन से बाहर निकला।

घर मे माता को छोड़ते हुये जो स्थिति होती है, वही स्थिति तपोवन में गुरु को छोड़ते हुये होती है। परन्तु आज भाव-जीवन ही समाप्त हो गया है, हमको इस भावपूर्ण जीवन की कल्पना भी नही हो सकती। गुरु-शिष्य का सम्बन्ध माँ बेटे का सम्बन्ध है। गुरु प्रातःकाल शिष्य के सर पर हाथ फेरते हुये प्यार से कहता है-" तुझे महान बनना है और तू अभी तक सो रहा है ? उठ खड़ा हो ! " कितना गहरा प्यार भरा है इन शब्दों में ! आज स्थिति विपरीत है। लड़के को पढ़ना हो तो पढ़े और सोना हो तो सोये। गुरु की बला से !

गुरु तपोवन में आने वाले विद्यार्थी को मात्र विद्यार्थी नहीं समझते थे। वे उन्हें भगवान समझकर प्रेम देते थे। बारह-चौदह वर्ष गुरु के सान्निध्य में मातृवत् प्रेम से रहने के पश्चात् बिछुड़ने का दृश्य कितना कारुणिक और हृदय-विदारक होता है, शब्दों से उसका वर्णन नहीं किया जा सकता। उसकी अनुभूति लेने के लिये शिष्य बनकर स्वयं तपोवन में जाना चाहिये।

गुरु-शिष्य दोनों को एक दूसरे से बिछुड़ने की कल्पना से रात भर नींद नहीं आई। प्रातः त्यागराज ने गुरु को भारी हृदय से अंतःकरणपूर्वक नमस्कार कर आश्रम से विदाई ली। गुरु ने भी उसी प्रकार भरे कण्ठ से आशीर्वाद देकर त्यागराज को विदा किया।

त्यागराज ने घर जाकर माता पिता को भावपूर्वक नमस्कार किया। विद्वान एवं तरुण पुत्र को देखकर माता–पिता हर्षित हो गये। दोनो ने अपने जीवन को कृत-कृत्य अनुभव किया। त्यागराज के जीवन में विद्या और भक्ति दोनों थीं पिता ने पार्वती नाम की एक सुयोग्य कन्या के साथ उसका विवाह कर दिया। अब माता-पिता को पूर्ण समाधान हो गया था। इसलिये दोनों निश्चिंत होकर वानप्रस्थ जीवन बिताने के लिये तपोवन में चले गये।

अल्पकाल में ही पार्वती का निधन हो गया। पार्वती के जाने से त्यागराज को लगा कि माता–पिता वानप्रस्थी बन गये, दोनों भाई भोगवादी हैं, यही एक प्रेम तंतु का बंधन था, वह भी भगवान ने हटा दिया है। अब वह मुक्त है। केवल भगवान के साथ के प्रेम तंतु से जुड़ा है। उसने गुरु के पास जाकर कहा कि वे उसे अपनी सेवा में ले लें।

गुरु ने उसे दूसरी शादी करने की आज्ञा दी। उन्होंने कहा– "अविवाहित व्यक्ति को समाज में नहीं रहना चाहिये। सामाजिक दृष्टि से यह अनुचित ही नहीं, समाज के लिये भयंकर भी है। फिर जिसको प्रभु-कार्य करना है, उसका जीवन संशयशून्य होना चाहिये। जितना निःसंशयी जीवन होगा, उतना अधिक प्रभु-कार्य होगा। वैवाहिक जीवन विकारों से व्यक्ति की रक्षा करने में किले का कार्य करता है। सामाजिक और आध्यात्मिक दोनों प्रकार के जीवन जीने के लिये विवाह करना अत्यावश्यक है। यह वैदिक परम्परा है।

गुरु की आज्ञा से त्यागराज ने कमलांगना नाम की कन्या से विवाह किया, परन्तु संसार करना उसका लक्ष्य नही था, उसके पास विद्या और भक्ति दोनों थी, वह राजमान्य पण्डित बन सकता था, लेकिन उसने राज्याश्रय ग्रहण नहीं किया।

एक दिन दोनों भोगवादी भाइयों ने उसे घर से प्रथक कर दिया और पूछा– 'तुझे क्या चाहिये ?' उसने कहा–'माता पिता श्रीराम की उपासना करते थे, मुझे श्रीराम की मूर्ति दे दीजिये।'

सम्पूर्ण जायदाद को त्यागकर पति–पत्नी श्रीराम की मूर्ति और सितार को ले कर चल दिये। कमलांगना भी पति को पहचान गई थी, इसलिये वह भी पति के साथ साधक का जीवन व्यतीत करने लगी।

एक दिन दोनों घूमते–घूमते योगानन्द के आश्रम में आये। उनका भक्तिमय पावन जीवन देखकर उन्होंने प्रार्थना की कि वे उन्हें ऐसा मंत्र प्रदान करें, जिससे भगवान के दर्शन हो जाँय।

योगानन्द ने कहा–' जिस राम का तू उपासक है, उसके नाम के एक करोड जप कर।' त्यागराज ने उनके वचनों पर श्रद्धा रखकर एक करोड नाम–जप करने का संकल्प किया।

योगानन्द उसके संकल्प को समझ गये। इसलिये उसे वापस बुलाकर पूछा- 'क्या करना है कुछ समझ में आया?' 'राम-नाम का जप करूँगा' त्यागराज ने उत्तर दिया।

योगानन्द ने कहा-'त्यागराज! तू विद्वान, बुद्धिमान और प्रज्ञावान है। तूने नाम-जप का इतना हलका अर्थ लिया है? एक करोड़ नाम-जप का अर्थ है-एक करोड़ लोगों को राम का नाम देना अर्थात् उनको राम की ओर उन्मुख करना। आज मानव कमाता, खाता, सोता और पशु की तरह मर जाता है। जो भगवान उसके सम्पूर्ण जीवन को चलाता है, उसको वह भूल गया है। ऐसे प्रभु-विमुख लोगों को प्रभु की ओर मोड़ो, उन्हें समझाओ कि वे खाते, सोते, जागते तथा अन्य कृति करते समय भगवान का स्मरण करें। यही सच्चा नाम जप है।'

त्यागराज और कमलांगना ने घर-घर जाकर वीणापर प्रभु-गुण गाकर पशु-जीवन जीने वाले लोगों को मानव जीवन जीना तथा राम-नाम लेना सिखाया। उसके जीवन में त्याग, भक्ति और संगीत था, अब कर्मयोग भी जुड़ गया। इसीलिये ऐसे प्रभु-भक्त को बयालीस वर्ष की अवस्था में वाक्-सिद्धि प्राप्त हो गई। परंतु उसने क्षणभर में उसे प्रभु चरणों में रख दिया। उसने कहा-'प्रभु मुझे सिद्धि नहीं चाहिये। मुझे अपने चरणों में स्थान दीजिये।'

भगवान राम को लगने लगा—जिसके जीवन में विद्या, बुद्धि, भक्ति, संगीत और प्रभु-कार्य की निष्ठा है तथा जिसने एक करोड़ लोगों के जीवन को बदला है, उसको वाचा-सिद्धी मिली तो वह भी उसने मेरे चरणों में रख दी है। इसलिये मैं कब इस महान भक्त को मिलूँ? उसका आलिंगन करूँ?'

एक दिन त्यागराज भगवान राम की मूर्ति को हृदय में धारण कर ध्यान में बैठा। उसकी समाधि लग गई, उस समय सम्पूर्ण जगत विस्मृत हो गया। भगवान राम ने उसी अवस्था में उसे दर्शन दिये किन्तु आँखें खोलते ही वह मूर्ति अदृश्य हो गई।

त्यागराज व्याकुल हो गये, उन्होंने आर्तनाद से पुकारा-'प्रभु! करुणा सागर!! आप असीम कृपा कर आये थे, पर आपके चरण-रज मेरी झोंपड़ी में नहीं पड़े। मैं अभागा प्रत्यक्ष दर्शन नहीं कर सका।' त्यागराज विह्वल हो उठा, इसी समय एक वयोवृद्ध व्यक्ति उसके द्वार पर आया।

'मैं भूखा हूँ कुछ मिलेगा क्या?' वृद्ध ने कहा।

'आप क्या लेंगे?' त्यागराज ने निवेदन किया।

'मैं भजनों का भूखा हूँ, तुम्हारा कण्ठ अति मधुर है, कुछ सुनकर कृतार्थ होना चाहता हूँ।' त्यागराज ने कहा- कण्ठ तो नर्तकी का भी मधुर होता है। परन्तु वृद्ध को मान और सान्त्वना देने के लिये उसने गाना प्रारम्भ किया।

'प्रभु ! आप इस अभागे के द्वार पर कितने प्रेम से आये होंगे ! परन्तु मैं आपको बैठने के लिये आसन भी न दे सका।' ज्यों-ज्यों वृद्ध भजन सुनने में तल्लीन होता, त्यों-त्यों त्यागराज भजन में भाव व प्रेम बढ़ाता जाता था। भजन समाप्त हुआ। त्यागराज ने मन में भगवान को नमस्कार किया और आँखें खोली तो वृद्ध अदृश्य हो गया था। दोपहर से प्रतीक्षा करते-करते संध्या हो गई, किन्तु वृद्ध वापस नहीं आया। भोजन की प्रतीक्षा करते हुये त्यागराज सो गया।

नारदजी ने त्यागराज को स्वप्न में आकर कहा-"लोग जिसकी वीणा सुनने को आतुर रहते हैं, मैं वह नारद हूँ। मैं ही तेरे घर पर वृद्ध के वेष में आया था। तेरा संगीत सुनकर मैं प्रसन्न हुआ हूँ! परन्तु त्यागराज! तू अपनी वाणी को तेजस्वी रख, तेरी वाणी रोती हुई नहीं होनी चाहिये। रोते तो मूर्ख और दुर्बल मनुष्य हैं। तेरे संगीत में अलौकिक माधुर्य है, पर दिव्य तेज नहीं है। मै तुझे कुछ देना चाहता हूँ, पर तुझ जैसे भावपूर्ण संगीतकार को क्या दूँ? यही मेरे सामने समस्या है।" अंत में नारदजी ने कहा-"मैं तुझे '**स्वरार्णव**' की पुस्तक प्रदान करता हूं, इसमें स्वर की भाषा दी गई है।"

'इस पुस्तक के फलस्वरूप त्यागराज ने स्वर में अद्वितीय क्रांति की है। उसने नया ताल, स्वर, लय और नया रंग भरकर स्वरशास्त्र को एक नई दिशा और नया ही वेग प्रदान किया है।

उस काल में शरात्मज नाम का एक सात्विक और ईश्वर-भक्त राजा था। उसके पास अतुलित वैभव था। उसे सद्कार्य में व्यय करने की समस्या राजा को घेरे बैठी थी। उसके कानों में त्यागराज की कीर्ति के समाचार पहुँचे। उसने त्यागराज को ससम्मान राजदरबार में आने का निमंत्रण दिया। त्यागराज ने उत्तर दिया-"राजन्! मुझे मान सम्मान की अपेक्षा नहीं है। मुझे आपके दरबार में नहीं रहना है। यदि दरबार में ही रहना हो तो भगवान रामचन्द्र के दरबार में रहूंगा।"

राजा समझ गया कि त्यागराज सामान्य पंडित या भक्त नहीं है, कोई महान संत है। जिसे भौतिक सुख-सम्पत्ति और सम्मान की अपेक्षा नहीं है। परंतु त्यागराज के दोनों भोगवादी भाइयों को यह बात नहीं रुची। जयेश और रामनाथ दोनों उससे नाराज हो गये। उन्होंने उससे राम की मूर्ति छीन कर कहा-"बड़ा भगत बना है! राजा दरबार में बुलाता है और तू ठुकराता है।" त्यागराज के नाम पर राज्य-वैभव और राज्य-सुख लूटने के उनके मनोरथों पर पानी फिर गया था।

त्यागराज और कमलांगना मधुर स्वर लहरी में प्रभु गुण-गान करते और वीणा

चलाते हुये तीर्थयात्रा करने निकल पड़े। घूमते घूमते वे पूर्व दिशा में वेंकटेश्वर के मंदिर में आ गये।

जिसने करोड़ों लोगों के जीवन को बदला, रोते हुओं को हँसना सिखाया, पशु-जीवन जीने वालों को दिव्य मानव-जीवन का दर्शन दिया, जिसके संगीत को सुनकर देवर्षि नारद ने अपने को धन्य समझा, जिसकी भक्ति, विद्वता और तेजस्विता को देखकर भगवान रामचंद्र स्वयँ मिलने गये, उस महान भक्त को वेंकटेश्वर मंदिर का पुजारी नहीं पहिचान सका। उसे पहिचानने के लिये उसके पास दिव्य-चक्षु नहीं थे।

मंदिर के दरवाजों पर पर्दे पड़े थे। भगवान के दर्शन बन्द थे, पुजारी पर्दा हटाकर इस भक्त को दर्शन कराने के लिये तैयार न था।

त्यागराज भगवान के दर्शनों के लिये आतुर था। उसने आर्तस्वर में पुकारा-"भगवान! जब मेरे और आपके बीच में कोई पर्दा नहीं रह गया है, तब यहाँ यह पर्दा कैसे?" इतना कहते ही मंदिर के पर्दे खुल गये और त्यागराज तथा कमलांगना ने भगवान वेंकटेश्वर के दर्शन किये।

करोड़ों लोगों के जीवन में समरस बनी कमलांगना एक दिन अपना नश्वर शरीर छोड़कर चली गई तथा पौष वदी पंचमी के दिन यह महान कर्मयोगी भक्त भी अपनी जीवन-लीला समेट कर भगवान राम के चरणों में लीन हो गया।

जिस प्रकार इस भक्त ने राम-नाम के बल से अनन्त पत्थर-जीवनों को पार लगाया, उसी प्रकार हम भी अपने पत्थर के समान नीरस व बोझिला जीवन को भगवान के सहारे पार ले चलें, प्रभु हमें ऐसी शक्ति दें।

मातृदेवो भव । पितृदेवो भव । आचार्य देवो भव ।

माता, पिता और आचार्य को देव समझने वाली इस भव्य भारतीय संस्कृति का जितना गुणानुवाद गाया जाय, उतना कम ही है । परन्तु इस कराल काल में जहाँ भौतिकवाद के प्रवाह में व्यक्तवादी, भोगवादी तथा स्वार्थपरायणता का तांडव नृत्य हो रहा है, वहाँ मानव जीवन में इन दिव्य और उदात्त विचारों के लिये स्थान ही कहाँ है ?

कदाचित् कुछ संस्कारी परिवार अपने बालकों में '**मातृदेवो भव ! पितृदेवो भव ! आचार्यदेवो भव !**' के विचारों का चिंतन करते भी होंगे, परन्तु समाज के विचारवान और तथाकथित शिक्षित वर्ग इस ऊहापोह में हैं कि इन विचारों को सामाजिक प्राधान्य दिया जाय या नहीं ? इन बुद्धिवादी लोगों के बहरे कानों मे माता-पिता के वात्सल्य की आतुर धड़कन कहाँ से और कैसे पहुंचे ? इसी प्रकार भोग-जीवन को ही सर्वस्व समझने वाले पशु तुल्य भोगवादी लोगों में पुत्र के दिव्य और भव्य स्नेह की अनुभूति लेने की शक्ति कहाँ है ?

आज से पचास-साठ वर्ष पूर्व की एक सत्य घटना है । रत्नागिरि जिले में राजापुर नाम के एक छोटे से गाँव में एक ब्रह्मवृत्ति (पुरोहिताई) करने वाला ब्राह्मण रहता था, जो सत्यनारायण की कथा बाँचकर अपने तीन व्यक्तियों के सीमित परिवार का योग-क्षेम चलाता था । उसकी छोटी सी झोंपड़ी के चारों ओर एक छोटी सी बगिया थी, जिसमें पाँच-चार नारियल, इतने ही सुपारी और एक-दो आम के पेड़ थे । इन पेड़ों से ब्राह्मण परिवार को बहुत बड़ा प्रेम था । ब्राह्मण अपनी पुरोहिताई से बचे हुये समय को उनकी देखभाल में व्यतीत करता था ।

ब्राह्मण का अत्यन्त चतुर और कुशाग्र बुद्धि वाला एक मात्र पुत्र था । वह अपने माँ-बाप की आँख का तारा था । माँ उसे प्रेम से राजा कहती थी । परन्तु राजसी वैभव के स्थान पर कंगालियत ही उनका वैभव था । पिता की इच्छा थी कि उसका बेटा खूब पढ़-लिखकर बड़ा आदमी बने, सर्व-मान्य बने और खूब नाम कमावे ।

माँ भी कहती थी कि मेरा राजा कलट्टर (कलक्टर) बनेगा । उसका बंगला, गाड़ी और नौकर-चाकर होंगे, खूब रुपया कमायेगा और हमारे दुःख के दिन चले जायेंगे । वह सुनहरे स्वप्नों में खो जाती थी । प्रत्येक माँ-बाप की यही कामना होती है ।

पिता कहता था—'अरी ! अभी उसे मैट्रिक तो हो लेने दे ।' और उसे स्वप्नों की दुनिया से वास्तविकता की भूमि पर ले आता था । लक्ष्मण अपनी छोटी सी बगिया को सींचते हुये बेटे से कहता—'राजा ! वृक्ष हमारे जीवन हैं, तू उनके पास बैठेगा तो वह तुझे जीवन का गांभीर्य समझायेंगे । उनके पास बैठना और निसर्ग का आनन्द लेना चाहिये । पेड़ों को पानी पिलाये बिना खाना नहीं खाना चाहिये । न जाने कब मेरी आँखें बन्द हो जाँय, इसलिए तुझे पहिले से ही समझा रहा हूं ।'

अशिक्षित पिता ने एक आम के वृक्ष की ओर उंगली करते हुये कहा— 'बेटा ! आज से लगभग तीस वर्ष पूर्व मेरे पिता ने जिस समय मै तेरी ही उम्र का था, एक आम की गुठली बोई थी, जिसने पत्थरों को तोड़कर भूमि मे अपनी जड़ों को मजबूत किया । वर्षा, आंधी, तूफान आदि अनेक मुसीबतों और संकटों के विरुद्ध सतत संघर्ष कर एक विशाल वृक्ष का रूप धारण किया है । आज वह थके हुये श्रांत मानव को अपनी घनी छाया में आश्रय और खाने के लिये मधुर फल देता है और किसी से धन्यवाद की अपेक्षा भी नहीं करता । तुझको भी बड़ा बनने तथा दूसरों को छाया और आश्रय देने के लिये संकटों से जूझना पड़ेगा, मुसीबतों का सामना करना पड़ेगा और निरपेक्ष भाव से अचल रहना पड़ेगा । बेटा ! भूखे को अन्न और प्यासे को पानी पिलाना ।' नन्हा राजा अपने अशिक्षित पिता की जीवन का मर्म समझाने वाली प्रेरक वाणी को एकाग्र होकर सुनता था ।

माँ जब भगवान की पूजा के लिये राजा के साथ फूल चुनने जाती, तो कहती थी—'बेटा ! अधखिली पुष्प-कलियों को नहीं तोड़ना । उनका पूर्ण विकास होने पर ही उनका सौन्दर्य खिलता है और वे सौरभ बिखेरती हैं । राजा ! जिस प्रकार अध खिली कली में सौन्दर्य और सुवास नहीं होता, उसी प्रकार अधूरा काम और अधूरा शिक्षण भी सफल नहीं होता, उसमें सुवास नहीं आती । इसलिये जिस काम को हाथ में लेना उसे पूर्ण करके ही छोड़ना ।'

'राजा बेटा ! जिस प्रकार फूल का पौधा फूल को पाल-पोस कर, विकसित कर भगवान की पूजा के लिये अर्पण करता है, उसी प्रकार माँ भी बेटे को लाड़-प्यार से पाल-पोष कर जगत की सेवा के लिये अर्पण करती है । इसलिये तू बड़ा और महान बन कर अपने जीवन की सुवास जगत में फैलाना और अपने जीवन को मानव समाज की सेवा में लगाना ।' इस प्रकार से माँ अपने प्यारे राजा में संस्कारों का सिंचन करती थी ।

कंगालियत से जूझते हुये किसी प्रकार से राजा का प्राथमिक शिक्षण समाप्त हुआ। माध्यमिक शिक्षा के लिये रत्नागिरी जाना पड़ता था। वहाँ के लिये पैसा चाहिये। गरीब परिवार के सामने यह एक बड़ी समस्या खड़ी हो गई।

एक दिन रात्रि को राजा सोया हुआ था, ब्राह्मण-ब्राह्मणी उसकी शिक्षा के बारे में चिंतातुर थे। माँ सोये हुये राजा के सर पर हाथ फेरती और उसके भोले-सलोने मुख को वात्सल्य प्रेम से एकटक देख रही थी। उसने ब्राह्मण से कहा-"चाहे हमें अपने पेट पर पट्टी बांधनी पड़े, पर राजा को रत्नागिरी की पाठशाला में भेजना ही है। हम एक समय भोजन करके पैसा बचायेंगे और उसके लिये खर्च भेजेंगे।" ब्राह्मण की भी यही इच्छा थी। इसलिये राजा को रत्नागिरि माध्यमिक पाठशाला में भेजने का निर्णय कर ब्राह्मण-दम्पत्ति सो गया।

दूसरे दिन ब्राह्मण एक बैलगाड़ी तथा थोड़े-बहुत रुपयों की व्यवस्था कर रत्नागिरी जाने के लिये तैयार हुआ। भीगी हुई आँखों से माँ राजा को समझाने लगी-"बेटा! खूब पढ़ना और सावधानी से रहना।" माँ ने उसको छाती से लगा कर आशीर्वाद दिया। राजा ने भी माँ के चरण स्पर्श किये और विदा ली। पिता भगवान को स्मरण करते और विघ्नहर्ता गणपति के स्तोत्र गाते हुये पुत्र को साथ लेकर विदा हुआ।

काल अपनी अविरत गति से चलता रहता है। राजा मई मास में ग्रीष्मकालीन अवकाश पर घर आया। माता-पिता आनन्द और उल्लास से भर गये। ग्यारह महीने से उन्होंने कोई त्योहार नहीं मनाया था। राजा के आने पर पहली बार घर में मिष्टान्न भोजन बना। माता सारे महीने कुछ न कुछ नई बानगी बनाकर अपने राजा को खिलाती रही, क्योंकि अब फिर शीघ्र उससे अलग होना था। छुट्टियाँ समाप्त हुई और राजा वापस चला गया।

फिर ब्राह्मण-ब्राह्मणी का वही पुराना क्रम शुरू हो गया। कभी एक समय का खाना नहीं, कभी पूरे दिन का उपवास! कभी एक साथ दो-दो और तीन-तीन दिन के उपवास भी हो जाते। परंतु हमारा राजा पढ़ता है, बड़ा कलक्टर होगा, इन मनोहर स्वप्नों में उन्हें उपवास का दुःख नहीं होता था।

चारेक मास के बाद ब्राह्मणी ने कहा कि-'तुम राजा की कुसल-खबर तो ले आओ।' ब्राह्मण की भी ऐसी ही इच्छा थी। सत्यनारायण की कथा में उसे जो पैसे मिले थे, उन्हें उसने गांठ में बांध लिया। ब्राह्मणी ने कहा कि राजा को नारियल-पाक बहुत पसन्द है। इसलिये उसने नारियल-पाक बनाकर ब्राह्मण की चादर के छोर पर बांध दिया। ब्राह्मण ने प्रातःकाल रत्नागिरी की वाट पकड़ ली। पाँच-छः घण्टे की यात्रा कर वह रत्नागिरी पहूँच गया।

बहाने घर जाना टालता रहा और इन छुट्टियों में लड़की के पिता को प्रसन्न रखने के लिये उसके घर पर बिताने लगा। श्रीमन्त भी इस प्रतिभाशाली होनहार लड़के को अपना जामाता बनाना चाहता था।

उधर माता-पिता अपने बेटे की सफलता और उसके यशस्वी जीवन के लिये शिवजी का अभिषेक करते रहते थे। भगवान से उसे प्रथम श्रेणी में पास करने की प्रार्थना करते और उधर बेटा प्रेम-लीला करता था। माँ बेचारी अपने आंसू पोंछ कर अपने मन को मनाती कि अगली छुट्टी में मेरा राजा अवश्य ही आयेगा।

राजा के परिश्रम और माता-पिता की प्रार्थना से राजा बी. ए. में प्रथम श्रेणी में पास ही नहीं हुआ, अपितु सारी युनिवर्सिटी में प्रथम भी आया। राजा की इच्छा आई. सी. एस. के लिये इंग्लैंड जाने की हुई। लड़की के पिता ने सम्पूर्ण व्यय-भार उठाना स्वीकार कर लिया। चतुर और व्यवहारू लड़की ने राजा से कहा-'तुम्हें आई. सी. एस. होने के बाद तो शादी करनी ही है, तो शादी कर के ही क्यों नहीं जाते?'

राजा के मन में एक बार आया कि माता-पिता को मिल आऊँ, पर फिर सोचा कि यदि पिता वापस न आने दें या विवाह की आज्ञा न दें तो! इसलिये वह माता-पिता की आज्ञा लिये बिना ही श्रीमन्त की लड़की से विवाह- ग्रंथि में जुड़ गया।

जिस माता-पिता ने आँखों में प्राण लाकर, पेट पर पट्टी बांधकर, इस आशा से उसे पढ़ाया था कि बेटा उच्च-शिक्षा प्राप्त कर महान बनेगा, उनका सहारा बनेगा, राजा ने उनके हृदय पर ठेस लगाई। माँ के अंतर हृदय से झरते वात्सल्य भाव को पैरों के नीचे कुचल डाला। विवाह में माँ-बाप की स्वीकृति तथा आशीर्वाद लेने की भावना और वैदिक धारणा को एक सुन्दरी के मोह में पड़कर ठोकर मार दी।

घर में माँ के आँसू सूखते नहीं थे। मेरा राजा जरूर आयेगा, अब आयेगा, तब आयेगा, कब आयेगा? आँखें फाड़-फाड़ कर बेटे की राह जोहती है और इधर बेटे की इंग्लैंड जाने की तैयारी होती है।

राजा इंग्लैंड जाने के लिये बम्बई जहाज घाट पर आ गया है। उसकी पत्नी और ससुर उसको विदाई देते और शुभेच्छा व्यक्त करते हैं। स्टीमर को देखते ही उसकी रत्नागिरी के बन्दरगाह की स्मृति ताजी हो गई, जब उसके माता-पिता उसको बम्बई भेजने आये थे और उनकी मंगल कामना करते थे।

उसे माँ याद आई, माँ का वात्सल्य, उसकी शिक्षायें, उसकी सजोई महत्वाकांक्षायें, उसके लिये सही यातनायें, उसका अंतरप्रेम उसके स्मृति-पटल पर एक साथ छा गये। एक बार उसके मन में आया कि वह जाकर पिता के चरण पकड़कर क्षमा मांगे, परन्तु फिर सोचता है कि मैं वापस नहीं लौट सकूँगा। सारी तैयारी हो चुकी है,

टिकिट आगया है। मुझे आई. सी एस. होना है। फिर मुझ जैसा शिक्षित व्यक्ति ऐसे भावावेश में बहे! इंग्लैंड से लौटने पर माता-पिता को मना लूंगा। उसने इस प्रकार सारे चित्र-पट को विच्छिन्न कर डाला।

गाँव के लोग ब्राह्मण दम्पत्ति से कहते थे-"तुम्हारा लड़का प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण हुआ और अब विलायत जा रहा है, मुँह मीठा तो कराओ। जाने से पहिले राजा यहाँ तो आयेगा ही न? कहो-कब आ रहा है?" माँ सिसक-सिसक कर रोती और बाप उसे धैर्य देता कि अवश्य आयेगा। सात हजार मील समुद्र पार जाना है, उसे कितनी तैयारी करनी पड़ती होगी? कितनी कठिनाइयाँ उठाता होगा? परन्तु उसका मन कहता था-" लड़का हाथ से चला गया," पर पत्नी से कैसे कहे? फिर भी उसके मुंह से निकल ही पड़ा-"मुझे लगता है कि लड़का अपना नहीं रहा।"

इतने में राजा का पत्र आ गया कि आई. सी एस. पढ़ने के लिये विलायत जा रहा हूँ, यदि समयाभाव से पत्र न लिख सकूं तो क्षमा करना।

पत्र सुनते ही माँ के शोक के आँसू हर्ष के आँसूओं में बदल गये। वह पति से कहने लगी-"देखो न राजा ने हमें याद किया है। तुम व्यर्थ मेरे बेटे के बारे में कुशंकायें करते हो। मेरा राजा ऐसा नहीं है। मैं उसे खूब पहिचानती हूं। ब्राह्मण बुद्धिमान था, पत्नी के हृदयाकाश मे खुशी की एक झलक देखकर वह मौन होगया। लगभग डेढ़ वर्ष हो गया, पर उसका एक भी पत्र नहीं आया। अवश्य ससुर और पत्नी को वह पत्र लिखता रहता था।

जब से राजा विलायत गया, उसी दिन से ब्राह्मण ने शिवजी का अभिषेक करना आरम्भ कर दिया। राजा की बुद्धिमता, शिवजी की कृपा या दोनों के प्रताप से राजा आई सी एस. होकर हिन्दुस्तान आया और नासिक के कलक्टर के रूप में उसकी नियुक्ति भी हो गई।

उस काल में आई सी. एस. का बहुत बड़ा सम्मान था। राजा का फोटो अखबारों में छपा। राजा के छोटे से गाँव में तो अखबार कहां से जाता परन्तु गांव के किसी व्यक्ति को वह अखबार मिल गया। ऐसे कौन माता-पिता होंगे जो अखबार में अपने बेटे का फोटो देखकर खुश न हों? राजा के माता पिता को खुशी हुई। पिता भगवान का उपकार मानने लगा कि उसकी आकांक्षा पूरी हुई, उसका बेटा कलक्टर बना। पर उसका सुख उसको नहीं मिला। वह पूरी तरह समझ गया था कि अब पुत्र उसका नहीं रहा। पर रोये किसके पास?

जिस गाँव का कोई पुलिस का सिपाही भी नहीं हुआ, वहाँ का एक व्यक्ति कलक्टर बन गया! उसको इतना भी याद नहीं आया कि मेरे माँ-बाप ने पेट पर पट्टी बांधकर मुझे पाला-पोसा और पढ़ाया है। उनके कष्टों और आशीषों के कारण ही

मैं इतना बड़ा अफसर बना हूं। तो कम से कम उनके दर्शन तो कर जाऊँ! नहीं तो एक पत्र ही लिख दूं। पिता को इसका बड़ा दुःख था।

एक दिन ब्राह्मण-पत्नी ने ब्राह्मण को भोजन कराते हुये जिक्र छेड़ दी कि हमारा राजा कलक्टर बन गया है। उसने विवाह भी कर लिया है। चलो एक बार उसे मिल आवें। अपना राजा यदि मूर्ख बन गया या हमें भूल गया तो हमको भी क्या वैसे ही बन जाना है? ब्राह्मण ने सुना पर मौन साध ली।

'कुपुत्रो जायेत क्वचिदपि कुमाता न भवति।' ब्राह्मणी की आँखें और अंतरमन वात्सल्य-प्रेम के कारण पुत्र को देखने के लिये तड़पते थे।

ब्राह्मण ने अपने मन की अंतर्पीड़ा को दबाते हुये गंभीरता पूर्वक कहा-"राजा की माँ! तू भूल क्यों जाती है कि हमने पेट पर पट्टी बांधकर, ठंडे पानी से अपनी क्षुधा शांत कर, एक साथ दो-दो, तीन-तीन-उपवास कर, उसकी शिक्षा के लिये कितना कष्ट उठाया? हमने क्या-क्या वेदनायें सहन नहीं कीं? आज इस उम्र में, जब तुझे राजा की बहू से सेवा लेनी थी, राजा हमको भूल गया है। राजा कलक्टर हो गया तो क्या इससे माँ-बाप हलके हो गये? उनकी कीमत घट गई क्या हम माँ-बाप होने की योग्यता ही खो बैठे हैं? क्या राजा को पता नहीं कि हम दारिद्रय की किस पीड़ा में जी रहे हैं? पहिले हमारे सामने एक ही लक्ष्य था कि राजा को पाल-पोस कर बड़ा बनाना और उच्च शिक्षा देना, इसलिये उस समय हमें दुःख, दुःख नहीं लगता था। मन मे एक अप्रतिम उत्साह, आकांक्षा और खुमारी थी। पर, राजा की माँ! आज यह दुःख सहन नही होता! कौन जानता है, भगवान ने हमें यह सजा क्यों दी है? अब तो प्रभु इस जगत से उठालें तो छुटकारा हो!" ब्राह्मण अत्यन्त व्याकुल हो गया। अब तक दबाये हुये आँसुओं को मानो खुला मार्ग मिल गया। वह बालक की तरह रोने लगा। पत्नी की आँखें भी छलक आईं। उससे पति की मनोव्यथा सहन नहीं हो सकी, परंतु ब्राह्मण को आश्वासन देने के लिये उसके पास शब्द नहीं थे।

एक दिन ब्राह्मण प्रातः सूर्य भगवान को अर्घ्य दे रहा था। इसी समय ब्राह्मणी ने आकर गिड़गिड़ाते हुये गद्गद् कंठ से लड़खड़ाती हुई आवाज में अत्यन्त नम्रता से कहा-"आज तक मैने आपके दुःखों के साथ समरस होकर आपसे कभी कुछ नहीं माँगा, परन्तु आज मुझे आपसे कुछ माँगना है। मुझे विश्वास है कि आप मुझे निराश नहीं करेंगे। हमको गृहस्थ किये पैंतालीस-पचास वर्ष हो गये, राजा भी अट्ठाईस-तीस वर्ष का हो गया है। इसलिये मरने से पहिले एक बार उसे देखने की इच्छा है। चाहे जैसे भी हो, मुझे एक बार उसके पास ले चलिये।" ऐसा कहते-कहते उसकी आँखें गीली हो गईं।

ब्राह्मण, पत्नी के हृदय की इस वेदना–पूर्ण माँग को अस्वीकार नहीं कर सका। उसने उसे आश्वस्त किया–'तू चिंता न कर, थोड़े ही दिनों में हम राजा को देखने के लिये नासिक जायेंगे।'

ब्राह्मण सोचने लगा, नासिक जाने के लिये पर्याप्त खर्च चाहिये। अन्त में दोनों ने निश्चय किया–"हमारी यह अंतिम अवस्था है, इसलिये नासिक की यात्रा करेंगे, गोदावरी में स्नान करेंगे और अपना शेष जीवन उसी तीर्थ–भूमि में व्यतीत करेंगे।" उसने अपना घर बेच डाला। उन पेड़ों और बगीचे को बेच डाला, जिसे उसने जीवन भर प्रेम से सींच–सींच कर पाला था, जिस पर उसकी पुत्रवत् ममता थी। जो उनकी वृद्धावस्था का एक मात्र सहारा था, जिन्होंने जीवन भर उन्हें छाँह दी थी और जिन्होंने उनकी गरीबी के दिनों में उन्हें जीवित रखा था। ब्राह्मण ने उन्हें नमस्कार किया और खरीददार से विनय की कि वह उन्हें पानी पिलाता रहे। दोनों ने बाप–दादा से उत्तराधिकार में मिले और अपने खून पसीने से खड़ी की हुई इस छोटी सी जायदाद को अन्तिम नमस्कार किया और थोड़े से आवश्यक कपड़ों की पोटली लेकर नासिक के लिये प्रयाण किया।

दोनों पति–पत्नी नासिक पहुँचे। दोनों भटकते–भटकते, ढूंढ़ते–खोजते कलक्टर के बंगले पर पहुँच गये। बंगले के बाहर बन्दूकधारी पुलिस का सिपाही इस गँवारू दम्पत्ति को देखकर हँसने लगा। पत्नी को कुछ दूर खड़ी कर ब्राह्मण बंगले की ओर बढ़ा तो पुलिस वाला असभ्य और उद्धत भाषा में बोला–"ओ बदमाश! यह कलक्टर का बंगला है, कोई धर्मशाला नहीं, चल–भाग यहाँ से!"

ब्राह्मण का तेजस्वी रक्त उबल आया। उसने कड़ककर कहा–"मुझे अन्दर नहीं जाने देगा, तो किसे जाने देगा?'

जिस समय बंगले के आगे यह वाद–विवाद हो रहा था, उसी समय कलक्टर अपनी पत्नी के साथ बैडमिंटन खेलकर लौटा था और बंगले की ऊपरी मंजिल में चाय पी रहा था। बंगले के बाहर का हल्ला सुनकर उसने खिड़की से नीचे झांका तो फटे पुराने वस्त्र पहिने उसका पिता पुलिस वाले से कह रहा था कि कलक्टर उसका पुत्र है और वह उसका पिता है। कहावत है–रेत (Sand) सूर्य की अपेक्षा अधिक जलाती है। साहब के टुकड़ों पर कुत्ते की तरह पलने वाले सिपाही ने गरीब ब्राह्मण को बूट की ठोकर से भूमि पर गिराते हुये कहा–"बड़ा साहब का बाप बनकर आया!" भूमि पर पड़े हुये ब्राह्मण की दृष्टी ऊपर हुई, उसने खिड़की पर खड़े अपने राजा को पहिचान लिया, लड़के ने भी पिता को देखा, पहिचाना, दोनों की चार नजरें हुईं। परन्तु मेम साहब के प्रेम में फंसे हुये बेटे की हिम्मत नहीं हुई कि जाकर पिता के चरणों में पड़े, उससे माफी माँगे और अपने साथ बंगले में ले आवे। उसे लगा कि

ऐसा करने पर लोग कहेंगे कि उसका पिता गँवार (ग्रामीण) है। उसकी पत्नी भी उसका घर में आना पसन्द नहीं करेगी। उसने खिड़की बन्द कर ली।

कलक्टर की पत्नी ने पूछा—' क्या था?" कोई अपरिचित व्यक्ति शायद मुझको मिलना चाहता था।" यह कहकर उसने बात टाल दी।

पिता के लिये यह पुलिस वाले की नहीं अपितु उस बेटे की लात थी, जिसे उसने छाती पर सुलाया, लाड़ लड़ाया, बड़ा किया और लिखा पढ़ाकर इतना बड़ा साहब बनाया था। उसने मेरा अपमान देखा, मुझे पहिचाना और उफ् भी नहीं किया, खिड़की बन्द कर ली। भगवान! बेटे के बंगले पर मेरा अपमान हो, क्या इसीलिये मुझे अब तक जीवित रखा था? उसने अपने आपको धिक्कारा।

ब्राह्मण पत्नी उत्सुकता से ब्राह्मण की बाट देखती थी। उसने पूछा—"राजा मिला क्या? ठीक तो है न?" उसने पति की ओर देखा। आँखे अपमान से लाल हो गई थी। शरीर पर खून था और चेहरा उदास!

'हाँ' ब्राह्मण ने संक्षिप्त उत्तर दिया। "परन्तु तुम ऐसे क्यों हो? तबियत तो ठीक है?" पत्नी ने पूछा।

पति के धैर्य का बांध टूट गया और उसने सम्पूर्ण घटना उसे कह सुनाई। पत्नी का हृदय टूट गया, उसे तीव्र वेदना हुई। दोनों की भगवान से एक ही शिकायत थी कि 'भगवान! हमें इसी दिन को देखने के लिये जिलाया था?" दोनों के पास रोने के अतिरिक्त था ही क्या? इसके अलावा उनके जीवन में आश्वासन ही क्या रह गया था?

पुत्र की दृष्टि के सामने उससे बंगले के द्वार पर जो असह्य अपमान हुआ था, उसकी वेदना को ब्राह्मण सहन नहीं कर सका। उसे तीव्र ज्वर आ गया। सारा चित्र-पट उसकी आँखों के सामने नाचने लगा। मेरा राजा इतना कृतघ्न हो गया? अरे! मानवता से भी गिर गया? इस असह्य आघात की वेदना से तड़पकर उसने रात्रि को इस कृतघ्नी जगत से चिरकाल के लिये विदा ले ली।

ब्राह्मण पत्नी के दुःख की सीमा न रही। पति उसे असहाय छोड़कर चल बसे, पुत्र ने मुँह मोड़ लिया और भगवान भी उसे जगत से उठाता नहीं, तब वह क्या करे? कहाँ जाय? माथे का कुंकुम मिट गया, हाथ की चूड़ियाँ टूट गई दुःख के भार से दस वर्ष पूर्व ही वृद्ध हो गई ब्राह्मणी शून्य मनस्क होकर सोचती है। कहाँ जाऊँ? कुछ सूझता नहीं कोई सहायक नहीं। वापस अपने घर जाती है तो मेरा नहीं, फिर लोगों को कैसे मुँह दिखाते? और वास्तव में घर रह भी कहाँ गया था? अन्त में शिवजी के मन्दिर में बैठकर उसने निर्णय लिया कि नित्य गोदावरी-स्नान कर मंदिर में बैठकर भगवान का नाम जप कर शेष जीवन को बिताऊगी।

जिसका पुत्र समस्त नासिक जिले का कलक्टर है, वह अनाथ और असहाय होकर मंदिर के एक कोने मे पड़ी भूख-प्यास, पति-वियोग और पुत्र की उपेक्षा से संतप्त जीवन व्यतीत कर रही है! रहने के लिये घर नहीं, पास मे पैसा नही है, आत्मीयता से बात करने वाला भी कोई नहीं। ऐसी असहाय स्थिति में एक वृद्ध, विधवा स्त्री अपरिचित स्थान मे अपना जीवन यापन कैसे करती रही होगी? इसे भगवान ही जानते होंगे।

अनेक बार विचार आता है कि दयासागर भगवान इतने निष्ठुर हो सकते हैं क्या? जो भगवान बिना माँगे और कहे ही इतने प्रेम से मानव तथा समस्त भूत-प्राणियों का रक्षण-पोषण करते हैं वे एक असहाय, निराधार, वृद्ध-विधवा स्त्री को ऐसी स्थिति में रख सकते हैं? या वे अपने पास बुलाने से पूर्व इतनी कड़ी परीक्षा लेते होंगे? उस महान नटराज की लीला का किसको पता है? उस कलाकार की कला का किसी को पता नहीं है। वह महान कलाकार अपनी कलाकृतियो मे विविध रंग भरता रहता है। कभी सुख का गुलाबी रंग भरता है तो कभी दुःख का काला रंग और कभी दोनों का सम्मिश्रण! वह जाति-जाति और भांति-भांति के रंगों को भरता है। कब काले रंग की एक कूची फेर दे, कहा नही जा सकता।

जीव मात्र उस चित्‌शक्ति के हाथ का खिलौना है। वह महान मदारी हमें नचाता रहता है। कभी गोद मे लेकर प्यार करता और पुचकारता है, तो कभी थप्पड़ मारकर दूर धकेल देता है। बन्दर को मदारी से बोलने का अधिकार नही है। फिर भी भगवान दयालु हैं और हृदय के आर्तनाद को अवश्य सुनते हैं।

उस समय पत्नी के मोह बड़प्पन तथा पद के अहंकार से कलक्टर ने खिड़की बन्द करली थी परन्तु उसके बाद उसको महान पश्चाताप हुआ। उसका अन्तर्मन उसे धिक्कारने लगा—"छी! तू मानव नहीं पशु है, सुवर है। आलिंगन करने के लिये आने वाले पिता का स्वागत करने के बजाय तूने उसका अपमान किया है। ब्राह्मण कुल मे सुसंस्कारों मे पला हुआ तू अपने पिता के अनन्त उपकारों को इतनी जल्दी भूल गया है? मानव होकर भी इतना कृतघ्नी और नीच बना है? तू मानव कहलाने योग्य भी नहीं है। तुझसे तो वह कुत्ता श्रेष्ठ है, जो रोटी का टुकड़ा देने वाले स्वामी की रात-दिन जागरूक होकर सेवा करता है। तू पहिले ही कलक्टर नहीं बना। एक दिन तू भी गरीब था। अपने माँ-बाप के मुँह का कौर छीनकर तू बना हुआ है। उसका तूने यही बदला दिया है? यही तेरा बड़प्पन है? यही तेरे संस्कार हैं? तेरे इस कलक्टर पन के लिये धिक्कार है।"

परन्तु अब हाथ से तीर छूट चुका था। अब एक ही उपाय था कि पादन पिता को लाकर उसका इलाज किया जाता। पर उसका मन कहता—"बाह! पहिले पादन

किया और फिर मरहमपट्टी ! तेरे तेजस्वी पिता मानेंगे नहीं।" दूसरा मन कहता-"नहीं, मेरे पिता अवश्य आयेंगे-कुपुत्रो जायेत क्वचिदपि कुमाता न भवति।"

"परन्तु-ईश्वर न करे, यदि वे उस तीर के शिकार हो गये हों तो?" इस विचार से वह कांप उठा। क्या करना चाहिये? यह उसे सूझता ही नहीं था।

मानव जीवन में ऐसे भी प्रसंग आते हैं, जब वह भोग-जीवन से ऊबकर भाव-जीवन की ओर मुड़ता है। आज तक कलक्टर के भोग-जीवन में भाव-जीवन के लिये स्थान ही नहीं था। परन्तु आज वह उसी भाव-जीवन के लिये, पिता की प्रेमपूर्ण ऊष्मा के लिये कातर था, आतुर था। उसने पिता के लिये भावपूर्ण पत्र लिखा, पर वह वापस आ गया। अब पिता को कहाँ ढूंढा जाय?

कलक्टर की पत्नी गर्भवती थी। घर में कोई सयाना आदमी न था। उसे किसी प्रौढ़ स्त्री (सेविका) की आवश्यकता प्रतीत हुई।

एक दिन ब्राह्मण-पत्नी कीर्तन सुन रही थी। कीर्तन समाप्त होने के पश्चात् कुछ स्त्रियाँ आपस में बातचीत कर रही थीं कि कलक्टर की पत्नी गर्भवती है, उसे एक ऐसी नौकरानी की आवश्यकता है, जो उसकी देखभाल कर सके।

दूसरे दिन ब्राह्मणी कलक्टर के बंगले पर गई। कलक्टर की मोटर बंगले से बाहर आती थी। पति-पत्नी दोनों बाहर घूमने जा रहे थे। ब्राह्मणी ने अपने लड़के को देखा। उसका मातृ-हृदय धड़कने लगा। दौड़कर लड़के को भेंट लेने का मन हुआ, पर अपने पर नियंत्रण करके रुक गई। उसने सिरकी चादर नीचे तक खींच ली और कलक्टर की पत्नी से कहा-"मैंने सुना है, आपको एक नौकरानी की आवश्यकता है?" स्वयं सास हो कर घर की मालकिन होकर, बहू से नौकरी की भीख माँगती है! कुदरत का खेल है।

ब्राह्मणी मन में कहती है-"प्रभु! यही दिन दिखाना बाकी था, तूने वह भी दिखा दिया है।" उसका एक मन कहता-"जिस घर के द्वार पर मेरे पति का अपमान हुआ और जिसके कारण वे इस संसार से चले गये, उस घर का पानी भी पीना हराम है!" दूसरा मन कहता-"मेरे थोड़े से दिन बाकी हैं, बहू के पैर भारी (गर्भवती) हैं, इस समय किसी आत्मीय जन का घर में होना आवश्यक है। उसने पुनः कहा-"मैं विधवा हूँ, मेरे पति कुछ ही दिन पहिले गुजर गये हैं। मेरा कोई नहीं है, दुखिया हूँ, मुझे नौकरानी रख लीजिये।"

कलक्टर की पत्नी को आवश्यकता तो थी ही, उसे दुःखी और विधवा जानकर नौकरानी रख लिया। ब्राह्मण पत्नी समझती थी कि यह मेरी बहू है और कलक्टर-पत्नी समझती थी कि वह मेरी नौकरानी है।

विधवा, वृद्ध तथा सर के बाल कटे होने और घूंघट निकाले रहने से कलक्टर अपनी माता को नहीं पहिचान सका । फिर पुराने जमाने में पुरुष नौकरानियों के सम्पर्क में नहीं आते थे, नौकरानियाँ सदा घर के भीतर के भाग में रहती और पुरुष बाहर के भाग में रहते थे । कलक्टर अपने माता-पिता की शोध के लिये बेचैन था। घर में ही होने पर भी वह अपनी माँ को नहीं पहिचानता था।

ब्राह्मणी ने अपने मृदुल व्यवहार और वात्सल्य प्रेम से कलक्टर की पत्नी का दिल जीत लिया था । वह प्रेम से उसकी सेवा करती और अपनी पुत्री के समान लाड़ प्यार करती थी । घर के सभी छोटे-बड़े काम उसने अपने ऊपर ले लिये थे ।

समय व्यतीत होता गया, अब वह अपने पुत्र की माँ ही नहीं, पोते की दादी भी हो गई । अब तक वह राजा को दूर से देखकर अपने हृदय को शांत करती थी अब गोद में खेलने वाले पौत्र को देखकर उसे राजा के दर्शन हो जाते थे ।

एक दिन राजा ने अपनी पत्नी से पूछा कि नौकरानी काम ठीक से करती है या नहीं ? वेतन कितना माँगती है ? पत्नी ने कहा–' प्रभु-कृपा से नौकरानी तो माँ के समान मिली है, मेरे ऊपर पुत्रिवत् प्रेम करती है, घर का सारा काम स्वयं करती है, छोटी-छोटी बातों का भी ध्यान रखती है, और मुन्ना तो उसके साथ इतना रम गया है कि मेरी याद भी नहीं करता । वेतन का नाम लेते ही कहती है, मुझे पैसे का क्या करना है ? पैसे का नाम ही नहीं लेती ।

एक दिन कलक्टर की पत्नी ने नौकरानी से कहा–' तुम कितनी प्रेममय हो, तुम्हारा भी एक आध लड़का होता तो कितना अच्छा होता ? कितना संस्कारी होता ? उसे तुम जैसी माँ मिलती तो वह कितना भाग्यशाली होता ? ब्राह्मणी की आँखे भर आई । उसे किस तरह समझावे कि वह उसके लड़के की ही तो पत्नी है । मन के उद्वेग को रोककर और चटपट आँसू पोंछ कर उसने कहा–' ये सब मेरे ही तो बच्चे हैं । ' परन्तु इस वाक्य में निहित सत्य को कलक्टर की पत्नी कैसे समझ सकती थी ?

एक दिन दोपहर को पत्नी क्लब में गई थी । कलक्टर के सर में दर्द था, इस लिये वह जरा जल्दी घर आ गया । उस समय दादी (नौकरानी), पोते को झूला झुलाते हुये लोरियाँ गा रही थी । उसने दूर से लोरी सुनी । वह कुछ चौंक सा गया । उसे आवाज परिचित सी लगी । वही लोरी, वही स्वर, वही मिठास, वही प्रेम ! ' बचपन में मेरी माँ मुझे इसी लोरी को सुनाती थी । ' उसका मन बचपन के कोने कोने [illegible] लगा । माँ-बाप, छोटा सा घर, छोटी सी बगिया, छोटा सा गाँव, गाँव का शान्ति-सुखी वातावरण ! सभी उसके हृदय पटल पर उभर आये ! उसके हृदय में गहन वेदना हुई । पिता और पिता के बाप के व्यवहार का दृश्य मानो उसके नेत्रों के

सामने से हटना ही नहीं चाहता था। कलक्टर को आता देखकर नौकरानी अन्दर चली गई और वह अपने आप रो पड़ा।

पत्नी के आने पर उसने पूछा—"नौकरानी ने यह लोरी कहाँ से सीखी?" "वह तो मुन्ना को नित्य ही सुनाती है। उसके शब्द-शब्द में प्रेम और माधुर्य निखर पड़ता है। आप मानें, या न मानें पर प्रभु ने मुझे तो माँ ही दी है।" कलक्टर ने कहा—"तू उसका नाम-गाम तो पूछ?" उसने कहा—"मैं अनेक बार पूछती हूँ, पर वह कहती है–तुम सब मेरे ही तो हो।"

कलक्टर ने दो दिन से खाना नहीं खाया था, इसका वृद्धा को बहुत बड़ा दुःख हुआ। उसने नारियल मंगाकर, अपने हाथ से नारियल-पाक बनाया। उसको मालूम था कि उसके राजा को नारियल-पाक प्रिय था। कलक्टर खाने लगा; वही स्वाद! मानो माँ ने ही बनाया हो, खाते-खाते उसको माँ का स्मरण हो आया, आँखो में आँसू छलकने लगे, मानो नेत्रो में माँ का प्यार तैर रहा हो।

मानव का जीवन दो प्रकार का है। भाव-जीवन और भोग-जीवन। कलक्टर के जीवन में दिन प्रतिदिन भाव पुष्ट होने लगा। अन्तर्मन माता-पिता के दर्शन के लिये लालायित होता गया। वह पिता के लिये पत्र लिखता, पर वे वापस आ जाते थे।

एक दिन इसी प्रकार पिता के लिये लिखा गया पत्र वापस आ गया, डकवाने वालों ने उस पर लिखा था, 'घर पर ताला है, पत्र पाने वाले का पता नहीं है।' इससे कलक्टर की मनोव्यथा और बेचैनी बढ़ गई। उसका सर दर्द करने लगा। वह ऑफिस से जल्दी घर आ गया। बुढ़िया को नौकरों से मालूम हुआ कि साहब के सर में दर्द है। माता का हृदय भर आया। स्वयं घर मे हो और बेटा बेचैनी अनुभव करे! अपने सर की चादर आगे खींचकर वह बाहर आई और बोली—"सर दर्द अधिक है! माथा दबा दूं?" कलक्टर उसके साथ प्रत्यक्ष बात करने के अवसर की ताक में तो था ही। उसने "हाँ" कर दी।

नौकरानी पलंग के पीछे खड़ी होकर साहब का सर दबाने लगी। कलक्टर ने पूछा—"तुम्हारा गाँव कहाँ है?" नौकरानी—"मैं तो कंगाल हूँ, भला कंगाल का गाँव कहाँ?" कलक्टर—"तुम्हारा कोई सगा-संबन्धी है?" नौकरानी—"मेरा सगा भगवान है।"

कलक्टर को आवाज परिचित लगी। माथे पर फिरते हाथ से अनोखी शांति मिलती थी। वस्तुतः वह नौकरानी का नहीं, माता का हाथ अपने बेटे के सर पर फिरता था। माथा दबाते-दबाते माँ का हृदय भर आया और आँखों से सहमा दो तप्त अश्रु-कण कलक्टर की गाल पर चू पड़े। उसे विश्वास हो गया कि वह नौकरानी नहीं उसकी माँ ही है। वह फौरन उठ खड़ा हुआ और माँ के चरणों में गिर गया। उसने अपने

अजस्र-अश्रुधारा से माँ के चरण धो डाले । उसके आँखों की जल-धारा के साथ माता के नेत्रों से निकली गंगा-जमुना भी मिल गई । एक की आँखों में आनन्दाश्रु थे और दुसरे की आँखों में पश्चाताप के आँसू थे । माँ ने बेटे को नीचे से उठाकर प्रेम से आलिंगन किया और " राजा बेटा " कहकर उसकी पीठ पर हाथ फेरा ।

" माँ ! मैं पापी हूं, कृतघ्नी हूं । घर के द्वार पर आये हुये पिता का मैंने अपमान किया, घर से निकाला । माँ ! मुझे क्षमा कर । पर माँ ! तेरी ऐसी स्थिती क्यों ? "

" बेटा ! क्या कहूं ? बीती बात को याद करने से क्या लाभ ? उस दिन तेरे पिता यहाँ से अपमानित होकर लौटे और उस आघात को सहन न कर सके । उन्हें बुखार चढ़ गया और उसी रात्रि को वे मुझे रोती हुई, असहाय और अकेली छोड़कर सदा के लिये विदा हो गये । " ऐसा कहते कहते उसकी आँखे भर आई ।

" माँ ! मैंने तुझे नौकरानी की तरह रखा । अपने बेटे के यहाँ तू नोकरानी हुई । मैं पितृघ्नी और महापातकी हूँ । मैं इस घोर पाप को कैसे धो सकता हूं ? भगवान भी मेरे पाप के लिये मुझे क्षमा नहीं करेगा । मुझे इसका प्रायश्चित करना ही होगा । " वह माँ की गोद में सर रखकर फूट-फूट कर रोने लगा ।

कलक्टर की पत्नी बाहर से आई । वह भी वस्तुस्थिति को समझ गई । उसने भी सास के चरणों में सर रखकर क्षमा याचना की ।

कलक्टर ने कहा-" माँ ! मैं सत्ता और संपत्ति से अंधा बन गया था । इस शिक्षा से मेरा भाव-जीवन समाप्त हो गया था । जो शिक्षा मानव के भाव-जीवन को समाप्त कर देती है, ऐसी शिक्षा और ऐसी सत्ता सम्पत्ति के लिये धिक्कार है ! मुझे यह कलक्टरी नहीं चाहिये । मैं अब गांव-गावों में जाकर बच्चों को भाव जीवन समझाऊंगा । ' मातृदेवो भव । पितृदेवो भव । ' के पाठ पढ़ाऊंगा । यही मेरे महान पाप का प्रायश्चित्त होगा । "

राजा ने कलक्टर के पद से त्याग-पत्र देकर अपना शेष जीवन संस्कृति के महान कार्य के लिये समर्पित कर दिया ।

ऋतुध्वज

भगवान सहस्र-रश्मि के प्रतिहारी (मुर्गे) ने अभी-अभी बाँग लगाई ही थी कि वे अपनी स्वर्णिम रश्मियों को नील गगन में बिछाकर अपने आगमन की पूर्व झांकी प्रदर्शित करने लगे। इसी समय एक तेज-पुञ्ज ऋषि प्रशान्त सरिता के तट पर भगवान सूर्य नारायण को अर्घ्य-दान करते हुये ऊषा सूक्त बोल रहे थे। समीप ही एक वृक्ष के पास खड़ा एक अति चपल अश्व आने जाने वालों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित कर रहा था। प्रत्येक व्यक्ति के मन में कुतूहलपूर्ण प्रश्न उपस्थित होता था कि इस ऋषि के पास ऐसा सुन्दर घोड़ा कहाँ से आया? यह अद्भुत प्राणी इस ब्राह्मण के पास क्यों है? यह ब्राह्मण कौन है? ऐसा घोड़ा तो राजदरबार में ही शोभा देता है।

साठ हजार विद्यार्थियों के तपोवन के कुलपति इस तेजस्वी ब्राह्मण का नाम गालव था। उसके आश्रम में वानप्रस्थी भी रहते थे। आश्रम की कुल जनसंख्या दो लाख अर्थात एक छोटे शहर के समान थी। इस आश्रम में समस्त मानव जाति को सुधारने, उन्हें तेजस्वी और सुसंस्कृत बनाने की दिव्य शक्ति का निर्माण होता था। इस शक्ति के सर्जक गालव मुनि उस घोड़े को लेकर शत्रुजीत राजा के पास जा रहे थे। मार्ग में स्नान-संध्या करने हेतु वे नदी के किनारे रुक गये थे।

गालव के आश्रम की सीमा पर पातालकेतु राजा का राज्य था। वह राक्षस था। "रक्षामि-मैं ही रक्षा करने वाला हूँ।" ऐसा कहने वाला राक्षस है। ये लोग उस अतीन्द्रिय शक्ति को नहीं मानते। वे कहते हैं-हम ही भगवान हैं, हम अपनी रक्षा

स्वयँ करेंगे। लम्बे-लम्बे दांत, नाखून व बालों वाला तथा भयानक शक्ल वाला राक्षस नहीं होता है। इसके विपरीत वे अधिक खूबसूरत होते हैं और हमारी ही तरह रहते हैं। उनके जीवन का परम लक्ष्य और अन्तिम ध्येय 'येन केन प्रकारेण' भोग प्राप्त करना और भोगना है।

पातालकेतु भी इसी श्रेणी का था। वह राजमहल में रहता और बड़े-बड़े भाषण भी करता था। उसके राज्य की शिक्षा-व्यवस्था का आधार 'खाओ, पिओ और आनन्द करो' था। पैसा कमाने की शिक्षा देना, पैसों से भोग खरीदना और ऐश आराम का जीवन व्यतीत करना ही उसका जीवन लक्ष्य था। वह उस चिद्शक्ति की उपेक्षा कर अपने को ही जगत का अधिपति समझकर कीड़े मकोड़ों की तरह क्षुद्र जीवन जीता था।

पातालकेतु के राज्य के विलासी नौजवान गालव मुनि के आश्रम में आकार अपरिपक्व बुद्धि के बालक-बालिकाओं को भोग-विलास की बातें बताकर फुसलाते, कायरों को धमकाते और जो दृढ होते उन्हें मारते थे। आश्रम की युवा लड़कियों और ऋषि-पत्नियों की ओर कुदृष्टि से देखते थे। फलस्वरूप आश्रमवासियों का शान्त और सात्त्विक जीवन विचलित हो गया और वे भोग-विलास की ओर आकर्षित होने लगे।

प्रत्येक बात में मुनाफा ही देखने वाले राक्षसी दृष्टिकोण के होते हैं। संध्या क्यों करनी चाहिये? सूर्यार्घ्य क्यों देना चाहिये? भगवान का पूजन क्यों करना चाहिये? हम संध्या नहीं करते तो क्या हानि हुई? भोजन तो बिना सन्ध्या किये भी मिलता है, पैसा भी मिलता ही है, परीक्षा में उत्तीर्ण होते ही हैं तो यह सारी खटपट क्यों करनी? 'खाओ-पिओ और आनन्द करो,' नहीं तो जवानी यों ही चली जायेगी- फिर जवानी का क्या लाभ? कर्ज लेकर भी भोग भोगो।

'ऋणं कृत्वा घृतं (सुरां) पिबेत्।'

इस प्रकार सर्वत्र 'क्या मिलेगा, क्या फायदा,' कहने वाले भोगवादी विचार धारा के लोगों ने आश्रम के सीधे-सादे विद्यार्थियों को अपने उच्च आदर्श से च्युत कर दिया था। वे अपने अभिभावकों की आज्ञा का उल्लंघन करने लग गये थे। वे कहते थे-"हम रूढ़िवादी नहीं हैं, यह आवश्यक नहीं है कि जैसा आप करते हैं वैसा ही हम भी करें, अब बूढ़ों के दिन चले गये हैं! हमारी जैसी इच्छा होगी, हम वैसा ही करेंगे!

ये सब बातें गालव ऋषि के कानों में आईं। उन्होंने जैसे तैसे [illegible] मुनि ने लोगों को समझाया वैसे ही वैसे वे आपे से बाहर होने लगे। [illegible]

दिन बिगड़ती जाती थी। खेत में बीज बोने से पूर्व बाड़ बांधनी पड़ती है, तभी खेती फूलती-फलती है। राक्षस बाड़ तोड़ने लगे थे। ऋषि के लिये यह एक जटिल समस्या बन गई।

गालव शाप देकर दुष्टों को नष्ट करने में समर्थ थे, परन्तु उन्होंने सोचा इससे समाज मे रहे हुये सात्विक तत्त्व भी नष्ट हो जायेंगे और यह सामूहिक अत्याचार भी है शाप जिस प्रकार शत्रु के लिये अनिष्टकर है, उसी प्रकार शाप देने वाले के लिये भी बाधक है।

एक दिन वे प्रातः शान्त-चित्त विचार मग्न थे। उनका शांत और स्वस्थ चित्त खिन्न हो गया। कोई उपाय नहीं सूझा। उन्होंने आर्तनाद से भगवान को पुकारा। 'भगवान! स्वर्ग का राज्य सुप्रतिष्ठ रहे और मृत्यु-लोक मे भी धर्म-राज्य रहे, इस हेतु से हम तपस्वी लोगों ने नगरों को छोड़कर बनवास लिया है। वहाँ हमने तप की सरिता बहाई है। हम लोगों के जीवन मे आपकी दिव्य, तेजस्वी और सात्विक विचारधारा ले जाने के लिये अपने खून का पानी बनाते हैं। हमको कीर्ति का मोह नहीं, अधिकार की लालसा नहीं, राज्याश्रित हम नहीं बनते। केवल तुझ पर पूर्ण विश्वास रखकर तेरी विचारधारा को लोक-जीवन में पहुँचाने का निरपेक्ष प्रयत्न करते रहते हैं। परन्तु प्रभु ! फिर भी राक्षसी विचारधारा लोगों के जीवन में अड्डा जमाती जाती है। अब तू ही मार्ग-दर्शन कर। क्या हम निराश होकर अपना व्रत छोड़ दें ? तेरे कार्य के लिये हाथ पर जो कंगन बांधा है, उसे फेंक दें ?"

प्रार्थना करते-करते ऋषि खम्भे के सहारे बैठे-बैठे सो गये। स्वप्न में भगवान ने आदेश किया-' वत्स ! तेरा जीवन कार्य यथोचित है। समाज मे कभी-कभी राक्षसी विचार उठने ही वाले हैं, यह नैसर्गिक है। ऐसे समय पर ऋषियों की तप-शक्ति, राजओं की दण्ड-शक्ति और धनिकों की वित्त-शक्ति को एकत्रित कर राक्षसी विचारधारा समूल विनाश करनी चाहिये। तू ऐसे राजा को ढूंढ जो संस्कृति के कार्य में तेरी सहायता करे। तेरे आँगन में एक दैवी घोड़ा खड़ा है; जो राजा उस पर सवार हो सकेगा वही तेरे सांस्कृतिक कार्य में सहायक होगा। तू इस घोड़े को लेकर शत्रुजीत राजा के पास जा।

ऋषि को स्वप्न में प्रभु का मार्ग-दर्शन मिला। जैसे ही उनकी आँखे खुली, उनकी दृष्टि आँगन में खड़े उस दिव्य अश्व पर पड़ी। ऋषि प्रभु की आज्ञानुसार इस दिव्य अश्व को लेकर शत्रुजीत राजा के पास जा रहे थे। आगे-आगे ऋषि और पीछे-पीछे घोड़ा चल रहा था। लोगों को लगता था कि यह ब्राह्मण कितना मूर्ख है। इतना सुन्दर घोड़ा साथ में है और वह स्वयं पैदल चल रहा है। तत्त्वनिष्ठ लोगों को सामान्य मानव पहिचान नहीं सकता। तत्त्वनिष्ठ गालव सोचते थे कि प्रभु ने यह घोड़ा शत्रु-

जीत राजा के लिये प्रदान किया है, उस पर चढ़ना अधर्म होगा। धर्म का यह कितना सूक्ष्म-दर्शन है!

ऋषि शत्रुजीत के दरबार में पहुँचे। राजा महर्षि गालव की शक्ति को जानते थे। उन्होंने उनका यथोचित स्वागत तथा अर्चन-वन्दन किया और पूछा-"मुनिवर! कहिये सब कुशल तो हैं? आपके आश्रय के वृक्ष, पुष्प, पल्लवों को कोई हानि तो नहीं पहुँचाता? आपके चरण-रज से पवित्र हुये आश्रम, आश्रम-वासियों तथा मृगों को कोई तंग तो नहीं करता? तपोवन की शांति व स्वस्थता भंग तो नहीं होती? वहाँ के पवित्र जल को कोई गंदा तो नहीं करता? ऋषिगण, शिष्यगण और ऋषि-पत्नियाँ तो सानन्द हैं?'

महर्षि ने उत्तर दिया-"राजन्! संस्कृति के कार्य में कठिनाई और विघ्न-बाधायें तो आने ही वाली हैं, क्योंकि असंस्कारी जीवन जीना आसान होता है। 'देर से उठो, भगवान का स्मरण किये बिना भोजन करो' यह सिखाने के लिये प्रचार नहीं करना पड़ता, परन्तु 'प्रातः उठो, भगवान का स्मरण करो, भगवान को अर्पण कर तब भोजन करो' इसके लिये प्रचार, प्रयत्न और परिश्रम करना पड़ता है। आज घर-घर में असांस्कृतिक, जड़वादी और राक्षसी संस्कृति का बोलबाला हो गया है। हमारे आश्रम के सीमान्त में भोगवादी तथा राक्षसी संस्कृति के राजा पातालकेतु का राज्य है। वहाँ भगवान का नाम नहीं, वेदों की कल्पना नहीं, संस्कृति का विचार नहीं और पूर्वजों का स्मरण नहीं है। वहाँ उत्कृष्ट इंजीनियर, डाक्टर और कलाकार हैं, परन्तु सिर्फ रोटी और वस्त्र के लिये। रोटी, कपड़ा और मकान यही उनका चरम जीवन-लक्ष्य है। 'खाओ, पिओ और मजा करो' यही उनकी संस्कृति है।"

जिस दिव्य संस्कृति और परम्परा को हमारे ऋषियों ने अपना रक्त सींचकर सहस्त्रों वर्षों से टिकाये रखा था, उसे ये राक्षस छिन्न-भिन्न कर उखाड़ फेंकने के लिये प्रयत्नशील हैं। पातालकेतु कहता है-'तुमको खेती के लिये हल, बैल, बीज मैं देता हूँ, सिंचाई के लिये नहरें बनाकर मैं देता हूँ, भूखों को रोटी-कपड़ा मैं देता हूँ, फिर भगवान की क्या आवश्यकता है। मैं ही भगवान हूँ' 'ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान्सुखी।'

पातालकेतु ने अपने राज्य में ऐसी भोगवादी-जड़वादी शिक्षा पद्धति जारी की है, जिससे वहाँ वैदिक संस्कृति, वैदिक परम्परा और वैदिक वाङ्मय का नाम निशान भी न रहे। यही नहीं वहाँ के जड़वादी उन्मत्त नौजवान हमारे आश्रम में घुस कर यहाँ के भोले बालक-बालिकाओं को भी भड़काकर, ललचाकर, फुसलाकर तथा डरा कर राक्षसी वृत्ति के बना रहे और आश्रम में अनाचार फैला रहे हैं। इससे आश्रम की शांति, स्वस्थता, सात्विकता तथा पवित्रता नष्ट हो रही है। सांस्कृतिक जीवन ध्वस्त हो गया है।

'राजन्! क्या आपकी उपस्थिति में, आपकी राजसत्ता में संस्कृति का इस प्रकार अधःपतन होगा? क्या राक्षसी विचारधारा का प्रसार होगा?"

राजा ने कहा-"गुरुवर! आप चिंता न करें। मेरा पुत्र ऋतुध्वज शूरवीर है। संस्कृति के प्रति उसका अत्यन्त प्रेम है। वह पातालकेतु और उसके सहायक राक्षसों को कण्ठस्नान कराके ही चैन लेगा।"

ऋतुध्वज सचमुच में शूर और पराक्रमी था। उसकी रग-रग में यौवन का रक्त उछलता था। उसमें आकाश को बांधने और पर्वत को चूर्ण करने की अदम्य शक्ति थी। दैवी-संस्कृति के प्रति उसकी अदम्य निष्ठा थी। वह चतुर अश्वारोही था। दिव्य घोड़ा उसके लिये तैयार ही था। उसने नम्रतापूर्वक गालव ऋषि को वचन दिया-"गुरुवर! आप निश्चित रहें, मैं राक्षसों के पंजे से अवश्य आश्रम को मुक्त करूंगा।" यह कहकर वह चतुर घुड़सवार घोड़े पर सवार होकर क्षण भर में आँखों से ओझल हो गया।

'अश्वं, शस्त्रं, शास्त्रं, वीणा, वाणी, नरश्च, नारीश्च पुरुष विशेषं प्राप्त भवंति योग्यायोग्य' गालवमुनि ऋतुध्वज को मन ही मन आशिर्वाद देकर अपने आश्रम के लिये लौट पड़े।

रणवीर ऋतुध्वज पिता की आज्ञा से पातालकेतु के साथ अकेले ही युद्ध करने चला गया। धन्य है राजा शत्रुजीत! जिसने अपने एकमात्र पुत्र को संस्कृति रक्षण के हेतु हँसते-हँसते मृत्यु के मुख में जाने की अनुमति प्रदान की।

ऋतुध्वज ने पातालकेतु के दरबार में पहुँचते ही उसे सूचना और चेतावनी दी कि उसकी प्रजा को गालव ऋषि के आश्रम में प्रवेश नहीं करना होगा। परन्तु सत्ता-सम्पत्ति के नशे मे उन्मत्त पातालकेतु ने इसकी अवहेलना की। फलतः युद्ध हुआ। पातालकेतु पराजित होकर भाग गया। ऋतुध्वज ने उसका पीछा किया। किन्तु वह अपनी निकृष्ट आसुरी विद्या की शक्ति से पानी के अन्दर छिप गया। ऋतुध्वज ने उसको ढूँढने का प्रयत्न किया, परन्तु वह हाथ नहीं आया। इससे उसको अत्यन्त दुःख हुआ।

घूमते-घूमते ऋतुध्वज एक उद्यान में विश्राम करने लगा। वहाँ उसने दो सौन्दर्यवान युवतियों को घबड़ाई हुई स्थिति में परस्पर बातचीत करते हुये देखा। उनमें से एक तो स्वर्ग की परी के सौन्दर्य को भी मात देने वाली थी।

ऋतुध्वज ने उनसे पूछा-"यह उद्यान किसका है? आप कौन हैं?" ऋतुध्वज के चेहेरे पर उसके यौवन की प्रभा और तेजस्विता झलक रही थी। उसके दिव्य मुखमण्डल को देखकर युवतियों ने पूछा-"आप कौन हैं?" ऋतुध्वज ने कहा-"प्रथम प्रश्न मैंने पूछा है, इसलिये पहिले मुझे उत्तर मिलना चाहिये, फिर मैं आपके

पातालकेतु का बध करने के पश्चात् उसने राक्षस-प्रजा को चेतावनी दी कि वह ऋषि-आश्रम में प्रवेश न करे तथा स्वयँ सांस्कृतिक और दिव्य जीवन जिये। आश्रम को राक्षसों के चंगुल से मुक्त कर उनसे उसने भी कहा कि वे भोगी और विलासी जीवन से सदा दूर रहें। तत्पश्चात् मदालसा को लेकर वह अपने राज्य की ओर चल पड़ा।

शत्रुजीत अपने पुत्र की विजय का समाचार सुनकर आनन्द-मग्न हो गया। विजयी कुँवर का स्वागत करने के लिये वह आतुर था। अपने विजयी भावी राजा के दर्शन और स्वागत करने के लिये सम्पूर्ण नगर उमड़ पड़ा। मदालसा के तेज और सौन्दर्य को देखकर लोग स्तब्ध रह गये। दोनों ने माता-पिता के चरण स्पर्श किये। रानी ने कौतूहलपूर्वक पूछा कि वह किसे अपने साथ ले आया है? ऋतुध्वज ने आदि से अन्त तक सारी घटना कह सुनाई और मदालसा का परिचय दिया। मदालसा जैसी दिव्य बहू को पाकर राजा-रानी हर्षित हो गये।

रानी के मन में तनिक शंका उत्पन्न हुई कि विश्ववसु के कुल में जन्मी, दैवी-वैभव में पली मदालसा अपने घर में किस प्रकार रह सकेगी? मदालसा ने रानी की शंका का समाधान कर दिया। उसने अपने सद्व्यवहार, विवेकबुद्धि और अन्तःकरण के प्रेम से सम्पूर्ण राजपरिवार को जीत लिया। उसने अपनी प्रेममय मधुर वाणी से सबको अपना बना लिया।

मदालसा धीरे-धीरे राज-कार्य में भी सहयोग करने लगी। वह वेश बदलकर राज्य में घूमती और राज्य की स्थिति का अध्ययन करती थी। ऋषि-पत्नियों को लेकर घर-घर जाती और सात्विक तथा कृतज्ञतापूर्ण जीवन की शिक्षा देती थी। वह कहती थी-"यदि भगवान के प्रति कृतज्ञता व्यक्त नहीं करोगे तो फिर माता-पिता और समाज के प्रति-कृतज्ञता को भूल जाओगे। कृतघ्नी जीवन श्वान के जीवन से भी बदतर है। केवल अपना ही स्वार्थ देखना और खा-पीकर आनन्द करना, यह मानव जीवन नहीं, पशु जीवन है। उसने स्त्री-शिक्षण और स्त्री-सुधार का कार्य भी हाथ में लिया वह कहती थी-"यदि स्त्री सुशिक्षित और सुसंस्कृत होंगी तो वह संतति में-प्रजा में सुसंस्कारों का सिंचन कर सकेंगी।" स्त्री-सुधार और उद्धार का कार्य करने वाले आज भी मदालसा का नाम स्मरण करते हैं। उसने समस्त राज्य को ही सुसंस्कारी और सुसंस्कृत बना डाला था।

मृत्युलोक का मानव यदि सुख-चैन का जीवन व्यतीत करने लगे तो कौन जाने, क्यों विधाता को यह सहन नहीं होता? इसके पीछे क्या रहस्य है, इसको वही जानता होगा। इस सुखी दम्पत्ति के ऊपर भी दुःख के बादल घिर आये!

पातालकेतु का भाई तालकेतु भी राक्षसी विचारधारा का था। वह अपने भाई का बदला लेने के लिये कटिबद्ध था। उसने ऋतुध्वज की हत्या कर मदालसा को

आजीवन कष्ट में डालने की योजना बनाई। उसमे सामने आकर लड़ने की हिम्मत नहीं थी। इसलिये उसने कुटिल नीति का आश्रय लिया।

एक दिन ऋतुध्वज वन-विहार करते-करते राज्य से दूर निकल गया। तालकेतु मार्ग में झोपड़ी बनाकर साधु के वेश में रहता था। राक्षस लोग अपने स्वार्थ के लिये साधु भी बन जाते हैं-ऋषि भी बन जाते हैं और सात्विकता के नाम पर लोगों को ठग कर अपना स्वार्थ सिद्ध करते रहते हैं। ऋतुध्वज को आता देखकर तालकेतु ने समाधि-मुद्रा का ढोंग बना लिया। ऋतुध्वज ने अपने सरल स्वभाव से उसे ऋषि समझा और घोड़े से उतरकर उसे प्रणाम किया।

साधु को नमस्कार करने के पश्चात् उसने उसका परिचय पूछा। साधु ने कहा—"मैं विद्वान वीतराग संन्यासी हूँ, तपस्या करता हूँ। मैंने अपना जीवन भगवद् कार्य के लिये लगा दिया है। अब इस जर्जर देह को त्यागने की इच्छा है, परन्तु देह विलीन करने के लिये ......'

ऋतुध्वज ने कहा— "तो भगवन! किस बात कि कमी है?" वह बोला— "इसके लिये यज्ञ करना पड़ता है और यज्ञ के लिये धन कि आवश्यकता होती है। मैं अयाचक ब्राह्मण धन कहाँ से लाऊं? यह तो आप जैसे राजाओं के लिये ही सम्भव है।"

ऋतुध्वज ने अपने गले से हीरों की माला उतारकर उसे देते हुये कहा— "इस समय मेरे पास यही है, इससे शायद आपका कार्य हो सके। यदि अधिक धन की आवश्यकता हो तो आप अवश्य मुझे मिलें।"

साधु ने पूछा— "आप इस तरफ फिर कब लौटेंगे?"

"लगभग दो महीने बाद" यह कहकर उसने घोड़ा भगा दिया। तालकेतु [illegible] से उसे देखता रहा। उसने अपना दाँव पेंच चलाना प्रारम्भ कर दिया। वह माला लेकर ऋतुध्वज के नगर में गया। उसने शत्रुजीत को ऋतुध्वज की माला दिखाकर तथा मिथ्या शोक व्यक्त करते हुये कहा कि उसे सिंह ने मारकर खा डाला है।

शत्रुजीत की राजधानी में शोक के बादल छा गये, सारे नगर में सन्नाटा छा गया। राज्य भर में [illegible] की [illegible] व्याप्त हो गई। प्रत्येक पर शोक की काली चादर सी तन गयी।

म[illegible]-रानी के लिये यह करारी चोट थी। इकलौता राजकुमार, [illegible] उसे सिंह ने मारकर खा लिया! इस समाचार को सुनने की [illegible]
[illegible] देह-त्याग कर दिया। [illegible]
[illegible]
[illegible]

संस्कृति के लिये मौत को हाथ में लेकर फिरने वाले महान योद्धा तथा मातृ-स्नेह देने वाली नवयुवती मदालसा को खो दिया था।

इस घटना के दो सप्ताह पश्चात् लोगों ने ऋतुध्वज को आते हुये देखा। उसके चेहरे पर वही दिव्य तेज झलक रहा था। लोग उसे आश्चर्यचकित होकर एक टक देखते रहे। बहुत से लोग भय से अवाक् हो गये। वे सोचने लगे यह ऋतुध्वज है या उसका प्रेत ?

ऋतुध्वज ने जाकर पिता को प्रणाम किया। शत्रुजीत उसे आँख फाड़-फाड़ कर देखने लगा। ऋतुध्वज ने राजा की अर्धचेतना भंग करते हुये कहा-" पिताजी! यह क्या बात है ? सभी नगरवासी और आप भी मेरी ओर आँख फाड़-फाड़ कर देख रहे हैं ? नगर की श्मशान-शांति मुझे भयानक लग रही है। आप प्रजा सहित कुशल तो हैं न ?"

राजा के होश ठिकाने आये। उसने ऋतुध्वज को छाती से लगा लिया। उसके मुँह से सहसा निकल पड़ा-" बेटा! तू जीवित है ?" उसने आगे कहा-" बेटा! तेरे जाने के बाद यहाँ एक ऋषि आया और फूट-फूट कर रोने लगा। उसने कहा कि ऋतुध्वज को शेर ने मार डाला है। मैंने जब यह कहा कि मेरे पुत्र को यमराज भी नहीं मार सकता तो उसने क्रोधित होकर कहा कि मेरे शब्दों पर अविश्वास! और वह शाप देने के लिये तत्पर हो गया।"

" परन्तु पिताजी! आपने केवल शब्दों पर कैसे विश्वास कर लिया ?" राजा ने हीरों की माला दिखाते हुये कहा कि ऋषि ने अपने कमंडल से यह माला निकालकर तुम्हारी मृत्यु हो जाने का प्रमाण दिया। ऋतुध्वज समझ गया कि यह सब उस ढोंगी साधु का प्रपंच है। उसने अपनी गल्ती स्वीकार कर ली।

ऋतुध्वज ने पूछा-" परन्तु माताजी कहाँ है ? मदालसा कहाँ है ?" यह सुनते ही राजा के नेत्रों से आँसुओं की धारा बहने लगी।

" पिताजी! पिताजी!!..." राजकुमार ने संवेग में आकर अपने पिता का हाथ पकड़ लिया।

" क्या कहूं बेटा! मदालसा तो सती हो गई। उस कुलश्रेष्ठ महिला को मेरा अनन्त प्रणाम है। इस कुल में आकर वह अपनी कीर्ति पर स्वर्ण कलश चढ़ा गई है। बेटा! तेरी मृत्यु का समाचार सुनते ही उसने अपना शरीर त्याग दिया। कितना भव्य प्रेम था उसका! धन्य है वह स्त्री! मैं उस दिव्य मूर्ति की उपासना करता हूँ।"

ऋतुध्वज यह सुनकर स्तम्भित रह गया। वह मन ही मन में रोकर अपना दिल हल्का करना चाहता था, परन्तु कर नहीं सका। अपनी तनिक सी गल्ती के लिये वह पश्चाताप कर रहा था। अब उसका मन राज-काज में भी नहीं लगता था।

ऋतुध्वज का शोक-संतप्त जीवन उसके नाग-मित्रों के लिये असह्य हो गया। उन्होंने ऋतुध्वज को दूसरी शादी करने के लिये प्रेरित किया, परन्तु उसने स्पष्ट इनकार करते हुये कहा—"मेरी पत्नी एक ही हो सकती है और वह है—मदालसा। मेरे शरीर पर मेरे पिता का, प्रजा का और ऋषियों का हक है, इसीलिये उसे टिका रखा है। मेरे अन्दर का प्राण चला गया है, केवल जड़ देह बाकी है।

ऋतुध्वज की माता ने भी उसको समझाया कि वंश चलाने के लिये कर्त्तव्य के रूप में उसे शादी करनी ही पड़ेगी। उसने कहा—"माँ! मैं अब इस वंश को जीवित रख सकूं यह सोचना ही गलत है। स्मृतिकारों ने कहा है—जो अति प्रभावी वंश होते हैं, वे शीघ्र समाप्त हो जाते हैं। हमारा रक्त आवश्यकता से अधिक तेजस्वी है, शायद इसीलिये भगवान ने मदालसा को उठा लिया होगा।" ऋतुध्वज को कोई अपने संकल्प से विचलित नहीं कर सका।

ऋतुध्वज के नाग-मित्रों से उसका दुःख नहीं देखा गया। उन्होंने अपने राजा के पास जाकर प्रार्थना की कि वे यमराज के यहाँ से मदालसा को वापस लावें।

नागराज अश्वतर महान पुण्यशील थे। भगवान के दरबार में उनके शब्दों का मूल्य था। यदि वे चाहते तो मदालसा को वापस ला सकते थे। इसीलिये नागपुत्रों ने उनसे प्रार्थना की। अश्वतर बोले—"बेटा! जिस यमराज के यहाँ चन्द्र-सूर्य का भी क्षय होता है, वहाँ इस मानव को कौन पूछेगा?"

अश्वतर के पुत्र ने कहा—"पिताजी आप जो कह रहे हैं, वह निर्बलों का तत्त्वज्ञान है। ऋतुध्वज ने सारी दुनिया पर उपकार किये हैं। आप इस बात को भूल गये हैं कि ऋतुध्वज और मदालसा ने अपने खून की एक-एक बूंद को नागलोक की प्रतिष्ठा में बहाया है। आज नागलोक की जो प्रतिष्ठा है, वह उसीकी देन है। यदि यह कहूँ कि उसने भगवान पर भी उपकार किया है तो अत्युक्ति नहीं होगी। उसने अपने जीवन का एक-एक क्षण भगवान के कार्य के लिये खर्च किया है। उसने अयाचक वृत्ति को धारण किया है। भगवान ने उसकी गुणशील साध्वी पत्नी को उठा लिया फिर भी उसको शिकायत नहीं है। ऐसे निःस्वार्थ और कर्तृत्ववान व्यक्ति को उसकी पत्नी मिलनी ही चाहिये। यह काम तो केवल आपका है, आप में इसके लिये शक्ति भी है। आपको यह कार्य करना ही होगा।

नागराज अश्वतर के लड़के ने यह [illegible] किया था, पुत्र के आग्रह को अश्वतर टाल नहीं सके। वे सीधा [illegible] कैलाश पहुँच गये। [illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

नाम घर-घर पहुँचाया, आपने उस पर इतना अन्याय क्यों किया? उसकी दिव्य-पत्नी को छीनकर उसके दिव्य संसार को वीरान क्यों किया? उसके किस पाप के दंडस्वरूप आपने ऐसा किया है? प्रभु! आप कृपासिंधु हैं, आप यदि उसका दुःख दूर नहीं करेंगे तो कौन करेगा?"

भगवान शंकर ने उत्तर दिया-"मनुष्य अपने प्रारब्ध के आधीन है। उसका प्रारब्ध वैसा होगा तो मैं क्या कर सकता हूँ?"

"भगवान! ये शब्द आप कह रहे हैं? आप उसके प्रारब्ध को नहीं बदल सकते? फिर तो लोग आपके अस्तित्व पर ही शंका करने लगेंगे। मैं आपसे भीख नहीं माँग रहा रहूँ। मैं (तपस्वी) अश्वतर कह रहा हूँ कि आप को मदालसा को लौटाना ही पड़ेगा।"

सृष्टि-नियन्ता भगवान अपने भक्तों के वश में होते हैं। वे अपने लाडलों के गिड़गिड़ाने अथवा धमकी से भी वश में हो जाते हैं। भगवान शंकर अश्वतर की भक्ति, तेजस्विता और दृढ़ता से प्रसन्न हो गये। उन्होंने मदालसा को लौटा दिया। अश्वतर उसे लेकर नाग लोक में वापस आ गये।

नागराज ने ऋतुध्वज को नागलोक में आने का निमंत्रण दिया। नागराज ने ऋतुध्वज का ठाठ-बाट से शाही स्वागत-सम्मान किया। ऋतुध्वज ने कहा-"मदासला के जाने के बाद मुझे इन बातों में आनन्द नहीं रहा, मैं अब निष्पाप बन गया हूँ..." इतना कहते-कहते ही सामने से मदालसा को आते देखकर वह आश्चर्य चकित हो गया। मदालसा का मुख-मण्डल अब पहिले से भी अधिक सुन्दर, भव्य और तेजस्वी बन गया था। वह उसे अनिमेष दृष्टि से देखता ही रह गया।

अश्वतर ने उसकी समाधि भंग करते हुये कहा-"आज तक मदालसा एक स्त्री थी, परन्तु अब वह प्रभु-प्रसाद है। उसे स्वीकार करो।"

"पिताजी! मैं आपका ऋण कैसे चुकाऊँ? मुझे आशीर्वाद दीजिये कि मेरी वृत्ति प्रभु चरणों में रहे और मैं अपनी सम्पूर्ण शक्ति प्रभु कार्य में लगाऊँ।" ऋतुध्वज ने कृतज्ञतापूर्वक नागराज को नमन किया।

"बेटा! तुम धन्य हो। तुम्हारे लोकोत्तर कर्तृत्व के कारण सृष्टि के सर्जक को अपना नियम तोड़कर तुम्हें मदालसा प्रसाद के रूप में वापस करनी पड़ी है। धन्य है मदालसा और धन्य है तुम्हारा दाम्पत्य जीवन। 'यावच्चन्द्रदिवाकरौ' तुम्हारा जीवन सौरभ सृष्टि में फैलता रहे।" ऐसा कह अश्वतर ने दोनों को प्रणाम किया।

ऋतुध्वज और मदालसा के पुनर्मिलन ने गन्धवती पृथ्वी का सौरभ और भी बढ़ाया। उन्होंने लोगों के जीवन को प्रभुकार्य के द्वारा दिव्य बनाया। धन्य है ऋतुध्वज! धन्य है मदालसा!! और धन्य है शिवभक्त अश्वतर!!!

दीक्षा

सूर्योदय का समय था। कल-कल निनाद करती हुई सरिता बह रही थी। उस सरिता-तट के एक वटवृक्ष के नीचे एक तेजस्वी वयोवृद्ध तपस्वी नेत्र बंद किये हुये ध्यान-मग्न होकर बैठा था। बाल-रवि की सुनहरी किरणों से वृद्ध की दाढ़ी चमक रही थी। उसका मुखमण्डल उसकी तेजस्विता, दिव्यता, भव्यता, विद्वत्ता एवं तपश्चर्या की झांकी कराता था। तपस्वी के सामने २२-२३ वर्ष का एक नवयुवक नतमस्तक होकर हाथ जोड़े गुरु की आँखों के खुलने की प्रतीक्षा में खड़ा था।

[illegible] जगत् के वातावरण से दूर अपार्थिव सृष्टि में मग्न तथा भगवद्भक्ति में लीन होकर '[illegible]' में चित्त को समर्पित किये हुये गुरु कब आँखें खोलें और कब उनकी परम मांगलिक पवित्र दृष्टि अपने ऊपर पड़े, इसकी वह आतुरता से राह देख रहा था।

गुरु ने आँखें खोलीं और उनकी पावन दृष्टि सामने नत-मस्तक खड़े नभग पर पड़ी। नभग कृतकृत्य हो गया। गुरु ने प्रेम से पूछा—"क्यों नभग! कैसे आया?"

नभग ने नम्रता पूर्वक कहा—"गुरुदेव! आपने वात्सल्य प्रेम से पन्द्रह वर्ष तक मेरा पालन-पोषण कर मुझे ज्ञान और [illegible] शक्ति का दान कर मुझे पुष्ट किया है। मैंने इस [illegible] के आश्रय में [illegible] आपसे अलग होने की इच्छा नहीं होती, परंतु कर्तव्य इसके लिए प्रेरित कर रहा है। आप आज्ञा प्रदान करें, तो [illegible] इस [illegible] को [illegible] से [illegible] में प्रवेश करूँ।"

तपोवन से विद्याभ्यास करने के पश्चात् पूर्ण तेजस्वी युवा बनकर ही वापस आता और तभी सभी के स्नान-सूतक आदि क्रियायें एक साथ ही सम्पन्न करता था।

गुरु ने कहा-"नभग! तेरी शिक्षा पूर्ण हो चुकी है। तूने मेरे नाम को उज्वल किया है। तुझे देखकर मेरा मन प्रसन्न हो उठता है और हृदय हर्ष से फूला नहीं समाता। पन्द्रह वर्ष पूर्व जब तू अपने पिता की उंगली पकड़कर आश्रम में आ रहा था, उस समय मैं इसी वट-वृक्ष के नीचे बैठा था। तूने दौड़ते हुये आकर मुझे नमस्कार किया था। वह दृश्य मुझे आज भी याद है।

नभग! तेरे पिता ने गद्‌गद् होकर कहा था-'गुरुजी! अपने कलेजे के टुकड़े को आपके चरणों में रख रहा हूँ। इसे ऐसी शिक्षा दीजिये कि वह मेरा नाम उज्वल कर मेरे वंश का कुल-दीप बने। मेरे तीन लड़कों ने तो पढ़ा नहीं है। बड़ा लड़का इक्ष्वाकु तो कहता है कि पढ़ने की आवश्यकता ही क्या है? आपकी जागीर है, आपने मेरे लिये पैसा भी जमा करके रखा है। मुझे पैसा कमाने तो जाना नहीं है, तब किसलिये पढ़ूँ? पर मेरा नभग अवश्य पढ़ेगा।'

कितनी क्षुद्र मनोवृत्ति है यह? क्या पेट भरने के लिये ही पढ़ना है? पढ़ाई का जीवन में इतना ही मूल्य है? यदि पेट भरने के लिये ही पढ़ना है, तो मानव-कुत्ता, गधा आदि पशुओं से भी निकृष्ट है, जो बिना पढ़े लिखे भी अपना पेट पाला करते हैं।"

"नभग! समाज का एक बहुत बड़ा वर्ग पढ़ाई के महत्व को ही नहीं समझता। सद्‌विचारों को समझने, जीवन में उतारने और पचाने के लिये पढ़ाई की आवश्यकता है। अपने पूर्वजों एवँ ऋषियों ने संस्कृति को खड़ी करने और टिकाने के लिये क्या-क्या प्रयोग किये हैं, उन्हें जानने तथा मानव और सृष्टि, मानव और भगवान के सम्बन्ध को समझने का नाम ही पढ़ाई है। मैं कौन हूँ? कहाँ से आया हूँ? मुझे कहाँ और किस तरह से जाना है? इन प्रश्नों का विचार करते-करते, उनके समाधान के हेतु जो शिक्षा मिलती है, उसे ही पढ़ाई कहते हैं। संक्षेप में जीवन-विकास करने वाली शिक्षा को ही पढ़ाई कहते हैं। मात्र पेट भरने के लिये जो पढ़ाई होती है, वह असंस्कारिता और जंगलीपना है। तेरे पिता तेरी पढ़ने की तीव्रतम इच्छा को देखकर तुझे यहाँ लाये थे। नभग! वे तुझको मेरे पास सौंपकर भरे हुये दिल और भारी हृदय से वापस लौटे थे।"

गुरु की बातें सुनकर नभग के सामने भूतकाल और पिता की विदाई का चित्र खड़ा हो गया। पिताजी की आँखों से प्रवाहित होने वाली अश्रुधारा का स्मरण आते ही उसके नेत्रों से आँसुओं की गंगा बहने लगी। आज पन्द्रह वर्ष पश्चात् भाव-पूर्ण

विदाई का वैसा ही प्रसंग था। गुरु-शिष्य दोनों की आँखों में आँसू थे। तपोवन के शान्त, दिव्य, भव्य, प्रेममय तथा प्राकृतिक सौन्दर्य के वातावरण को छोड़कर जाना था।

नभग तपोवन में स्वयं पढ़ता, नये आने वाले विद्यार्थियों को पढ़ाता तथा अवकाश के समय गाँवों में जाकर लोगों को दिव्य एवँ सांस्कृतिक जीवन जीने का पाठ पढ़ाता था। शिक्षा की यही सच्ची प्रणाली है।

गुरु का हृदय भाव से भर आया था, वे नभग के लिये 'जा' भी नहीं कह सकते थे और उसे रोक भी नहीं सकते थे। उसी प्रकार नभग भी न तो 'जाता हूँ' कह सकता था और न रुक सकता था। कितने ही क्षण इस मौन वातावरण में व्यतीत हो गये। अन्त में गुरु ने मौन भंग करते हुये कहा—"नभग ! तू जाने के लिये तैयार है-खुशी से जा। मेरे कटु वचनों को भूल जाना। मुझे भी भूल जायेगा तो कोई बात नहीं, परन्तु जीवन-सिद्धान्तों और भगवान को न भूलना तथा स्वाध्याय में प्रमाद न करना—'स्वाध्यायान्मा प्रमदः'।"

नभग की आँखों से आँसू छलकने लगे। उसने कहा—"गुरूजी ! आपने कभी भी मेरे लिये कटु-वचन नहीं कहे और न कभी मुझे आपका कहना कटु लगा। आपके चरणों के पास बैठकर मैंने जीवन का पाठ सीखा है। आपने मुझे शिक्षा ही नहीं दी, प्रेम पूर्वक मेरा जीवन-विकास भी किया है।

गुरूजी ! एक बार आप विद्यार्थियों से [illegible] पर रहे थे, तभी नगर राजा हमारे तपोवन में पधारे थे, परन्तु आपने उनकी ओर ध्यान भी नहीं दिया था। आपकी तेजस्विता को देखकर मैं मन ही मन में प्रसन्न हुआ और मैंने इनका अनुसरण करते हुये उनका तिरस्कार किया था। लेकिन चार दिन पश्चात् ही नगर-सेठ के आने पर आपने उनका स्वागत कर उनको आसन प्रदान किया। उस समय मेरी अवस्था छोटी [illegible] थी। इसलिये मेरी बालबुद्धि में इसका स्पष्टीकरण नहीं हो सका था।

आपने स्पष्ट करते हुये कहा था—'श्रीमंतों के वैभव से प्रभावित नहीं होना चाहिये। परन्तु उन्हें हीन भी नहीं समझना चाहिये। वे [illegible] कर्म से [illegible] पुरुष होते हैं।

नभग ने जब गुरुदक्षिणा की प्रार्थना की तो गुरु ने कहा–' मैंने तुझे ज्ञान-दान देकर जीवन के जो पाठ पढ़ाये हैं, उनके अनुसार जीवन जी कर मेरा नाम उज्वल कर, यही मेरी गुरु-दक्षिणा है । तेरा जीवन तेजस्वी और सुन्दर बने यही कामना है । एक बात ध्यान में रखना—

धैर्यं यस्य पिता क्षमा च जननी शान्तिश्चिरं गेहिनी ।
सत्यं सूनुरयं दयाच भगिनी भ्राता मनः संयमः ॥
शय्या भूमितलं दिशोऽपि वसनं ज्ञानामृतं भोजनम् ।
एते यस्य कुटुम्बिनो वद सखे कस्माद् भयं योगिनः ॥

तुझे भगवान के साथ सम्बन्ध जोड़ना है, इसलिये तुझे धैर्य रखना पड़ेगा। जो बिगड़े हैं, उनसे घृणा न कर उनके प्रति क्षमा दृष्टी रखना । मानव-समाज रुग्ण हो गया है, तुझे उसका उपचार करना है। क्षय–रोगी के पास बैठने से क्षय रोग हो जाता है। परंतु पहलवान के पास बैठने पर कोई पहलवान नही बनता। उसके लिये व्यायाम करना पड़ता है। इसी प्रकार दुर्गुण अपने आप फैलते हैं, परंतु सद्‌गुणों का प्रचार करना पड़ता है। यह कार्य तुझे करना है, यही प्रभु–कार्य है।'

नभग ने कहा–' गुरुजी ! समाज में फैली आसुरी--वृत्ति का विनाश कर, सात्विक वृति के प्रचार के भगीरथ कार्य के लिये वित्त शक्ति की अत्यन्त आवश्यकता है, यह मैं अनुभव करता हूँ। इसलिये मेरी गुरु–दक्षिणा देने की तीव्र इच्छा है, आप आज्ञा कीजिये।'

गुरु ने कहा—' बेटा ! कार्य होता ही रहता है। प्रभु उसको संभालते और संचालित करते रहते हैं। उसकी शक्ति से ही सब कुछ हो रहा है।' यह कहते हुये उन्होने नभग को आशीर्वाद दिया—' सदा सुखी रहो ' और अपना मुँह फेर लिया। नभग नत–मस्तक होकर अनिमेष नेत्रों से गुरु को आश्रम की ओर जाते देखता ही रहा जब तक कि वे दृष्टी से ओझल नहीं हो गये।

भीगे नेत्रों से नभग ने आश्रम से विदाई ली। गुरु की मधुर स्मृति, उनके पढ़ाये हुये पाठ और जीवन–दर्शन के उपदेश आँखों के सामने आते जाते थे। प्रभु के पास बैठकर चित्त एकाग्र करके आन्तरिक भक्ति और प्रभु के विचारों को गाँव गाँव, घर–घर में पहुँचाना बहिर्भक्ति है। इन विचारों का चिंतन करते–करते वह संध्या समय एक आश्रम के निकट पहुँचा। नभग ने आचार्य को नमस्कार किया। आचार्य ने पूछा– ' तुम्हारा क्या नाम है ? '

उसने कहा–' नभग– '

'कौन ! नभग !' आचार्य का हृदय आनन्द से उमड़ आया। उन्होंने कहा—'अब तुम रात्रि को यहीं रहोगे। मैं तुम्हें आश्रम से नहीं जाने दूँगा।' नभग की कीर्ति और जीवन-सुगन्ध पहिले ही वहाँ पहुँच चुकी थी। आचार्य उसे प्रेम-पूर्वक आश्रम में ले आये।

नभग ने पन्द्रह वर्ष तक ज्ञानामृत का पान कर उसे पचाया था। आचार्य की आज्ञा से रात्रि में उसका अत्यन्त सुन्दर, भव्य और तेजस्वी प्रवचन हुआ। उसके मुख से निकलने वाले प्रत्येक शब्द में जीवन की झंकार होती थी। प्रवचन के समाप्त होने पर ग्रामवासी तितर-बितर हो गये। नभग भी आचार्य के घर की ओर मुड़ा। पास ही एक पेड़ के नीचे एक वृद्ध नभग की ओर अनिमेष नेत्रों से देख रहा था। जैसे ही वह समीप आया, उसने दौड़कर उसे गले लगा लिया। आँखों से अश्रु प्रवाहित करते हुये वह बोल उठा—'बेटा नभग !'

पिता की आवाज को पहिचान कर नभग ने साश्चर्य प्रणाम करते हुये प्रश्न किया—'पिताजी ! आप यहाँ कैसे ? मेरे भाई कहाँ हैं ? सब कुशल तो है न ?'

पिता ने अत्यन्त व्यथित होकर कहा—'हाँ, कुशल तो हैं, परन्तु गोबर के कीड़ों के समान घृणित जीवन व्यतीत करते हैं। उनके भोग-विलासी जीवन को देखकर मैं बेचैन हो गया। क्या खाना, सोना, लड़ना और भोग-विलास करना, यही जीवन है ? उनकी ऐसी वृत्ति से मुझे घृणा हो गई है। मैं घर बार त्याग कर प्रभु-भजन और प्रभु कार्य में अपना अन्तिम समय व्यतीत करता हूँ। बेटा ! तेरा यश और कीर्ति-गान सुनकर मेरी छाती फूली नहीं समाती, ईश्वर तुझे सद्बुद्धि और सद्-बुद्धि दे। तेरे कारण हमारे कुल का उद्धार हो गया है।'

प्रधानाचार्य यह सब सुन रहे थे। उन्होंने वृद्ध की पीठी थपथपाते हुये कहा कि उन्होंने ऐसा क्यों नहीं बताया कि वे नभग के पिता हैं ! वे उन्हें सम्मान-पूर्वक रखते।

वृद्ध ने कहा—'मैं जानता था कि नभग के जीवन की सुगन्ध मेरे कारण नहीं, बल्कि उसके गुरु के कारण है। यदि उसमें मेरे ही संस्कार होते, तो वे मेरे अन्य पुत्रों में भी आते। मैं तो उसे संसार में लाने का निमित्त मात्र बना हूँ। इसमें मेरा कुछ भी कर्तृत्व नहीं है।'

आचार्य ने नभग के पिता का वन्दन करते हुये कहा—'आपकी इस निरहंकारी वृत्ति के कारण ही आप नभग के पिता हो सके हैं।'

आचार्य के जाने के पश्चात् नभग ने अपना सर पिता के चरणों में रख दिया और आँसुओं से उन्हें सींचा कर दिया। उसको यह किंचित् सहन नहीं होता था कि उसके पिता को घर से छोड़ कर आश्रम में आना पड़े।

नभग ने कहा—"पिताजी ! सुनता हूँ कि हमारी आर्थिक स्थिति अच्छी है। हमारी जागीर कितनी है ? गुरु दक्षिणा के रूप में गुरु के चरणों में रखनी है।"

पिता ने कहा—'बहुत बड़ी जागीर है। पर मैं विषाद के कारण उसे त्याग कर आ गया हूँ। तू घर जाकर अपना हिस्सा ले ले।'

पिता को नमस्कार कर, शीघ्र लौटने का आश्वासन देकर नभग चला गया। गाँव के निकट आते ही उसको सम्पूर्ण बाल्यकाल की स्मृतियाँ ताजी हो आईं। वृक्ष, नदी, तालाब की याद करते-करते वह घर पहुँच गया।

"ओ-हो-हो ! कौन, नभग ?" ऐसा कहकर बड़े भाई इक्ष्वाकु ने दौड़कर नभग को गले से लगा लिया। उसने कहा—"कुशल तो है न ? तू धन्य है, हमारे कुल का दीपक निकला है। तेरी कीर्ति सुनकर हम सब प्रसन्न हैं। अच्छा हुआ तू आ गया।"

दोपहर को भोजन करने के पश्चात् नभग एक कमरे में आराम कर रहा था। वह सोचता था कि अपने हिस्से के सम्बन्ध में भाई से किस प्रकार बातचीत करनी चाहिये। इसी समय पास के कमरे से भाभी की बातचीत उसके कानों में पड़ी। वह कहती है—

"तुम इस छोटे का हिस्सा खाकर बैठे हो, वह पूछेगा तो क्या उत्तर दोगे ? वह अपना हिस्सा छोड़ने वाला है क्या ?" इस पर भाई कहता है—

"अरे जा, जा ! बड़े हिस्से वाली आई। वह तो साधु है, साधु। उसे ऐसे ठगाऊँ कि...तू देखती जा। ऐसा कहकर उसने चुटकी बजाई।

भाई की बात सुनकर नभग का हृदय फटने लगा। उसे कल्पना भी न थी कि उसका भाई इतनी हीन मनोवृत्ति का होगा। पिता की बात उसे सत्य सिद्ध हुई। भाई और भाभी दोनों के लिये उसके मन में घृणा पैदा हो गई।

सायँकाल को सभी घर के चौक में बैठे थे, नभग ने अपने हिस्से की चर्चा प्रारम्भ की। इक्ष्वाकु ने कहा कि चार वर्ष पूर्व ही जमीन-जायदाद के हिस्से हो गये थे। नभग ने कहा—'इसीलिये तो मैं अपना हिस्सा माँग रहा हूँ।'

इक्ष्वाकु ने कहा :—'नभग ! तू तत्त्ववेत्ता, विद्वान, पूज्य और आदरणीय है। इसलिये तुझे वैभव का क्या करना है ? हम तो क्षुद्र संसारी, पामर जीव हैं, इसलिये हमें उसकी आवश्यकता है।' दूसरे भाइयों ने भी इक्ष्वाकु की बात का समर्थन किया और कहा वैसे हमने तेरा हिस्सा रखा हुआ है। सौजन्यता की मूर्ति वृद्ध पिताजी तेरे हिस्से में आते हैं। इसलिये तू उनको ले जा।'

नभग समझ गया कि सभी भाई उसे मूर्ख बनाकर पिता की सारी जागीर को हड़पना चाहते हैं। परन्तु वह गुरु–दक्षिणा में क्या देगा? वह इस विचार–सागर में डूब गया। 'डूबते को तिनके का सहारा' की तरह उसने भाभी से कहा—

"भाभी! तुम घर में बड़ी और माँ के स्थान पर हो। जब जायदाद के हिस्से किये गये होंगे, तब तुम अवश्य उपस्थित रही होगी। तुमने मध्यस्तता करते हुये मेरा हिस्सा क्यों नहीं रखवाया?"

उसने कहा– "देवरजी! मैं बीच में पड़ी तभी तो ससुर जी तुम्हारे हिस्से में आये।" नभग समझ गया कि जैसा भाई वैसी भाभी। उसने कहा इस घर में भगवान का वास नहीं है, सभी राक्षस रहते हैं। इसलिए वह वहाँ से खाली हाथ लौट आया।

आश्रम में आकार उसने पिता को नमस्कार किया। पिता ने हिस्से के संबंध में पूछा तो उसने कहा– "मेरे हिस्से में एक अमूल्य वस्तु आई है और वह मेरे सामने खड़ी है। मेरे पिता ही मेरा हिस्सा है। यह कहकर वह गद्‌गद हो गया।

पिता ने कहा–"बेटा नभग! दुखी मत हो।" उसने कहा–'मैं दुःखी नहीं हूँ, यह तो मेरा सद्भाग्य है। मुझे वृद्ध-पूजन व पितृ सेवा का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। मेरे पूर्व-जन्म के पुण्यों के कारण ही मुझे ऐसा सुअवसर मिला है।"

वृद्ध ने कहा–"नभग! नौजवान यौवन के नशे में, उन्मत्तता में यह भूल जाता है कि उसे भी कभी वृद्ध होना है। उसकी भी ऐसी ही उपेक्षा होगी। बेटा! इसमें उन लड़कों का भी क्या दोष है? जब सम्पूर्ण समाज ही [illegible] हो, तो यहाँ वे ही अपवाद कैसे बनें? जिस बैल ने जीवन भर हल खींचने में अपना पसीना बहाया हो, वृद्धावस्था में उसकी देखभाल कौन करता है? लोग उसे [illegible] बेच डालते हैं। अच्छा है कि उन लोगों ने मुझे बेच नहीं डाला।"

क्रिया ही भूल जाते हैं और यज्ञ अपूर्ण रह जाता है। राजा तो यज्ञ पूर्ण करने की हठ पकड़े बैठा है। अब क्या करें कुछ समझ में नहीं आता?"

पिता ने सारी कहानी नभग को सुनाई और कहा– "बेटा! धन कमाने का यह सुन्दर अवसर है।" नभग ने राजदरबार में जाकर यज्ञ को पूर्ण कराया। राजा अत्यंत प्रसन्न हुआ और दक्षिणा में नभग को अतुलित संपत्ति भेट की। नभग ने संपूर्ण संपत्ति को उठाकर गुरु के चरणों में रख दिया और प्रतिज्ञा की कि वह जो कुछ भी कमायेगा, उसे प्रभु कार्य में व्यय करेगा।

'प्रभु ने मुझे जो कुछ भी बौद्धिक एवँ शारीरिक संपत्ति दी है तथा उससे मैं जो वित्त अर्जित करूँगा, उसका उपयोग प्रभुकार्य में ही करूँगा।"

गुरु–भक्ति, पितृ–भक्ति और शिव–भक्ति से नभग मानव से देव हुआ। ऐसे नभग, उसकी गुरु–निष्ठा, पितृ–निष्ठा और प्रभु–निष्ठा के लिए शतकोटि प्रणाम।

— o —

उत्तम

बहुत पुराने जमाने की बात है। उत्तानपाद नाम के एक राजा की सुरुचि और सुनीति नाम की दो रानियाँ थीं। सुरुचि के पुत्र का नाम उत्तम और सुनीति का ध्रुव था।

ध्रुव बाल-भक्त था। वह दैवी जीवन बिताकर देव ही बन गया था। उसने लोगों के हृदय में अचल स्थान और कीर्ति प्राप्त की थी, इसलिये लोग ध्रुव के बारे में बहुत कुछ जानते हैं। परन्तु उसके भाई उत्तम के सम्बन्ध कुछ नहीं जानते। उसके बारे में बहुत कम लोगों को जानकारी है।

जिस प्रकार ध्रुव का जीवन तेजस्वी था, उसी प्रकार उत्तम का जीवन भी तेजस्वी एवं अलौकिक था। परन्तु भाई के अधिक उज्वल जीवन के कारण उत्तम का जीवन धुंधला पड़ गया और वह प्रकाश में नहीं आया। जहाँ ध्रुव आदर्श बाल-भक्त हुआ, वहाँ उत्तम एक आदर्श राजा हुआ है।

ध्रुव भक्त है, उसने अचल पद प्राप्त किया है, उत्तम को इसका गौरव था। ध्रुव के कारण वह स्वयं को महान समझता था। वह स्वयं शूर, कर्तव्यवान, [illegible], धर्मपरायण और प्रजा-पालक था। उसके राज्य में धर्म की प्रधानता थी। सज्जनों को उच्च स्थान प्राप्त था। दुर्जन उससे डरते थे। वह संस्कृति का उपासक और प्रचारक था। प्रभु-कृपा से उसको सब कुछ मिला था। विद्या, बुद्धि, शौर्य, [illegible], [illegible] किसी वस्तु की कमी न थी, किन्तु उसके भाग्य में अनुकूल पत्नी नहीं लिखी थी।

भगवान को न जाने कौन सा खेल खेलना होता है कि सर्वस्व देने पर भी एक बात ऐसी कमी रख छोड़ता है कि सभी-सभी प्रकार का सारा सुख ही [illegible] जाता है। पत्नी सुन्दर होगी, तो पति कुरूप होगा और पति रूपवान होगा तो

पत्नी कुरूप होगी। यदि दोनों सुन्दर होंगे, तो घर में दरिद्रता होगी। भगवान की लीला विचित्र है। उत्तम की पत्नी (रानी) बहुला अति सुन्दर, बुद्धिमान, चतुर, सभी गुणों से मण्डित थी, परन्तु पति के साथ सहमत नहीं होती थी। उत्तम उसे प्रेम से कोई बात समझाता तो वह उसका उल्टा अर्थ लगाती थी। वह प्रेम व नम्रता से उसके पास जाता, तो वह समझती कि वह मुझ पर लट्टू हो रहा है। वह हर बात में उत्तम के विपरीत चलती थी। एक पूरब तो दूसरा पश्चिम !

जगत में बहुत लोगों के संसार (गृहस्थ) ऐसे ही होते हैं। सब कुछ होते हुये भी पत्नी के साथ के मतभेद के कारण संसार कुसंसार और जहर के समान लगने लगता है। पति काम से थक कर घर आता है, तो पत्नी गाल फुलाये बैठी रहती है, रसोई नहीं बनाई है, चूल्हा ठंण्डा पड़ा है। ऐसा संसार सब कुछ होते हुये भी दुःखमय होता है।

उत्तम का भी ऐसा ही कष्टमय संसार था। एक दिन उत्तम के बचपन के मित्र आ गये। उत्तम ने बहुला से उनका यथोचित स्वागत-सत्कार करने के लिये कहा, परन्तु उसने साफ इनकार कर दिया। उत्तम ने उसे बहुत कुछ समझाया, पर वह उत्तम के मित्र स्नेह के भावों को कैसे समझ सकती थी। प्रतिदिन के विरोध से उत्तम खिन्न तो था ही, परन्तु आज के व्यवहार से तो वह बहुत ही दुःखी हुआ, साथ-साथ कुपित भी हुआ। संस्कारी और सात्विक वृत्ति के उत्तम ने एक बार पुनः बहुला को समझाने का प्रयास किया, परन्तु उसने कह दिया–'घर में बहुत से नौकर हैं, उनसे कहो।' इस उत्तर से तेजस्वी क्षत्रिय के रोष की सीमा न रही। उसने अपने मंत्री को बुलाकर आज्ञा दी कि बहुला को अभी निर्जन वन में छोड़ दिया जाए।

सुबह की महारानी शाम को कंगाल भिखारिन बन गई। राज-प्रासाद में दुग्ध-फेन के समान सुकोमल शैय्या में दास-दासियों से घिरी रहने वाली बहुला रानी अमावस्या की अंधेरी रात्रि में अकेले निर्जन वन में पेड़ के नीचे त्यक्ता बनकर बैठी है। मनुष्य का भविष्य क्षण भर में क्या हो सकता है, इसको कोई नहीं जानता। किसी सुभाषितकार ने कहा है—

> जामाता पुरुषोत्तमो भगवती लक्ष्मीः स्वयं कन्यका,
> दूतो यस्य बभूव कौशिक मुनिः यज्ञावशिष्टः स्वयम्।
> दाता श्रीजनकः प्रदान समये चैकादशस्थाः ग्रहाः,
> किं ब्रूमो भवितव्यतां हतविधे रामोऽपि यातो वनम्॥

स्त्री के लिये त्यक्ता बनकर जीवन व्यतीत करने के समान दूसरा दुःख नहीं हो सकता। परंतु भगवान इतने दयालु होते हैं कि दुःख देकर अलग नहीं हो जाते, बल्कि दुःख सहन करने की शक्ति भी देते हैं। यदि भगवान ने ऐसी शक्ति न दी होती, तो इस अंधेरी रात्रि में अकेली वहुला की क्या गति होती ?

प्रारंभ में वहुला का उत्तम पर अत्यधिक क्रोध था, परंतु ज्यों-ज्यों समय बीतता गया, उसका क्रोध कम होता गया। वहुला ने प्रातः उठकर देखा, तो सामने एक झोंपड़ी में एक भील और भीलनी आनंदकल्लोल करते हुये जीवन बिता रहे हैं। वह अन्तर्मुख होकर विचार करने लगी कि भील--भीलनी झोंपड़ी में रहकर भी आनंद ले सकते हैं, परंतु मैं महलों में रहकर भी आनंद नहीं ले सकी। उसका अन्तर्मन पश्चाताप की अग्नि में जलने लगा कि वह उत्तम से सहमत क्यों नहीं हुई ? मानव यदि विपत्ति पड़ने पर अकेला हो तो सहज ही भूत--काल की स्मृतियाँ जाग्रत हो जाती हैं।

वहुला को अपने विवाह काल की प्रतिज्ञा, सुहाग-रात, सुख--आराम, उनकी दिव्यता, भव्यता, याद आने लगी। उसे विचार आया कि यहाँ के ऋषि जो दुर्व्यवहार करने वाले दुर्जनों को भी क्षमा कर आत्मसात कर लेते थे और यहाँ मैं जो अपने इतने सुन्दर पति से एक रस नहीं हो सकी ? उत्तम जैसा पति किसी भाग्यवान को ही मिल सकता है। मैंने अपनी मूर्खता से इतना उज्ज्वल रत्न खो दिया है। मैंने उसे प्रेम नहीं दिया, उनकी आज्ञा का उल्लंघन किया और अपने मिथ्या अहंकार से स्वयं ही अपने सुन्दर संसार को स्वाहा कर दिया है।

[illegible] उत्तम इस घटना को भूलने का प्रयत्न करता है। [illegible] कहते हैं कि उसने उचित ही किया है। उत्तम [illegible] [illegible] है। [illegible] दिन प्रजा-हित में तत्पर और दक्ष उत्तम के पास एक [illegible] आया और उसने कहा--"राजा ! तुम्हारे राज्य में अंधेर है ! [illegible] है। जिसके कारण दुर्जनों का उत्पात बढ़ गया है। मेरा [illegible] हो गया है। कोई मेरी पत्नी को उठाकर ले गया है। मुझे मेरी पत्नी ला दो !"

उत्तम ने कहा--"यह मेरा कर्त्तव्य है। [illegible], मैं आपकी पत्नी को [illegible] वापस लाऊँगा। परंतु मैं आपकी पत्नी को कैसे [illegible]। आप [illegible] परिचय--चिह्न मुझे दे दीजिये।"

उत्तम–" अरे भाई ! ऐसी पत्नी से तुम्हें क्या सुख मिलता है ? गई तो जाने दो।"

ब्राह्मण–" इससे मेरा गृहस्थाश्रम समाप्त हो जायेगा।"

उत्तम–" तो मैं तुम्हारी नई शादी करा दूँगा।"

ब्राह्मण–" यह नीति–विरुद्ध है। मैं ऐसा असंस्कारी जीवन नहीं जी सकता। मैं ब्राह्मण देह लेकर आया हूँ, ऐसा अधर्म–आचरण क्यों करूँ ? यह जीवन तो सिर्फ पचास वर्ष का होगा, परन्तु मुझे तो भविष्य में सैकड़ों जीवन जीने हैं, मैं उन्हें भ्रष्ट क्यों करूँ ? यह स्त्री तो भगवान ने केवल पचास वर्ष के लिये जीवन–संगिनी दी है, यदि मैं उसे छोड़ दूँगा तो भगवान का द्रोही गिना जाऊँगा। मैं दूसरी शादी कर नीति और संस्कृति के मार्ग को छोड़कर टेढ़े–मेढ़े मार्ग पर क्यों जाऊँ ? विवाह-वेदी से बंधी हुई पत्नी को छोड़ने के लिये मैं तत्पर नहीं हूँ। भले ही आपने ऐसा किया है।"

ब्राह्मण के इस उत्तर से उत्तम को महान आघात लगा। उसने अपनी पत्नी का त्याग किया था। उसे ब्राह्मण के उत्तर से वस्तुस्थिति का सही बोध हुआ। उसे विवाह के समय अग्निदेव के समक्ष ली गई प्रतिज्ञा स्मरण हो आई कि 'एक साथ जियेंगे और एक साथ मरेंगे।' वह अन्तर्मुख होकर अत्यन्त दुःखित हुआ। 'अब पछताये क्या होत है। जब चिड़िया चुग गई खेत।' बाजी हाथ से निकल चुकी थी।

उत्तम घोड़ा कसकर ब्राह्मण–पत्नी को ढूँढने के लिये निकल पड़ा। उस काल में किसी की शिकायत पर तुरन्त कार्यवाही होती थी। आज तो उल्टा ही चित्र दिखाई देता है। राज्याधिकारी किसी की फरियाद सुनते ही नहीं, अधिक से अधिक वे कहते हैं–" तुम्हारी शिकायत नोट कर ली गई है।" उस समय राजा प्रजा–हित में अपनी जान तक दे देते थे।

उत्तम घूमते–घूमते एक ऋषि के आश्रम के पास आया। राजा को देखकर शिष्य–गण राजा के मधुपर्क–पूजन के सम्बन्ध में आपस में चर्चा करते हैं। एक शिष्य अपने सहपाठी से कहता है, राजा उत्तम को पूजन करना अधार्मिक है। यह सुनकर ऋषि कुटिया के बाहर आये। उत्तम समझ गया। उत्तम ने कहा–" मैं दोषी हूँ, मेरा पूजन मत कीजिये।" पुराने जमाने में प्रजावत्सल, धार्मिक राजाओं का ऋषियों द्वारा पूजन होता था। इसलिये ऋषि ने कहा–" रात–दिन जिनके (राजाओं) चरण दुनियाँ के कल्याण के लिये विचरण करते रहते हैं, उनका तीर्थ लेना चाहिये।"

राजा ने कहा—"परन्तु मैं इस योग्य नहीं हूँ, क्योंकि मैंने अपनी धर्म-पत्नी का त्याग कर बहुत बड़ा अपराध किया है।"

ऋषि ने राजा को सान्त्वना तथा मीठीफटकार भी दी। उत्तमने भी विचार किया कि भगवान ने मुझे जो साथी दिया, मुझे उस के साथ निभाना नहीं आया। लोग भगवान को गाली देते हैं, फिर भी भगवान करोड़ो-करोड़ों लोगों को निभाते हैं। उन्हें भोजन देते हैं, सुलाते, उठाते और उनके जीवन को चलाते हैं। भगवान का लड़का होकर मैं अपनी पत्नी को नहीं निभा सका।

राजा के पूछने पर ऋषि ने बताया कि अग्निहोत्री ब्राह्मण की पत्नी को बलाक नामक राक्षस ले गया है। राक्षस से हम समझते हैं कि वह बड़े मुँह और बड़े-बड़े दाँतों वाला होगा। परंतु वह तो खूबसूरत होता है, अच्छे-अच्छे कपड़े पहिनता है, तथा खूब ठाट-बाट से रहता है। रावण, दुर्योधन आदि सुन्दर, बुद्धशाली और हमारी ही तरह मनुष्य थे। अन्तर इतना था कि वे 'खाओ, पिओ और मौज करो' की मनोवृत्तिवाले भोगवादी थे। आज की भाषा में कहें, तो राक्षस अर्थात् गुंडा। आज भी राक्षसों की कमी नहीं है।

राजा बलाक का पता लगाकर उसके घर पर गया। बलाक ने राजा को देखकर उसका खूब स्वागत सत्कार किया। बलाक के चारों ओर अनेक सुंदर रूपवती स्त्रियाँ बैठी हुई थी। उनमें उसने ब्राह्मण-पत्नी नहीं देखी। राजा ने पूछा कि ये स्त्रियाँ कौन हैं, तो उसने बताया कि वे उसकी पत्नियाँ हैं।

राजा अपने मन में सोचता है। यह आदमी तो भला लगता है, उसने आदर-सम्मान भी अच्छा किया है। उसकी इतनी सौंदर्यवान स्त्रियाँ हैं, वह ब्राह्मण की कुरूप-स्त्री को क्यों उठा लायेगा? कहीं ऋषि ने ही तो झूठ नहीं कहा होगा? पर ऋषि झूठ क्यों बोले! राजा दुविधा में पड़ गया। वस्तुतः राक्षसों का दिखावटी व्यवहार ऐसा ही होता है, जिससे बड़े-बड़े बुद्धिमानों की बुद्धि भी चक्कर खा जाय। आज के युग में तो इन राक्षसों ने राज्याधिकारियों को मूर्ख बनाया हुआ है।

उत्तम ने दबे हुये स्वर में धीरे से पूछा--'मैंने कुछ ऐसा सुना है कि आप एक ब्राह्मण-पत्नी को उठाकर लाये हैं, क्या यह बात सत्य है?'

बलाक—"हाँ, सत्य है।"

उत्तम—"परंतु ऐसा करने का कारण क्या है?"

जिससे लोग हमसे नहीं डरते और हमसे टक्कर लेते हैं। इससे हमारे कारोबार में मन्दी आ गई है। पहिले हम लोगों से टैक्स वसूल करते थे, परन्तु लोगों ने अब उसे देना भी बन्द कर दिया है। राक्षसों (गुण्डों) का टैक्स राज्य की ही तरह होता है, परन्तु उसका अंश राज्य की अपेक्षा अधिक होता है तथा उसको वसूल करने के तरीके भी भिन्न होते हैं। इसे आज सभी लोग देखते और अनुभव करते हैं।

किसी ने ठीक ही कहा है—"सज्जनों के कार्य से दुर्जनों का स्वार्थ समाप्त हो जाता है।" वलाक का स्वार्थ भी वैसा ही था। उसने उत्तम से कहा—"हमारी आजीविका का प्रश्न है। ब्राह्मण उसमें बाधक है। पत्नी के न होने से वह यज्ञ नहीं कर सकेगा (वैदिक परम्परा के अनुसार यज्ञ सपत्नीक ही होता है)। यज्ञ न होने से लोग ब्राह्मणों के तथा भगवान के विचारों के सम्पर्क में नहीं आयेंगे और धीरे धीरे भगवान को भूल जायेंगे। उनके अन्दर की निर्भीकता और तेजस्विता क्षीण हो जायेगी और वे हमसे डरने लगेंगे। ब्राह्मण-पत्नी को उठा लाने का एक कारण यह भी है कि मैं राक्षस हूँ। इसलिये लोगों में ब्राह्मण की इज्जत-प्रतिष्ठा घट जायेगी कि उसकी स्त्री को राक्षस उठा ले गया है। फिर लोग ब्राह्मण की बात को नहीं मानेंगे।"

उत्तम, वलाक को समझाता है कि तुम ऐसा काम करना छोड़ दो, तुम्हारी आजीविका का प्रबन्ध मैं करूँगा। दूसरे की पत्नी को उठाना महा-पाप है। 'राम रखे वैसा रहना चाहिये वैसा,' भगवान जैसे स्थिति में रखे वैसा रहना चाहिये। ब्राह्मण की स्त्री को छोड़ दो और किसी की स्त्री को मत उठाओ।

वलाक उत्तम के उपदेश से चिढ़ गया और कहने लगा कि तुम मुझे बड़ा उपदेश दे रहे हो, परन्तु जरा प्रातः स्मरणीय, पूजनीय और नीतिमान समझे जाने वाले राजा उत्तम को तो जाकर पूछो! जिसने अपनी सुन्दर पत्नी को त्याग दिया है। हमने अपनी पत्नी का त्याग तो नहीं किया है। "राम राखे..." की इतनी बड़ी बात करने वाले हो तो जाकर राजा उत्तम को तो समझाओ न!

उत्तम का चेहरा फक् हो गया। वह 'ठीक है' ऐसा कहकर चला गया। एक निर्झर के पास बैठकर वह विचार करने लगा कि यदि मेरी पत्नि दुष्ट हो जाय, तो क्या मुझे भी दुष्ट हो जाना चाहिये? भगवान ने मुझे जो साथी दिया है, मुझे उसके साथ रहना नहीं आता है। भगवान! 'मैंने भूल की है,' बहुला कहाँ भटकती होगी। भगवान! मुझे क्षमा करो और मेरी पत्नी को लौटा दो।' दूसरी ओर बहुला भी नित्य पश्चात्ताप की ज्वाला में जलते हुये शुद्ध होती गई और कहने लगी कि 'भूल मेरी है।'

बहुला के लिये वन वन भटकते हुये उत्तम ने दूर से वन-देवी के समान एक सुन्दर स्त्री को देखा, जो पुष्पांजलि अर्पण कर सामने रखे हुये एक चित्र का श्रद्धा से

पूजन-वन्दन कर रही थी। उत्तम ने धीरे-धीरे पीछे से आकर देखा, तो उसके आश्चर्य का ठिकाना न रहा। वह चित्र उसीका था और वन-देवी उसी की पत्नी बहुला थी।

बहुला ने सामने उत्तम को देखा, तो उसके चरणों में गिर पड़ी और बोली "भूल मेरी थी।" उत्तम ने उसे उठाते हुये कहा—"भूल तो मेरी ही थी, तुम तो मेरी गुरु हो।" बहुला के आँखों से अश्रु छलकने लगे। दोनों ने अपनी-अपनी भूल स्वीकार कर पुनः अपने सुखी संसार का प्रारम्भ किया।

'भूल तेरी है,' कहने के बजाय 'भूल मेरी है' यह कहना ही आत्मिक उत्क्रान्ति है। भगवान ने हमको जो साथी दिया है, उसके साथ निभाना आना चाहिये। थोड़ा बहुत प्रतिकूल विचारों के साथ भी न निभा सकना बड़ी दुर्बलता है। हम लोग एक दूसरों के मात्र दोषों को देखकर ही अपने संसार (गृहस्थ) को दुःखी और कलुषित कर देते हैं।

आज प्रत्येक व्यक्ति दूसरे के दोषों को देखने के लिये बैठा है। लोग कहते हैं—"मानव बिगड़ गया है, इसलिये समाज का अधःपतन हुआ है।" मानव कहते हैं—"लोग ही बिगड़ गये हैं।" राजा कहता है, प्रजा की गलती है और प्रजा कहती है कि राजा (शासन) गलत है। शिक्षक कहते हैं कि विद्यार्थी ठीक से अध्ययन नहीं करते, विद्यार्थियों का दोष है। विद्यार्थी कहते हैं, शिक्षक ठीक से पाठ्यक्रम को पूरा नहीं करते इसीलिये वे अनुत्तीर्ण होते हैं।

हम भी भगवान की भूल निकालते हैं। वे हमारी ओर ध्यान नहीं देते। जब तक मानव दूसरे की भूल और दोषों को देखता रहेगा, तब तक [illegible] और [illegible] का आविर्भाव नहीं होगा।

उत्तम ने अपने कर्तृत्व और संस्कारिता से अपने राज्य से राक्षसी-भोगवादी वृत्ति का उन्मूलन कर जगत को सुन्दर तथा सुव्यवस्थित बनाकर धर्म-स्थापन किया तथा अपने संसार को भी सुखी बनाया। उत्तम अपनी भूल समझने और सुधारने वाला भारत का एक महान कर्तृत्ववान और सांस्कृतिक राजा हुआ है।

ग्यारह सौ वर्ष पूर्व की बात है, उसको समझने के लिये हमको आज के भारत को भूलकर उस समय के भारत में जाना पड़ेगा। तामिलनाडु का एक अति सुंदर गाँव था। भगवान ने मानो अपना सारा सौन्दर्य वहीं बिखेर दिया हो! गाँव के सामने की पर्वतमाला के मध्य से उदित बाल--रवि की स्वर्णिम रश्मियाँ समुद्र के वक्षस्थल पर बिखरकर अनुपम सौन्दर्य की झांकी प्रस्तुत करती थीं। उन्मत्त सागर की उछलती उत्तुंग लहरें पर्वत--मिलन को जाती और फिर रूठकर अठखेलियाँ करती हुई लौट आती थीं। कभी एक दूसरे से बाते करती और फिर बिछुड़ जाती थी। चल के साथ अचल की यह पुरानी मैत्री थी— 'सहाचलत्वं खलु।'

गाँव के चारों ओर हरियाली थी। अधिकतर नारियल और सुपारी के पेड़ थे। प्रत्येक घर के चारों ओर बगीचा और आंगन में शीतल छाया एवं स्वच्छता के लिए नीम के पेड़ थे। गाँव का प्रत्येक व्यक्ति सुखी था। वे पेड़ों को पानी देते, उनसे बातें करते और उनसे सहोदर--स्नेह रखते थे। उनसे उनका आत्मीय भाव था। पेड़ों से वे उदारता और स्थैर्यता, पर्वत से भव्यता और सागर से गम्भीरता का पाठ पढ़कर शांति पूर्ण जीवन यापन करते थे।

इस गाँव में एक ब्राह्मण था। उस काल की दृष्टि से वह सुखी था। प्रातः भगवान का स्मरण कर सन्ध्या–पूजा करता, पेड़–पौधों को प्रेम से पानी देता और उनका लालन पालन करता, यही उसकी दिनचर्या थी। वह जितना पवित्र और शीलवान था, प्रभुकृपा से उसको पत्नी भी उतनी ही अनुकूल और सुशील मिली थी। ब्राह्मण सर्व प्रकार से सुखी था।

अनुकूलां विमलांगीं कुलजां कुशलां सुशील सम्पन्नाम्।
पञ्चलकारां भार्यां पुरुषः पुण्योदयाल्लभते॥

ऐसी गुण वाली मनोनुकूल पत्नी भाग्य से ही मिलती है। गृहलक्ष्मी घर का आभूषण है। दोनों का सुखी संसार था। वृद्धावस्था में उनका एक पुत्र हुआ, जिसका नाम उन्होंने नाभि रखा। नाभि बाल्यकाल से ही चतुर और आकर्षक था। वह माता-पिता का वैभव था। जब वह सो जाता तो दोनों प्रेम-भरी दृष्टि से उसे देखकर पुत्र-प्रेम का आनन्द लेते थे। ब्राह्मणपत्नी उसे गोद में ले, झूले में झुलाती और उसे कुछ न कुछ ज्ञान देती तथा उसमें संस्कार डालती थी। माता-पिता का दिया हुआ ज्ञान आज के पी. एच. डी. को मिलना भी दुष्कर है। नाभि ने सुन्दर-सुन्दर शिक्षाप्रद कहानियों के साथ-साथ सैकड़ों श्लोक कंठस्थ कर लिये थे। श्लोक कंठस्थ करने से बुद्धि तैयार होती है, प्रखर होती है।

पिता समझाता-'बेटा। पेड़ों पर प्रेम करना चाहिये, उनमें भगवान है, उनमें भी शक्ति है।' माँ प्रतिदिन संध्या समय तुलसी के सामने घी का दीपक जलाती, तो नाभि पिता के पास बैठकर श्लोक बोलता। गाँव के सभी बालक श्लोक बोलते थे। सायंकाल को लक्ष्मी घर-घर जाती है और ऐसे मंगलमय वातावरण से प्रसन्न हो जाती है।

नाभि बहुत प्रेमाल था। वह अपनी माता को बहुत प्यार करता और कहता- 'माँ। तुम चिन्ता न करो, तुम्हारा सारा काम मैं करूँगा।' नाभि पाँच वर्ष का हो गया। पिता ने उसका उपनयन (यज्ञोपवीत) संस्कार किया। आज हम भी उपनयन संस्कार करते हैं, परन्तु उसके सम्बन्ध में कुछ समझते नहीं है। बालक को वेद दीक्षा और ध्येय-निष्ठा देकर विद्याध्ययन के लिये भेजने का नाम उपनयन संस्कार है। वेद-निष्ठा और ध्येय-निष्ठा के लिये व्रत लेना-जनेऊ लेना भारतीय संस्कृति है।

नाभि अब नित्य प्रातः उठकर दो मील दूर पाठशाला में जाता और ग्यारह बारह बजे लौट आता था। नाभि को अपनी माँ की गोद में बैठकर श्लोक याद करना पेड़ों को पानी देना और नदी में खेलना बहुत अच्छा लगता था। उसे यह सब छोड़कर स्कूल जाना अच्छा नहीं लगा। उसने अपनी माता से कहा- "माँ! मुझे जितना अच्छा ज्ञान तुमसे मिलता था, उतना अच्छा ज्ञान स्कूल में नहीं मिलता। माँ! एक दिन तुम पीपल के पेड़ की प्रदक्षिणा कर रही थी और तुमने मुझको भी प्रदक्षिणा करने को कहा था, उस समय मैंने कहा था कि मेरे साथी मेरी मजाक उड़ाते हैं। तब तुमने कहा था कि शास्त्रों और संतों के पालन करने में शर्म और हिचक नहीं करनी चाहिये। [illegible] और [illegible] करनी चाहिये। माँ! ऐसी सुन्दर शिक्षा यहाँ कौन देने वाला है! मैं स्कूल में नहीं जाऊँगा।'

ब्राह्मण-पत्नी के सामने एक बहुत बड़ी समस्या आ खड़ी हो गई। उस समय आज का सा काल नहीं था कि माँ कहे कि बेटा! रोटी कहाँ से खायेगा? उस समय रोटी और शिक्षा का सम्बन्ध नहीं था। उस समय जीवन-विकास, सद्गुणों के उद्भव तथा बालक के अन्तर्निहित सुप्त शक्तियों का जागरण करने के लिये शिक्षा दी जाती थी। आज भी अंग्रेजी में शिक्षा (Education) का अर्थ है- To draw out, अन्तर्निहित शक्तियों को बाहर निकालना। वेद क्यों पढ़ें? ऐसा प्रश्न ही नहीं उठता था। मैं अपनी माता पर प्रेम क्यों करता हूँ? क्या इस प्रश्न का उत्तर हो सकता है? माता मेरी है, इसी प्रकार वेद मेरे हैं।

माँ, बेटे को गोद में लेकर समझाती है। बेटा! तुझे मेरी बात अच्छी लगती है न? तू कंठों तक मेरी बात सुनता है न? तेरा मुझ पर अनन्य प्रेम है न? तो आकाश में एक हमारी माँ है, जिसे जगदम्बा कहते हैं, वह हम सब को प्यार करती है। उस भगवती पर तेरा प्रेम है न? तो जिस प्रकार तू मेरी बात सुनता है, उसी प्रकार उस माता की बात भी सुननी चाहिये। वह माता कहती है- "वेद पढ़ने चाहिये, नित्य प्रेम से वेद-मंत्र बोलने चाहिये। वेद क्यों पढ़ें? ऐसा नहीं पूछना चाहिये। 'निष्कारणेन षडङ्गोवेदोऽध्येयश्च ज्ञेयश्च' ब्राह्मण को निष्कारण वेद पढ़ना चाहिये। इसलिये तुम्हें वेद पढ़ने के लिये पाठशाला जाना ही चाहिये।" बालक नांवि निरुत्तर हो गया, माता की प्यार भरी बात उसमें ठीक-ठीक उतर गई और वह नित्य पाठशाला जाने लगा।

१९ - २० घरों की इस छोटी सी बस्ती वाले गाँव में नांवि के घर के पीछे इस ब्राह्मण की मालिकी में गणपति का एक पुराना मन्दिर था। उस मन्दिर में कोई नहीं जाता था, परंतु ब्राह्मण नित्य उसका पूजन करता तथा भगवान को नैवेद्य चढ़ाता था। उसका पूर्ण विश्वास था कि विघ्न-हरता केवल भगवान ही है।

पुराने समय में जब कभी घर का मालिक कहीं बाहर जाता, तो दो काम किसी दूसरे को सौंप कर जाता था। एक तो पेड़ों को पानी देना और दूसरा भगवान की पूजा करना। एक दिन ब्राह्मण को किसी गाँव जाना था। उसने अपनी पत्नी से कहा- तुम पेड़ों को पानी पिलाना और नांवि जब पाठशाला से आवे तब उसे भगवान को नैवेद्य चढ़ाने को कहना। आज यदि हम बाहर जाते हैं, तो कहते हैं, पिछले कमरे में कौन रहेगा, ताला कौन लगायेगा आदि।

नांवि स्कूल में वेद-मंत्रों को कंठस्थ करता था, उसे खूब भूख लगती और घर आकर माँ से कहता "माँ! बड़ी भूख लगी है, जल्दी थाल परोस!" आज जब नांवि ने जल्दी थाल परोसने के लिये कहा, तो माँ ने कहा—"बेटा! तेरे पिता दूसरे गाँव गये हैं, इसलिये तू पहिले गणपति को नैवेद्य चढ़ा कर आ, फिर भोजन करना।"

नांवि नैवेद्य लेकर गया और उसने गणपति को खाने के लिये कहा, पर गणपति ने सूंड नहीं उठाई। नांवि ने हाथ जोड़कर प्रार्थना की पैरों में पड़ा, कभी उनके पेट पर हाथ फेरता, परंतु गणपति बाबा टस से मस न हुये, उन्होंने नैवेद्य को छुआ भी नहीं। यह देखकर नांवि खूब रोने लगा और उसने कहा—"भगवान! यदि तुम खाना नहीं खाओगे, तो मैं तुम्हारे पैरों पर सर पटककर अपनी जान दे दूँगा और वह जोर जोर से गणपति के चरणों पर अपना सर पटकने लगा। इतने में कंठ से 'स्वस्तिवाचन' हुआ और भगवान ने कहा—"बेटा! मरो मत" और भगवान खाना खाने लगे। नांवि के निष्पाप–निश्छल प्रेम के और श्रद्धा के सामने भगवान झुक गये।

शुभ्र, नग्न शरीर पर लंगोट, कमर में करधनी पहिने और गले में छोटा सा जनेऊ लटकाये गणपति भगवान प्रत्यक्ष भोजन करने लगे। नांवि अनिमिष नेत्रों से भगवान की ओर देख रहा था। नांवि को इस में कुछ नवीनता नहीं लगी। उसे सिर्फ इस बात की खुशी हुई कि जिस प्रकार उसके पिताजी नित्य भगवान को भोजन खिलाते थे, उसी प्रकार उसने भी भोजन कराया। विश्व में न घटने वाली अघटनीय घटना नांवि को सामान्य लगी।

भगवान ने सारी थाली साफ कर दी थी, फिर भी नांवि वहां से नहीं हिला। भगवान की छोटी–छोटी आँखें पलक मारती थीं और वह एक टक देखता था। अब तक नांवि की आँखों में आर्तता थी, परंतु अब उन में भय था। वह कहने लगा—"भगवान! तुमने खाना खाने में इतना समय लगा दिया कि अब मुझे पाठशाला जाने के लिए देर हो गई है। गुरुजी मुझे मारेंगे तो!" गणपति भगवान ने कहा—"तू निर्भय होकर पाठशाला में जा, तुझे कोई नहीं मारेगा।"

नांवि फिर भी नहीं उठा, उसने कहा—"भगवान! मेरे पिताजी कहते थे कि गणपति विद्या के देवता हैं। यदि यह सच है, तो तुम्ही मुझको पढ़ाओगे न! पाठशाला में बड़ी–बड़ी आँखों वाले गुरुजी से मुझे डर लगता है। भगवान! तुम तो हमारे घर के हो न! मैं तुमको नित्य स्नान और भोजन कराऊँगा, तुम मुझे नित्य पढ़ाना।"

बात है, फिर बताऊँगा।" माँ ने मन में विचार किया कि वह मजाक कर रहा है, इसलिये उसने उस पर विशेष ध्यान नहीं दिया।

दूसरे दिन नांबि पोथी लेकर पीछे रास्ते मन्दिर की ओर जाने लगा! माँ ने सोचा स्कूल का रास्ता आगे से है, वह पीछे से कहाँ जा रहा है? पिता घर में नहीं हैं, इसलिये बेटा कहीं सैर-सपाटे के लिये तो नहीं जा रहा है? माँ भी धीरे-धीरे उसके पीछे हो ली। मन्दिर के पास जाने पर उसको मंदिर से कुछ आवाज सुनाई दी। एक आवाज नांबि की थी और दूसरी गणपति की। नांबि प्रश्न पूछता था और गणपति उत्तर देते थे।

माँ ने भगवान की प्रासादिक वाणी सुनी। वह संयमपूर्वक बाहर ही खड़ी रही! भीतर जाकर कहीं पुत्र की पढ़ाई में विक्षेप न हो। ब्राह्मण-पत्नी ने मन में कहा कि आज उसका मातृत्व धन्य हो गया है, उसे रोमांच हो आया। 'कुलं पवित्रं जननी कृतार्था वसुन्धरा पुण्यवती च येन।' वह हँसती, नाचती-कूदती, दौड़ती हुई वापस घर आ गई।

दोपहर को पति घर आये। नांबि के विषय में पूछा, तो पत्नी ने कहा कि हमारा नांबि भगवान को अच्छा लगा है और हमारा कुल पवित्र हो गया है। ब्राह्मण ने पूछा—"अरे! हुआ क्या, बोल तो सही!" पत्नी ने कहा—"भगवान गणपति स्वयं नांबि को पढ़ा रहे हैं।" ब्राह्मण ने कहा—"पागल तो नहीं हो गई? भगवान कैसे पढ़ा रहे हैं?"

"नहीं-नहीं मैं सच कहती हूँ मैंने स्वयं भगवान की वाणी सुनी है। आप इस बात को गाँव में किसी से नहीं कहना, नहीं तो लोग नांबि की पूजा करने लगेंगे और उसकी पढ़ाई में बाधा पड़ेगी।"

पति-पत्नी दूसरे दिन की राह देखने लगे। दूसरे दिन भी नांबि माता-पिता को प्रणाम कर पुस्तकें ले, भागा-भागा गणपति के मन्दिर में गया और उसने पढ़ना शुरू किया। नांबि एकाग्र चित्त से गणपति की आँखों की ओर देखते-देखते अति आनन्द से अध्ययन करता था। स्वयं भगवान जब प्रेमपूर्वक मधुर वाणी [illegible] हों, तो कितना आनन्द आता होगा!

माता-पिता चुपचाप पुत्र के पीछे [illegible] प्रासादिक, धीर-गम्भीर वाणी को सुनकर कृ[illegible] हो गया। उन्होंने लोकोत्तर जीव को जन्म दि[illegible] से केवल वाणी ही नहीं सुनी, आपतु उनसे पढ़ा[illegible]

ही विमहर्वा [illegible]
ओश्न अ[illegible]
न के [illegible]

ब्राह्मण-दम्पति धर्म-निष्ठ थे, इसलिये उन्होंने मंदिर के अन्दर जाने या खिड़की से देखने की इच्छा को दबा कर रखा। उनका भगवान पर पूर्ण विश्वास तथा पूर्व-जन्म के संस्कारों पर दृढ़ श्रद्धा थी। उन्होंने सोचा जिस दिन वे इस योग्य होंगे, उस दिन भगवान उनके साथ भी बोलेंगे। बिना योग्यता के भगवान के पास जाना शोभा नहीं देता। इसलिये खिड़की से झांके बिना ही वे वापस घर आ गये। धन्य है, उनके संयम और प्रभु-निष्ठा को! आज तो बेटा यदि डिप्टी कमिश्नर से बात करता हो, तो बाप अपना परिचय देने के लिये अन्दर घुस पड़ता है।

नांबि ने पूर्ण विद्याध्ययन किया। उसके पास विलक्षण और लोकोत्तर बुद्धि थी, बुद्धि के देवता साक्षात गणपति से उसने दिव्य ज्ञान प्राप्त किया था। उस ज्ञान को जीवन में उतार कर नांबि अपना जीवन व्यतीत करने लगा।

उस काल में चोल देश का राजा अभयकुल शेखर अत्यन्त सात्विक और शिव-भक्त था। उसकी इच्छा हुई कि उसका राज्य शिव-भक्त बने। उसने शिव-महात्म्य को बढ़ाने का अथक प्रयत्न किया, परन्तु उसे सन्तोष नहीं हुआ। उसके मंत्रियों ने उसे सलाह दी कि अमुक स्थान में शिवमहात्म्य की पुस्तक है, आप उसको लेकर भगवद्-प्रचार करें। वहाँ जाने पर राजा को विदित हुआ कि पुस्तक को दीमक ने खा लिया है, इससे उसको बहुत बड़ा संताप हुआ। राजा शिव-मन्दिर में गया और भगवान के सामने रोने लगा--"भगवान! अब तुम ही रास्ता बताओ, मुझे क्या करना है? मैं प्रजा में शिव-भक्ति के प्रचार के लिये वाङ्मय कहाँ से लाऊँ?" राजा रोते-रोते मन्दिर में ही सो गया। उसको भगवान ने स्वप्न में आज्ञा दी कि अमुक गाँव में जा, वहाँ विद्यावतार नांबि है, वह तेरे [illegible] पूर्ण करेगा।

नांबि अब बड़ा हो गया था। वह गृहस्थाश्रम में प्रवेश कर [illegible] और स्नेहमय जीवन बिताता था। घर-घर में सद्गुणों को फैलाता था। वह अपनी दिव्य जीवनज्योति से दूसरों के जीवन दीपों को भी प्रकाशित करता था।

राजा अभयकुल शेखर ढूंढते ढूंढते नांबि के गाँव में पहुँचा और नांबि को प्रणाम कर बोला कि भगवान शिवजी का आदेश हुआ है कि आप [illegible] करते हैं।

सिद्ध होने लगी। शिवजी के जीवन पर उसने अत्यन्त प्रासादिक वाणी में ग्यारह काव्य-खण्ड लिखे। उसने वेदों के कठिन सिद्धान्तों को सरल भाषा में लोक-भोग्य बनाया। नांबि के मस्तिष्क में विद्या और हृदय में भाव था। इसलिये उसने अद्भुत दैवी वाङ्मय लिखकर विश्व का कल्याण किया है। समाज को भक्ति, दिव्यता और तेजस्वी जीवन प्रणाली देकर प्रभु से आया हुआ यह चमचमाता सितारा भारत को धन्य कर एक दिन प्रभु में विलीन हो गया।

आज भी नांबि को नमस्कार करने के बाद ही कक्षा प्रारम्भ करने और पुस्तक खोलने की परम्परा है। यह उसके प्रति लोगों के प्रेम और श्रद्धा का प्रमाण है।

तामिलनाडु प्रदेश में उसने ज्ञान का सदाव्रत खोला और सम्पूर्ण तामिलनाडु को सुधारा। हजारों लोगों को गौरवपूर्ण जीवन जीने का सुअवसर मिला। हमारा भी सद्भाग्य है कि हमने इस भूमि में जन्म लिया है। हम भी अपने अन्तःकरण को नांबि की तरह निष्पाप बनायेंगे, भगवान का कार्य करेंगे, तो भगवान हमारे साथ भी बोलेंगे।

भगवान के महान भक्त, लोकोत्तर ज्ञानी, बुद्धिनिष्ठ और विघ्नहर्ता प्रभु के लाडले और अपने पूर्वज नांबि को हमारा अनन्त प्रणाम।

— o —

जब मानव-समाज अन्ध और पागल भक्ति करने लगता है, तब भक्ति से तेज और ज्ञान निकल जाता है। फिर कोई महापुरुष आकर ज्ञानपूर्ण, तेजस्वी और सच्ची भक्ति की परम्परा को खड़ी करता है।

आज से छः सौ वर्ष पूर्व ऐसा ही एक काल आ गया था, जब समाज में सच्ची भक्ति लुप्त हो गई थी। उस समय भानुदास नाम के एक भक्त की तीसरी पीढ़ी में याज्ञवल्क्य के समान एक तेजस्वी महापुरुष ने जन्म लिया। इस परम भागवत का नाम था-एकनाथ।

भानुदास के अन्तस्थल में एक ही इच्छा थी कि उनकी ऐसी संतान हो जो जगत-पिता जगदीश को भी अपने पास बुलाने की शक्ति रखता हो। भले ही वह ५-६ पीढ़ी के बाद पैदा हो। भानुदास के पुत्र चक्रपाणि ने और फिर उनके पुत्र सूर्यपाणि ने भी अपने भक्तिमय जीवन और सद्वर्तन से भानुदास की [illegible] मनोभिलाषा को पुष्टि की।

एक दिन प्रभात काल की मंगल बेला में माता गोदावरी के तट पर बसे एक भागवतीय परिवार में भानुदास की चिर कामना के अनुसार सूर्य के समान एक तेजस्वी बालक उत्पन्न हुआ। दादा चक्रपाणि प्रसन्न हुए और भानुदास की इच्छा पूर्ण हुई।

पिता सूर्यपाणि सोचता था कि दादा भानुदास की इच्छा पूर्ण नहीं हो पायेगी। त्रिभुवन–पति को जगत में लाने की शक्ति यदि इस बालक में होती तो क्या वह बाल्यकाल में ही मातृ–सुख गँवा बैठता? फिर भी प्रभु इच्छा समझकर उसने अपना समाधान किया।

समय बीतता गया और एकनाथ की बाल–लीला से आनन्द विभोर होकर सब पिछले दुःख को भूल गये। प्रभु की क्या इच्छा है? उसे कोई नहीं जानता। एक दिन शीतकाल में रात्रि का भोजन कर सभी आग सेक रहे थे। ज्वर से पीड़ित सूर्यपाणि खटिया पर लेटा था और दादी की गोद में दुबका हुआ एकनाथ दादा से कहानी सुनाने का आग्रह कर रहा था। दादा कहानी सुनाने लगे। कुछ ही समय बाद यकायक कहानी बन्द हो गई। एकनाथ कुतूहलपूर्वक इधर–उधर देखने लगा।

एकनाथ ने देखा कि दादा–दादी रो रहे हैं, बाहर से लोग नंगे सिर आकर जमा हो रहे हैं। उसे आश्चर्य हुआ कि लोग क्यों आ रहे हैं? क्या वे लोग भी बच्चों की तरह रोते हैं? उसने दादा को झकझोरते हुये कहा– "दादा कहानी सुनाओ न!"

दादा ने वात्सल्य प्रेम से उसे गोद में उठाकर रोते हुये कहा– "बेटा क्या कहानी सुनाऊँ? यहाँ तो जीवन की कहानी ही समाप्त हो गई है।" एकनाथ ने कुतूहलपूर्वक पूछा– "दादा! आप और दादी क्यों रोती हैं? ये सब लोग नंगे सिर क्यों जमा हो रहे हैं?" दादा ने कहा– "क्या कहूँ बेटा, आज तेरे पिता हमें छोड़ कर चले गये हैं!"

"दादाजी! जब कोई हमारा घर छोड़ कर जाता है, तो क्या रोते हैं? उस दिन मामा जी गये, तो कोई नहीं रोया।" निर्दोष और अबोध एकनाथ को मृत्यु की कल्पना ही कहाँ थी। उसके इन सीधे और सरल प्रश्नों से सबकी आँखे छलक उठीं।

"बेटा! तेरा पिता कहाँ गया है, यह तुझे क्या बताऊँ? परन्तु एक दिन सभी को वहाँ जाना है।" "मुझे भी वहाँ जाना है, तो वहाँ पिता जी अवश्य मिलेंगे। पिता जी को मिलकर मुझे खूब आनन्द आयेगा।" एकनाथ के ऐसा कहने पर दादा–दादी की आँखों से अश्रु–धारा प्रवाहित होने लगी। दादी ने उसे गोद में लिया और आँचल से उसका मुँह ढककर बोली– "ऐसा नहीं बोलते, ईश्वर तुझे शतायु करे."

"बेटा! सूर्यपाणि तुझे बहुत प्यार करता था। वह तुझे छोड़कर चला गया है?" "दादी जी! पिता जी मुझे सचमुच में प्यार करते थे। कंधे पर बिठाकर

एकनाथ अब चौदह वर्ष के हो गये। एक दिन उसके गुरुजी ने आकर चक्रपाणि से कहा—"चक्रपाणि! मैं एकनाथ को अपना पेट भरने के लिये नहीं पढ़ा रहा हूँ।" चक्रपाणि ने कहा--"क्यों? क्या एकनाथ से कुछ गलती तो नहीं हुई? आप ऐसा क्यों कहते है?" "नहीं, नहीं, एकनाथ से गल्ती तो हो ही नहीं सकती– न भूतो न भविष्यति' परंतु सच्ची बात यह है कि अब उसको पढ़ाने के लिये मेरे पास कुछ रह नहीं गया है। मेरे पास जो कुछ था, मैं उसे पढ़ा चुका हूँ और वह आत्मसात भी कर चुका है।" पंडितजी ने कहा।

प्राचीन काल के लोग कितने प्रामाणिक, सत्यभाषी और इमानदार होते थे! वे पढ़ाने के लिये पढ़ाते थे और हम रोटी के लिए पढ़ाते हैं, पढ़ाई से हमारा कोई लगाव नही होता। गुरुजी ने एकनाथ की पीठ पर हाथ फेरते हुये कहा–"मैंने अनेक शास्त्र पढ़े हैं, वे सब तुम पढ़ चुके हो। अब कभी अवश्य तुम्हें कोई दैवी गुरु मिलेगा, जिससे तुम्हारा जीवन स्वर्णिम बन जायेगा।" एकनाथ को आशीर्वाद देकर गुरु ने छुट्टी ले ली।

एकनाथ के सामने एक बड़ा प्रश्न चिन्ह उपस्थित हो गया कि अब वह क्या करे? पढ़ने के लिए कुछ रह नहीं गया। दूसरों को पढ़ाने की उसकी उम्र नहीं है। गाँव के बाहर नदी के किनारे एक शिव मंदिर था। वह नित्य मन्दिर में जाता था। एक दिन वह शिवलिंग मे सर रखकर रोने लगा। उसने कहा–"भगवान लोग आपके पास अनेक समस्यायें लेकर आते होंगे, पर मेरी समस्या सब से भिन्न है। प्रभु! गुरुजी के कथनानुसार मेरे लिये सीखने को कुछ रह नहीं गया है। दूसरों को मैं सिखा नहीं सकता। तब मैं क्या करूँ? मेरा मार्ग–दर्शन कीजिये प्रभु।

शिव ज्ञानरूप हैं। वे स्वच्छ, शुभ्र, शीतल, उत्तुंग हिमालय मे विराजमान हैं। श्मशान–भस्म, गरल, सर्प और चन्द्र जिसका आभूषण है। भूत–पिशाच और नन्दी आदि पशु जिसके साथ रहते हैं। ऐसे शिव ज्ञान-दाता हैं, गुरु हैं। गुरु वही हो सकता है, जिसने काम, क्रोधादि सर्पों को वश मे किया है, जो चन्द्र के समान शीतल और हिमालय के समान शुभ्र और स्थिर हैं, जो पशु और पिशाच-तुल्य मानव को भी प्रेम से अपना बनाकर सुधार सकता है।

भगवान शंकर ने प्रसन्न होकर एकनाथ से कहा–"तुझे गुरु चाहिये न। तू देवगिरि के जनार्दन स्वामी के पास जा, उन्हें गुरु बना।"

एकनाथ भगवान की वाणी को सुनकर प्रसन्न हो गया। पर अब उसके मन मे एक और समस्या खड़ी हो गई। जिन बूढ़े दादी--दादा ने उसे बड़े लाड़–प्यार के साथ पाला है, उन्हें [illegible] जाय? दूसरी ओर ज्ञान–

पिपासा है और प्रभु का मार्ग-दर्शन है। कभी-कभी महापुरुषों के सामने ऐसी दुविधा खड़ी हो जाती है। अर्जुन के सामने भी ऐसी ही दुविधा थी-'लड़ूँ या न लड़ूँ?'

मंदिर से लौटने पर उसके मन में एक प्रकार की उद्विग्नता और मुँह पर उदासी छाई हुई थी। दादी ने नित्य हँसते और प्रफुल्लित चेहरे पर उदासी देखी, तो उसे पूछा-"क्यों आज अस्वस्थ है क्या?" "नहीं, दादी! मैं बिल्कुल ठीक हूँ" उसने उत्तर दिया। थोड़ा-बहुत खाना खाकर वह चुपचाप लेट गया और लेटे-लेटे विचार करने लगा कि घर से कैसे निकला जाय?

रात्रि भर उसे नींद नहीं आई। दादा-दादी का प्रेम-पाश उसे जकड़े हुये था। दादा-दादी के प्रेम और ममता का अनुभव वही कर सकता है, जिसने उसका अनुभव किया होगा। एकनाथ की ज्ञान-पिपासा उसे घर छोड़ने को कहती थी। दादा-दादी से आज्ञा मिलनी सम्भव न थी और उनके जाग जाने पर भी जाना कठिन था, इसलिये एकनाथ ने रात्रि को ही घर छोड़ने का निश्चय किया। वह उठकर निद्रा-मग्न दादा-दादी के पास गया, मन ही मन उनको प्रणाम किया। बिना पूछे जाने के लिये मन से क्षमा याचना की। साथ ही भगवान से प्रार्थना की-"प्रभु जाने मैं कब लौटूँगा, इसलिये जब मैं लौटूं, मुझे मेरे दादा-दादी मिल जाँय।"

आँखों के आँसुओं को पोंछते हुये वह बाहर निकला और गोशाला में जाकर गाय को प्रणाम कर उसकी पीठ पर हाथ फेरते हुये बोला-"कल से मैं तुझे चारा-दाना और पानी नहीं दे सकूँगा, मुझे क्षमा करना।" ऐसा कहते-कहते वह रो पड़ा। फिर दादा-दादी, घर, गोशाला, बगीचा आदि के जीवंत प्रेम को छोड़कर घर से निकल पड़ा।

सवेरे उठ चक्रपाणि ने देखा कि एकनाथ बिस्तर पर नहीं है। सोचा कहीं घूमने निकल गया होगा। कभी-कभी वह गुरु के घर पर भी चला जाता था। परन्तु देर तक न लौटने पर उन्हें शंका हुई। गाँव में [illegible] शुरू हो गई। गाँव वाले भी जमा हो गये, परन्तु कहीं एकनाथ का पता न लगा। दादी की आँखों में सावन भादों बरसने लगा। चक्रपाणि हताश हो गया। उनकी आशा-आकांक्षाओं पर तुषारपात हो गया।

चक्रपाणी ने कहा— "वास्तव में तू ठीक कहती है, पर एकनाथ जब कभी आयेगा, तो उसकी हमको मिलने की कितनी उत्सुकता होगी! हमारे न मिलने पर उसको कितना दुःख होगा! इसलिये हमें उसके लिये जीना चाहिये।" इस प्रकार वह वृद्धा को धैर्य बंधाने लगा। वे कभी एकनाथ के वियोग में रोते और संयोग की कल्पना कर सुखी होते। एक ही क्षण में ऐसे भावों का आना महापुरुषों के जीवन में ही संभव है।

देवगिरि के जनार्दन स्वामी ज्ञानी, श्रीमन्त और शूर थे। हमारी एक भ्रांत धारणा है कि संत श्रीमंत नहीं हो सकते। वैदिक संस्कृति के अनुसार संत दीन, दुर्बल, अनाथ या असहाय नहीं होता। याज्ञवल्क्य के आश्रम मे हिसाब (वहीखाते) लिखने का काम लखपति लोग करते थे। उसी प्रकार साठ हजार विद्यार्थियों के तपोवन चलाने वाले वशिष्ठ के आश्रम की बात है।

लोग विदुर जी को कंगाल 'भगत' समझते हैं। '**शाक विदुर घर खाये।**' विदुर जी भारत के सम्राट धृतराष्ट्र के महामंत्री थे और ठाट-बाट से रहते थे। उनके यहाँ अन्न की कमी का प्रश्न ही नहीं था, जो भगवान को बासी साग खिलाते! वे भोले भी न थे। उन्होंने ही धृतराष्ट्र के षडयंत्रो से पांडवों की रक्षा की थी।

जनार्दन स्वामी ऋग्वेदी ब्राह्मण थे, अपने शौर्य और पराक्रम से देवगिरि दुर्ग के दुर्गाधिपति, देवगिरी परगने के परगनाधीश, न्यायाधीश और मुगल-बादशाह के सेनापति थे। उनकी सम्मति के बिना दरबार का एक पत्ता भी नहीं हिलता था। वे दत्त भगवान के उपासक थे। उनमें ब्रह्मतेज और क्षात्र तेज का सुभग समन्वय हुआ था। वे राज्य--मान्य ही नहीं ईश-मान्य भी थे। सहस्त्रों लोग अपनी भौतिक और आध्यात्मिक समस्याओं को लेकर आते थे और वे सबका समाधान करते थे।

सुकुमार बालक एकनाथ पैठण से देवगिरि तक कंटकाकीर्ण, बीहड़ और अपरिचित मार्ग पर चलते-चलते एक दिन देवगिरि पहुँच गये। दुर्ग के सैनिकों को पूछकर वह जनार्दन स्वामी के पास पहुँचा और भावपूर्ण अंतःकरण से उनको नमस्कार किया। जनार्दन स्वामी उसे एकटक देखते ही रह गये, मानो उन्हें उनका जन्म-जन्मान्तरों का परिचित मिल रहा हो। उन्होंने उसे पास में लिया और प्रेम से उसका अंग--स्पर्श किया। एकनाथ के अंग-अंग पुलकित हो गये। वह अपने को धन्य समझने लगा।

ज्ञान, भक्ति और कर्म के त्रिवेणी संगम जनार्दन स्वामी ने एकनाथ को पूछा— "तू यहाँ क्यों आया है?" "प्रभु! आप के पास रहने के लिये। आप मेरा शिष्यत्व स्वीकार करें।" एकनाथ ने निवेदन किया। जनार्दन स्वामी— "तुझे

किसने भेजा? एकनाथ—"भगवान शिवजी ने।" जनार्दन स्वामी ने चुटकी लेते हुये कहा—"क्या कभी भगवान भी बोलते हैं?"

एकनाथ ने दूसरे ही दिन से गुरु की सेवा प्रारंभ कर दी। प्रातःस्नान से लेकर रात्रि को सोने तक की गुरु की प्रत्येक सेवा में उसने अपने आप को समरस कर दिया। गुरु की सेवा और वात्सल्यप्रेम के कारण वह दादा-दादी को भी भूल गया। गुरु सेवा के पश्चात उसे जो समय मिलता उसमें प्रभु-स्मरण, मनन और चिंतन करता। गुरु की नित्यक्रियाओं और प्रवृत्तियों को देख और अनुकरण कर वह व्यवहार कुशल भी हो गया। गुरु इस बाल-शिष्य की एकान्त भक्ति और सेवा से प्रसन्न हो गये। एकनाथ भी अपने को कृतकृत्य समझने लगा था।

एकनाथ की व्यवहारकुशलता, एकनिष्ठता और [illegible] प्रतिभा को देखकर गुरु ने उसे राजकीय हिसाब-किताब (Govt. Accounts) का कार्य भी सौंप दिया। वह राजकीय कार्यों को भी कुशलता से करने लगा। एक दिन स्वामी ने कहा—"कल हिसाब-किताब की जाँच होगी, इसलिये हिसाब (Accounts) [illegible] रहना चाहिये।"

रात्रि-भोजन के पश्चात् एकनाथ हिसाब देखने लगा। उसे [illegible] की भूल मिली। [illegible] कहते हैं कि जिस प्रकार [illegible] में गणित की भूल नहीं होनी चाहिये, उसी प्रकार व्यवहार में भी एक पाई की भूल नहीं होनी चाहिये। उसने दीपक जलाया और हिसाब की भूल को खोजने लगा। [illegible] सारी रात खातों के पन्ने पलटते रहा पर भूल नहीं मिलती थी। रात्रि के [illegible] में भूल का पता चल गया। एकनाथ खुशी से नाच उठा और चिल्ला उठा—"मिल गई—मिल गई।"

कहकर गुरु ने एकनाथ को आश्वस्त किया। गुरु के आशीर्वाद से एकनाथ के चेहरे पर अलौकिक तेज जगमगाने लगा। उसे गुरु 'साक्षात् परब्रह्म' लगे।

गुरु प्रति गुरुवार को सम्पूर्ण कार्य एकनाथ के ऊपर छोड़कर स्वयँ पर्वत के ऊपर एकान्त-शान्त स्थान में जाकर दत्त भगवान का चिंतन करते थे। एक दिन स्वामी ईश-चिंतन में मग्न थे। उनकी समाधि लग गई थी।

शत्रुओं ने अवसर पाकर दुर्ग पर आक्रमण कर दिया। गुरु को समाधि से नहीं उठाया जा सकता था। गुरु के गुरुतर कार्य को करने का सुअवसर हाथ आ गया था। एकनाथ ऐसे सुअवसर को कैसे छोड़ सकता था। वह गुरु से युद्ध-कला भी सीख चुका था। एकनाथ गुरु के ही समान युद्ध के जिरह-बख्तर पहिन, हाथ में तलवार लेकर और घोड़े पर चढ़कर युद्ध-भूमि में उतर पड़ा। उसने चार घंटे में ही शत्रु को पराजित कर दिया। इस रहस्य को कोई नहीं समझ सका कि जनार्दन स्वामी के वेश में लड़ने वाला योद्धा एकनाथ है।

विजय प्राप्त कर और वस्त्र बदलकर एकनाथ पूर्ववत् गुरु सेवा में जुट पड़ा। इतने में बादशाह की ओर से विजय की खुशी में नजराना-भेंट लेकर तथा दुर्गाधिपति जनार्दन स्वामी की जयकार करते हुये शाही सैनिक जनार्दन स्वामी के यहाँ आये।

स्वामी ने एकनाथ से पूछा- "यह क्या हो रहा है?" "प्रभु! बादशाह की ओर से आपके लिये नजराना आया है।" "किसलिये?" एकनाथ ने उत्तर दिया "दुर्ग पर आक्रमण करने वाले शत्रु का पराभव करने के कारण।" "किसने किया?" "प्रभु! शक्ति और पराक्रम आपका था, निमित्त मैं बना हूँ।"

गुरु सारी बात समझ गये। उन्होंने शाबासी देते हुये एकनाथ की पीठ थपथपाई और कहा- "मानव को ऐसा ही जीना चाहिये। कहना कम और करना अधिक।" जनार्दन स्वामी के सहवास से एकनाथ व्यवहार कुशल, शूर, ज्ञानी भक्त और स्थित-प्रज्ञ बन गया। ऐसा अधिकार गुरु और अधिकारी शिष्य मिलना कठिन है।

निरन्तर छ वर्ष तक गुरु के सानिध्य में रहकर एकनाथ का देहाभिमान विलीन हो गया था, उसका अंतःकरण गंगाजल के समान निर्मल हो गया था। मुख मण्डल पर दिव्य तेज और कांति चमकने लगी थी।

दुर्ग के पीछे एक अत्यन्त रमणीय, शांत, एकान्त स्थान था, जहाँ एक सुन्दर सरोवर के मन मोहक कमलों से सारा वातावरण सौरभ से महकता था। चारों ओर

सुहावनी और उस पर पक्षियों का मधुर कलरव होता था। जनार्दन स्वामी नित्य एक दो घंटे यहाँ आकर समाधिस्थ हो जाते थे। यहाँ स्वामी की आज्ञा के बिना कोई नहीं जा सकता था।

एक दिन प्रभात बेला में गुरु एकनाथ को लेकर इस दिव्य तपोमय स्थल में गये और कहा– "एकनाथ! यहाँ दत्त प्रभु के अतिरिक्त कोई नहीं आता। ध्यान रखना अवधूत किसी भी रूप में आ सकता है।"

इतने में जीर्ण-शीर्ण वस्त्र पहिने, मलिन देह वाला एक औलिया (फकीर) घोड़े पर सवार होकर उधर से निकला। उसके हाथ पर एक प्याला था। घोड़े से उतरकर वह स्वामी से टकराया। उसने प्याले से थोड़ा पानी पिया। स्वामी ने भी उसी प्याले का जूठा पानी पिया और फकीर चलता बना।

एकनाथ सोचता था, यह फकीर कौन होगा? यह गुरु से क्यों टकराया? गुरु ने उसका जूठा पानी क्यों पिया? उसे आश्चर्य हो रहा था। गुरु ने पूछा— "क्यों एकनाथ! पहिचाना नहीं?" एकनाथ– "किसे गुरुदेव!" स्वामी— "जो अभी गया।" "कौन था, प्रभु वह? क्या दत्तगुरु थे?" एकनाथ ने जिज्ञासा पूर्वक पूछा। स्वामी– "बहुत देर से पहिचाना।" "सचमुच बहुत बड़ी भूल हुई गुरुदेव।" "भूल का मन नहीं पगले! दत्तप्रभु के दर्शन दुर्लभ हैं। अब फिर से दर्शन..."

है निवास कर, नाम स्मरण और सगुणोपासना जारी रख। यों प्रभु-दर्शन के पश्चात् सगुणोपासना में भाव नहीं बैठता, परन्तु भारतीय संस्कृति सगुणोपासना को महत्त्व देती है। सगुणोपासना प्रारम्भ की सीढ़ी है, उससे आत्म-विकास करते करते निर्गुणोपासना की ओर बढ़ा जाता है। इसलिये सगुणोपासना न छोड़ना।

एकनाथ गुरु से अलग होना नहीं चाहता था, परन्तु गुरु आज्ञा का उलंघन भी कैसे हो? उसने कहा—"प्रभु! मैं आपकी आज्ञा से जाता हूँ, परन्तु यह भी बताइये कि मैं पुनः आपके चरणों में कब आऊँ?" गुरु ने कहा—"वहाँ जब कोई आश्चर्यजनक अघटित घटना घटे, तब तू वापस आना।"

एकनाथ शूलभंजन पर्वत पर लता, कुंज, वृक्ष, सरोवर युक्त एक अति रमणीय स्थल पर एक वृक्ष के तले श्याम वर्ण शिला पर आसन लगा कर तपश्चर्या करने लगा। वह नित्य स्नान आदि कर गुरु-स्मरण के पश्चात् ध्यान करता और फलाहार कर उसी शिला पर शयन करता था। इस प्रकार काफी समय हो गया। एक बार उधर से एक ग्वाला आया, एकनाथ के दिव्य मुख-मंडल को देखकर उसके मन में उसके प्रति आदर हो गया। अब वह नित्य उसके लिये एक लोटा दूध लाने लगा। भक्त की चिंता भगवान स्वयँ करते हैं।

एक दिन ग्वाला दूध लेकर जल्दी आ गया। उसने देखा कि एकनाथ समाधिस्थ है और एक फणिधर उस पर लिपट कर उसके ऊपर छाया किये हुये है, क्योंकि उसके ऊपर सूर्य की प्रखर किरणे पड़ रही थी। यह देखकर ग्वालिया घबड़ा गया। उसके हाथ से दूध का लोटा गिर पड़ा और वह चिल्लाने लगा। उसके शोर से एकनाथ की समाधि भंग हुई। तब तक सांप चला गया था। ग्वालिया से उसको सारी घटना का पता चला।

सांप का यह नित्य कर्म था, पर एकनाथ की समाधि टूटने से पहिले ही वह खिसक जाता था। एकनाथ को गुरु के ये वचन स्मरण हो आये कि— "प्रभु असंख्य रूपों से जगत् मे विचरण करते हैं, तू उन्हें देख सकता है।" इसलिये उसे कोई भय नहीं हुआ। वह मात्र हँस दिया।

एकनाथ को गुरु के यह वचन भी स्मरण हो गये कि जब कोई अघटित घटना घटे, तब तू वापस आना। इसलिये वह देवगिरि वापस लौट गया। गुरु के पूछने पर उसने सम्पूर्ण घटना कह सुनाई। गुरु ने कहा— "आज तू परिपूर्ण हो गया है। तेरे पितामह का पुण्य तेरे पीछे है, इसीलिये तेरी तपश्चर्या त्वरित फलित हो गई। तुझे प्रभु-दर्शन मिल गये। अब तू तीर्थाटन कर, घर-घर में दैवी विचारों को—संस्कृति के विचारों को ले जा।

एकनाथ ने गुरु से प्रेमपूर्वक आग्रह किया कि 'मैं आपको छोड़कर कहीं नहीं जाना चाहता, मेरे तीर्थ आप ही हैं। अंत में गुरु भी उसके साथ हो लिये और उसे लेकर गोदावरी के तट पर त्र्यंबक पहुँचे। यहाँ पर उन्होंने संत ज्ञानेश्वर के भाई निवृत्तिनाथ की समाधि के दर्शन किये। जनार्दन स्वामी ने कहा— "एकनाथ आज तुम भागवत सुनाओ।"

एकनाथ ने नम्रता और विनयशीलता से कहा कि 'मैं इसके लिये सक्षम नहीं हूँ, परन्तु गुरु-आज्ञा का उल्लंघन भी नहीं कर सकता।' प्रभु-कृपा से कोई चीज कठिन नहीं रह जाती। एकनाथ ने अपना शरीर तो गुरु अर्पण किया ही था, अब उसने अपनी वाणी भी गुरु अर्पण कर, गुरुदेव को नमस्कार किया। सद्गुरु ने उसके हृदय और बुद्धि में प्रवेश किया। अब भागवत के शब्द उसके नेत्रों के सामने नाचने लगे। भागवत बाँचते-बाँचते उसने दिव्य और तेजस्वी भक्ति की मस्ती खड़ी कर दी। सभी श्रोता मस्त होकर झूमने लगे। जनार्दन स्वामी आनन्द से डोल उठे।

देवगिरि छोड़े हुये बहुत समय हो गया था। गुरु ने एकनाथ को भागवत पर भाष्य लिखने का आदेश किया। वे उसे तीर्थयात्रा का उद्देश्य और निर्देश कर देवगिरि लौट गये। 'आज्ञा गुरूणां ह्यविचारणीयाम्' सोचकर एकनाथ ने भाषा प्रारम्भ कर दी।

बहुत समय व्यतीत हो गया। बूढ़े दादा-दादी की नेत्र-ज्योति भी कम हो गई, एकनाथ नहीं आया। इसकी चिंता उन्हें सताती थी। योगानुयोग से जिस दिन एकनाथ गया, उसी दिन उसके शिक्षा-गुरु (ग्राम-पंडित) भी यात्रा के लिये निकले थे। इसलिये वृद्ध दादा-दादी का अंदेशा था कि शायद उनके साथ ही एकनाथ भी चला गया होगा।

दो-तीन महीने पश्चात् पंडित जी वापस लौटे और जनार्दन स्वामी का एकनाथ के लिये लिखा गया एक पत्र चक्रपाणि को थमाकर कहा कि जनार्दन स्वामी ने बताया है कि वह तीर्थ-यात्रा गया है. और स्वयं ही यात्रा करते-करते पैठण आयेगा। चक्रपाणि ने इस पत्र को सर-आँखों पर लगा कर सुरक्षित रख दिया।

इधर जनार्दन स्वामी का पत्र पैठण पहुँचा और उधर एकनाथ ज्ञान, भक्ति और कर्म का झंडा लिये हुये ऋषिकेश, मथुरा, वृन्दावन, द्वारिका आदि की यात्रा करते हुये बारह वर्ष के बादपैठण पहुँचा। एकनाथ को दादी की सुनाई हुई कहानी स्मरण हो आई कि गणपति ने माता-पिता की परिक्रमा करके विश्व की परिक्रमा का पुण्य प्राप्त किया था। मेरी माँ नहीं तो मैं दादी माँ की परिक्रमा करूँगा, जन्म भूमि की परिक्रमा करूँगा और फिर गुरु के चर्णों में देवगिरि पहुँचकर अपनी यात्रा पूरी करूँगा। ऐसा विचार कर एकनाथ गाँव के उसी शिवालय में ठहर गया जिससे उसको मार्ग-दर्शन मिला था।

जबसे जनार्दन पंडित का पत्र मिला था, तब से चक्रपाणि नित्य एकनाथ की बाट जोहता और शिवालय में जाकर पूछताछ करता था। नित्य की तरह आज भी वह शिव-मन्दिर में गये। एकनाथ को देखते ही दौड़कर उस पर लिपट गये और बोले-"मेरा एकनाथ ही है न!"

इधर एकनाथ का ध्यान न था। अब उसने देखा-शुभ्र-धवल केश, सरल नासिका और वार्धक्य से कृष-गात उसके दादा ही उस पर लिपट पड़े हैं। उसका हृदय भर आया और आँखें गीली हो गई। उसने कहा-"हाँ दादा, मैं आपका ही एकनाथ हूँ, चलो दादी के पास जायेंगे।"

एकनाथ दादी के चरणों में लिपट गया। दादी के हर्ष का पार न था। उसने उसे गले से लगा लिया। आँखों से अश्रुधारा फूट पड़ी, वह कुछ कह न सकी। चक्रपाणि ने कहा-"बेटा! तू हमें पूछे बिना चला गया तो हमें कितना दुःख हुआ, इसकी तू कल्पना नहीं कर सकता। तू जब संसार करेगा और तेरे पुत्र-पौत्र होंगे, तभी तू इसकी कल्पना कर सकेगा। तू अब तो हमको छोड़कर नहीं जायेगा न?"

एकनाथ ने कहा-"दादा! मैं तब आपको पूछता तो आप मुझे कभी अपने से अलग नहीं होने देते और जिस भगवान ने आप जैसे प्रेमी मानव तथा सारी सृष्टि का सृजन किया है, उसको खोजना मानव का धर्म है। मैं अब आपके चरणों की सेवा करूँगा। परन्तु पहिले देवगिरि जाकर अपनी यात्रा पूरी करूँगा और फिर गुरु जो कुछ आज्ञा करेंगे, वही करूँगा।"

दादा ने कहा-"तू गुरु-आज्ञा का पालन करेगा न? तो ले इस पत्र को पढ़।" एकनाथ ने पत्र को देखा, गुरु के ही अक्षर और हस्ताक्षर थे। उसने पत्र पढ़ना शुरू किया—

"चि. एकनाथ! अनेक शुभ आशीर्वाद। तेरे दादा-दादी बारह वर्षों से तेरे वियोग में दुःखी हैं, तेरी बाट देखते-देखते उनकी आँखें थक गई हैं। उनका तेरे अतिरिक्त कोई सहारा नहीं है। उनको सहारा दे, उनकी सेवा कर, तेरा धर्म यही है। तू जहाँ पर इस पत्र को पढ़े, वहीं पर अपनी यात्रा समाप्त कर। यात्रा के लिये आगे न बढ़ना। उनकी सेवा करना ही तेरी तीर्थयात्रा है।"

जनार्दन देशपांडे,
मुकाम दौलताबाद, देवगिरि

गुरु-आज्ञा से एकनाथ पैठण में ही रुक गये। जिस प्रकार भगीरथ ने भूतल में सुर-सरिता को बहाया था, उसने उसी प्रकार से पैठण में भक्ति और ज्ञान की गंगा बहाई। प्रातः वह नित्य नैमित्तिक क्रिया के पश्चात् गीता, भागवत आदि ग्रंथों का पाठ करते, दोपहर में पुराण पढ़ते और सायं कीर्तन और स्वाध्याय करते थे। उनकी कृष्णभक्ति खिली और उसकी सुगन्ध पैठण के चतुर्दिक फैलने लगी। लोग दूर दूर से वहाँ आते, स्वाध्याय करते, जीवन-दर्शन प्राप्त करते और तेजस्वी तथा समाधानी जीवन बिताते थे। उसने तेजस्वी भक्ति फैलाई थी। आज तक गाँवों में जो दुर्बल, निस्तेज और रोती हुई भक्ति थी, वह पलायन कर गई।

कृष्ण-जन्माष्टमी का उत्सव था, दिन भर से तैयारियाँ हो रही थीं। एकनाथ के कीर्तन की ख्याति दूर दूर पहुँच चुकी थी। दूर-दूर गाँव के लोग भी कीर्तन सुनने आये थे। मुगल बादशाह और जनार्दन स्वामी भी एकनाथ के कीर्तन को सुनने के लिये कभी से रवाना हो चुके थे। जनार्दन स्वामी ने एकनाथ के घर के [illegible] देखा तो स्वयं भगवान आगन्तुकों का स्वागत कर रहे हैं। दोनों की नजर [illegible]। भगवान ने जनार्दन स्वामी को मौन-मुद्रा से मौन रहने [illegible] कर दिया। उन्होंने मन ही मन भगवान को नमस्कार किया। एकनाथ [illegible], प्रासादिक, भावपूर्ण वाणी सुनकर वे झूमने लगे। जब एकनाथ ने गुरु को देखा तो उनके हृदय में अपार आनन्द हुआ और उन्होंने गुरु का [illegible] किया।

जनार्दन स्वामी ने कहा—" मै आज्ञा तो करूँगा, पर योग्य कन्या तो मिलनी चाहिये न ! " बीजापुर का एक धनाढ्य अपने व्यवसाय के सम्बन्ध में पैठण आया हुआ था और कीर्तन सुनने के लिये आया था, वह इस वार्ता को सुन रहा था। उसने सामने आकर कहा कि उसे एकनाथ पसन्द है और उसे अपनी कन्या देने के लिये तैयार है। जनार्दन स्वामी ने पूरी जानकारी कर अपनी स्वीकृति प्रदान की और उनकी उपस्थिति में ही एकनाथ ने गिरिजाबाई का पाणि—ग्रहण किया। एकनाथ के मूर्तिमंत विवेक के साथ गिरिजाबाई की मूर्तिमंत शांति का संयोग हुआ और दोनों सुखी—संसार चलाने लगे। प्रायः जगत में विसंगति होती है। पति यदि ईश—परायण तो पत्नी जगत परायण। पति—अनुकूल पत्नी भाग्य से ही मिलती है।

अनुकूलां विमलाङ्गीं कुलजां कुशलां सुशीलसंपन्नाम्।
पञ्चलकारां भार्यां पुरुषः पुण्योदयाल्लभते॥

एकनाथ के विवाह प्रसंग में आने वाले लोगों में उद्धव नाम का एक व्यक्ति एकनाथ पर इतना आसक्त हो गया कि उसने अपना सम्पूर्ण जीवन उनके साथ बिताने का ही निश्चय किया। इसलिये एकनाथ ने जागीर तथा घर की सम्पूर्ण व्यवस्था उद्धव को सौंप दी। एकनाथ का संसार गिरिजाबाई और उद्धव के कार्य—कौशल से अत्यन्त सुन्दर ढंग से चलने लगा। लोग एकनाथ के घर को नाथ-मंदिर कहते और एकनाथ तथा गिरिजाबाई को लक्ष्मी—नारायण कहते और समझते थे। भावुक और भक्त लोगों के लिये वह विश्रान्ति स्थल था। गिरिजाबाई अतिथियो के लिये भोजन बनाने और उन्हें खिलाने में आनन्द का अनुभव करती थी। नित्य अतिथियों की भीड़ लगी रहती थी।

उद्धव और गिरिजाबाई के कारण एकनाथ को प्रभु—कार्य के लिये पूरा समय मिल गया। उन्होंने देखा कि समाज से वेद, उपनिषद और गीता की तेजस्वी भक्ति चली गई है। 'मैं प्रभु का बेटा हूँ और उसकी गोद मे बैठूँगा' ऐसी खुमारी भक्ति मे नहीं रही है। रोती और निस्तेज भक्ति, भक्ति नहीं है। इसलिये उन्होंने तेजस्वी वैदिक संस्कृति और भक्ति का संदेश गाँवों गाँवों में पहुँचाने के लिये 'वासुदेव' नाम की एक संस्था स्थापित की। तेजस्वी भक्तिमय जीवन की दीक्षा प्राप्त नौजवान और प्रौढ लोग जिन्हें वासुदेव कहते थे, सर पर मोरपंख लगाये और पैर में घुंघरू बांधे गाँवों में जाकर नृत्य और कीर्तन करते थे और फिर प्राकृत भाषा मे विशाल, निर्मल, उदार और तेजस्वी वैदिक विचारों को लोगों तक पहुँचाते थे।

अनेक प्रांतों में इस संस्था ने जो अजोड़ कार्य किया है, वह डेढ़-दो हजार वर्षों के अन्दर और किसी संस्था ने नहीं किया। उसने तत्कालीन भ्रांत विचार धाराओं, भ्रांत-ईश्वरवाद और भ्रांत-भक्ति के स्थान पर सच्ची, तेजस्वी भक्ति खड़ी की है। कर्नाटक और महाराष्ट्र के किन्ही स्थानों में कभी कभी इन वासुदेवों के अवशेष आज भी देखने को मिल जाते हैं। इन वासुदेवों के द्वारा एकनाथ ने लोक-जागृति की। सोये हुओं के जगाया, जगे हुये लोगों को उठाया और खड़े हुये लोगों को दौड़ाया है।

एकनाथ ने वेद और उपनिषदों के विचारों को प्राकृत भाषा में लोक-भोग्य बनाया और पशुवत् जीवन जीने वाले लोगों में जाग्रत चैतन्य भरा। जीवन से ऊबे, उद्विग्न, निराश और हताश लोगों में उत्साह, आश्वासन और समाधान निर्माण कर उन्हें तेजस्वी मानवी जीवन जीना सिखाकर प्रभु की ओर मोड़ा है। परन्तु रूढ़िवादी पोथा-पंडितों को उनका यह सहन नहीं हुआ। उन्होंने यह कहकर उनका विरोध करना प्रारम्भ कर दिया कि वह पवित्र वैदिक सिद्धान्तों को अपवित्र प्राकृत भाषा में कहकर बहुत बड़ा पाप और अनर्थ कर रहा है। इसलिये उन्होंने उनके विरुद्ध आन्दोलन खड़ा कर दिया। परन्तु प्रभु-कार्य रत एकनाथ को उन पंडितों के साथ व्यर्थ वितंडावाद करने का अवसर ही कहाँ था? वे प्रातः से रात्रि तक ईश्वर-कार्य में जुटे रहते थे। उनके जीवन में कुछ महत्व पूर्ण घटनायें घटी हैं—

कि हम वेद के अधिकारी नहीं हैं, परन्तु हमको जीवन के पाठ कौन पढ़ायेगा ?"
एकनाथ को लगा कि वे भी प्रभु के बेटे हैं, उन्हें भी प्रभु के विचार मिलने चाहिये और उनका भी जीवन विकास होना चाहिये।

अब एकनाथ नित्य इस अन्त्यज वस्ती में आकर स्वाध्याय करने लगे। गाँव के पंडित लोग पहिले ही एकनाथ का विरोध करते थे, अब तो उनके मत्सर की सीमा न रही। पर एकनाथ इसकी चिंता किये बिना अपने कर्तव्य-पथ पर अविचल डटे रहे।

एक दिन राण्या की एक नन्ही बालिका ने एकनाथ की गोदी में बैठकर प्रेम से पूछा—"नाथ बाबा! तुम हमारे यहाँ भोजन करने आओगे न ?" "हाँ, आऊँगा" एकनाथ ने कहा। लड़की ने कहा—कब आओगे—"कल" नाथ ने कहा। सारी अन्त्यज वस्ती में इससे आनन्द का साम्राज्य छा गया, पर साथ ही इस बात की चिंता भी हुई कि रूढ़िवादी ब्राह्मण एकनाथ को तंग करेंगे।

एकनाथ के स्वाध्याय का श्रवण करने के पश्चात् अन्त्यजों की यह वस्ती पवित्र हो गई थी, लोगों के विचार बदल गये थे, वे नित्य स्नान-ध्यान करते थे। उनके घर आंगन साफ सुथरे, लिपे-पुते स्वच्छ और आकर्षक बन गये थे। आज तो वे और भी सजाये गये थे। क्योंकि आज वहाँ एकनाथ भोजन करने के लिये आने वाले थे।

इस समाचार से शंभुशास्त्री, विद्याधर पंडित, श्रीधर शास्त्री, धोंडो भट्ट, गणेश शास्त्री आदि सभी पंडित कुपित हो गये और शंखनाद करने लगे कि एकनाथ ने "भानुदास वंश को दाग लगा दिया है। उसने वैदिक वाङ्मय का अपमान किया है—आदि आदि।"

एकनाथ के निर्णय के पीछे गिरिजाबाई की सहमति भी थी। एकनाथ अंत्यज के यहाँ भोजन करने निकले तो मार्ग में अनेकों पंडितों ने उन्हें रोका। पर 'जब कि उठ चुका चरन, मत ठहर मत ठहर मत ठहर' दृढ़ निश्चयी एकनाथ को कौन रोक सकता था ? पंडितों ने पूरी जानकारी प्राप्त करने हेतु नाथ के पीछे भिकंभट और वाडंभट दो गुप्तचर लगा दिये।

आज संपूर्ण अंत्यज नगरी सजी हुयी थी, पर राण्या का घर तो विशेष रूप से सजा था। घर के चारों ओर तुलसी की सजी हुई क्यारियों में घी के दीपक जल रहे थे। द्वार पर विविध रंगो से चौक पूरा हुआ था। परिजनों ने सुन्दर वस्त्र पहिने थे। वर्तन चांदी की तरह चमक रहे थे। अगर बत्ती की सुगन्ध महक रही थी। गृहपति की लड़की शुभ्र-वस्त्र पहिने आनन्द मग्न होकर स्वागत के लिये देहरी पर पुष्पमाला

लिये खड़ी थी। एकनाथ के आते ही सबने हर्षनाद और जयनाद पर माल्यार्पण किया, आरती उतारी और एकनाथ जीमने के लिये लकड़ी के पटरे पर बैठे। अन्त्यज की पत्नी ने प्रेम से भोजन परोसा और एकनाथ प्रार्थना कर जीमने लगे।

भिकंभट और वाड़भट ने उचक-उचक कर खिड़की दरवाजों से देख लिया कि एकनाथ सचमुच में भोजन कर रहे हैं। उन्हें तो नाथ का बहिष्कार कर उनकी फजीहत करनी थी। अभी ये दोनों अन्य पंडितों को सूचना देने के लिये वापस भी नहीं हुये थे कि राजाराम शास्त्री और श्रीधर शास्त्री दौड़े-दौड़े आये और उन्होंने वाड़ंभट से कहा- "अरे! यह सब गप्पें हैं कि एकनाथ अन्त्यज के यहाँ खाना खाने वाला है। वह तो अपने घर पर कीर्तन कर रहा है और बहुत सारे लोग कीर्तन सुन रहे हैं।"

वाड़ंभट ने कहा- "तुम पागल तो नहीं हो गये। हम इसलिये यहाँ आये थे कि अपनी आँखों से प्रत्यक्ष देख लें, ताकि इस प्रकार की अफवा फैलाकर नाथ को छूटने का अवसर ही न मिले। वह खाना खा रहा है, हमने अभी देखा है।"

श्रीधर शास्त्री ने कहा- "यह सब झूठ है, गप्प है। मैं अभी उनके घर से ही अपनी आँखो देखकर आया हूँ। चलो मेरे साथ, मैं बताता हूँ—वह कीर्तन कर रहा है या नहीं।"

वाड़ंभट ने कहा— "यह क्या है? जरा इस खिड़की से देखो तो एकनाथ खाना खा रहा है या नहीं?" राजाराम शास्त्री और श्रीधर शास्त्री ने देखा कि सचमुच में एकनाथ खाना खा रहा है, अन्त्यज की पत्नी खाना दे रही है और अन्त्यज और लेने का आग्रह कर रहा है। इनको लगा कि क्या ये स्वप्न तो नहीं है? या उनकी आँखों को कुछ भ्रम तो नहीं हो रहा है। [illegible] उंगलियों से मलने लगे। वे सोचने लगे जब हम आये, तब वह कीर्तन [illegible] था, तो फिर वह और किस मार्ग से यहाँ आया है? [illegible] कीर्तन चालू था। एक ही समय कीर्तन में और [illegible] यह देखकर वे आश्चर्य [illegible] हो गये।

कर्मकाण्डी पंडितों का समाधान नहीं हुआ। इसलिये वेणीभट्ट और गदाधरशास्त्री ने एकनाथ से कहा– "अंत्यज के यहाँ भोजन करना धर्मशास्त्र–विरुद्ध और वर्ण संकरता है। इसके लिये तुमको प्रायश्चित्त करना पड़ेगा।" एकनाथ ने कहा– "यह किस ग्रंथ में लिखा है कि अंत्यज के यहाँ भोजन नहीं करना? और भोजन करने से वर्ण–संकरता नहीं होती। फिर भी आप कहेंगे तो मैं प्रायश्चित्त करने के लिये भी तत्पर हूँ।"

प्रभु ने एकनाथ को अविचलवृत्ति से जीवन जीने की कला दी थी। इसलिये वे किसी से विरोध और वितंडावाद किये बिना भी अपना मार्ग प्रशस्त कर लेते थे। इस विषम परिस्थिति में से भी वे सरलता से बाहर निकल आये।

एक दिन एक ब्राह्मण एकनाथ के यहाँ आया और उसने कहा– "मैं सौराष्ट्र का एक ब्राह्मण हूँ। जगत में मेरा, पत्नी, पुत्र आदि कुछ भी नहीं है। मैं तुम्हारे पास रहना चाहता हूँ।" एकनाथ के पूछने पर उसने अपना नाम श्रीखंड्या बताया। एकनाथ ने गिरिजाबाई से कहा–'देखो न! भगवान ने तुम्हारी सहायता के लिये एक नया मेहमान भेजा है।'

गिरिजाबाई ने श्रीखंड्या से पूछा–' वह क्या काम करेगा तथा क्या वेतन लेगा?' उसने आगे कहा–" मेरे यहाँ मेहमानों का आना जाना अधिक रहता है, नौकर टिकते नहीं हैं, इसीलिये पूछती हूँ।"

श्रीखंड्या ने कहा–" मैं सभी काम करूँगा चाहे कितने ही आदमी हों सब की रसोई बनाऊँगा। मुझे वेतन की भी आवश्यकता नहीं, क्योंकि मेरा कोई नहीं है। आपके खाने के बाद जो बच रहेगा, उसे ही खाऊँगा। परन्तु एक बात कहूँ–"

एकनाथ ने कहा–" हाँ–हाँ, कहो न!" उसने कहा–" एक तो मुझे 'तू' कहकर ही पुकारना होगा और दूसरे मैं पक्का ब्राह्मण हूँ किसीको रसोई और चौका नहीं छूने देता इसलिए मैं दरवाजे बन्द कर भोजन बनाऊँगा।"

श्रीखंड्या ने घर का समस्त कार्य भार उठा लिया। पानी लाना, भोजन बनाना, कपड़े–बर्तन साफ करना, एकनाथ की पूजा के लिये पुष्प लाना, चन्दन घिसना आदि सभी छोटे–बड़े काम श्रीखंड्या ने संभाल लिये।

एकनाथ ने अपने पितामह भानुदास की आकांक्षा की पूर्ति कर दी। जगत की सर्जक चिद्घन शक्ति सगुण–साकार रूप में उसके घर में ही नहीं आई, बल्कि घर का काम भी करने लगी।

श्रीएकनाथसदनीं माधवजी सर्व कामहि करीतो।
स्वकरें चंदन घासी गंगेचे पाणी कावडी भरितो॥ (मोरोपंत)

में गिर गये और कहने लगे की आपकी कृपा से हमको गोदावरी मैया के साक्षात् दर्शन हुये। आप हमे क्षमा करें।

दूसरे दिन गोदावरी ने एकनाथ के चरणों में नमन कर कहा कि लोग अपने पापों का प्राक्षालन करने के लिये मुझमें स्नान करते हैं, इससे मैं मलिन हो जाती हूँ और तुम्हारी वाक्-गंगा में अवगाहन कर पवित्र हो जाती हूँ। एकनाथ ने कहा— "माँ! तू अप्रत्यक्ष रूप में ही आया कर, नहीं तो चमत्कारप्रिय लोग चमत्कार के चक्कर में पड़ जायेंगे और फिर मेरे लिये एक समस्या बन जायेगी।" धन्य है एकनाथ। सिद्धि पाने पर भी जिसे उसका प्रलोभन नहीं है। जो सिद्धि के नाद में नही पड़ा।

एक दिन एक स्त्री अपने एक दुर्बल बच्चे को लेकर एकनाथ के पास आई और बच्चे पर क्रोध प्रकट करते हुये एकनाथ से कहने लगी कि मैं मजदूरी करके पैसा कमाती हूँ, इसको खाना नहीं पचता। मजदूरी के पैसों से मैं दवा लेती हूँ, परन्तु यह न दवा खाता है और न परहेज करता है। एकनाथ ने कहा तुम उसे आठ दिन तक यहीं छोड़ दो। लड़का भी रहने के लिये तैयार हो गया। एकनाथ ने गिरिजाबाई से कहा कि ऐसा ही भोजन बनाओ जैसा वैद्य ने लड़के को देने के लिये कहा है। धन्य हो एकनाथ! कौन रोगी और कौन परहेज करता है? लड़का दवा खाने लगा और परहेज से रहने लगा। एक सप्ताह बाद वह बिलकुल स्वस्थ हो गया और उसको माँ उसे ले गई।

उस काल में पैठण सुखी, विद्वानों और श्रीमंतों का गाँव समझा जाता था। यहाँ के विद्वान और श्रीमंत लोग एकनाथ की कीर्ति को सहन नहीं कर सकते थे। वे उसकी बदनामी करते, मजाक करते और किसी भी प्रकार उसे गिराने के अवसर की खोज में रहते थे। परन्तु एकनाथ की शीलता, नम्रता और व्यवहारकुशलता के कारण उन्हें इसके लिये अवसर नहीं मिलता था।

एक बार पड़ोस के खेडेगांव के एक ब्राह्मण को अपने पुत्र का यज्ञोपवीत संस्कार करना था। इसके लिये उसे दो सौ रुपयों की आवश्यकता थी। वह पैठण आया। उसने एक घर पर कुछ लोगों को बैठे देखा तो उनके पास जाकर उसने अपनी बात बताई। यह वही चांडाल चौकड़ी थी, जो हर समय एकनाथ को गिराने का अवसर ढूँढती रहती थी। उनमे से एक श्रीमंत नौजवान ने कहा—"तुम्हें दो सौ रुपये दे दिये जायेंगे, पर तुम एक छोटा सा काम कर दो।" ब्राह्मण ने पूछा—"क्या काम है?" काम कुछ बड़ा नहीं, पर यहाँ एकनाथ नाम का एक व्यक्ति है, जो ढोंग करता है कि उसे गुस्सा ही नहीं आता, लोगों को बनाता और संत बनता है। तुम किसी भी प्रकार

से उसे गुस्सा दिला दो, तो हम तुमको दो सौ रुपया देंगे।" ब्राह्मण ने कहा—'यह भी क्या कोई बड़ी बात है?' वह एकनाथ के घर चला गया।

एकनाथ पूजा-गृह में पूजा कर रहे थे। ब्राह्मण का लक्ष्य एकनाथ को चिढ़ाना और क्रोधित करना था। वह बिना जूते और अपने सामान को उतारे सीधे पूजा-गृह में जा कर धम्म से एकनाथ की गोद में जा बैठा।

शांति के महासागर एकनाथ ने हँसते हँसते कहा—"धन्य है! आपके दर्शन और प्रेम से मैं आनन्दित हो गया हूँ। आज तक अनेक लोग मुझको मिलने आये हैं, परन्तु इतने प्रेम, आतुरता और अधीरता से कोई नहीं आया, जो जूते उतारना भी भूल गया हो। सचमुच! मैं आप जैसे प्रेमी को मिलकर धन्य हो गया हूँ।"

नाथ उसे देव-घर से बाहर लाये और कहा—भोजन तैयार है, आप गोदावरी में स्नान करके आइये और भोजन कीजिये। ब्राह्मण तो एकनाथ को गुस्सा चढ़ाना चाहता था। वह गोदावरी में स्नान करने गया और बड़ी देर तक जान बूझकर नहीं लौटा। एकनाथ ने श्रीखंड्या को ब्राह्मण की ढूँढ में भेजा। श्रीखंड्या को देखकर ब्राह्मण ने पूछा—"एकनाथ नाराज तो नहीं हो रहे हैं?" उसने कहा—"आप कितनी भी देर करें, वे गुस्सा नहीं हो सकते और आपके आये बिना भोजन भी नहीं कर सकते।"

ब्राह्मण के आने पर एकनाथ और ब्राह्मण भोजन करने बैठे। ब्राह्मण भोजन के दोष निकालने और उसकी निंदा करने लगा, परंतु एकनाथ के मुँह पर तनिक भी नाराजी नहीं आई। गिरजाबाई ब्राह्मण को मीठी पूरी परोसने के लिये [illegible] झुकी, तो वह दुष्ट लालची ब्राह्मण गिरिजाबाई की पीठ पर चढ़ गया।

एकनाथ ने शांति पूर्वक कहा—"गिरिजा! ध्यान रखना, ब्राह्मण गिर न जाय।" नाथ के जीवन से एकरूप हुई गिरिजा ने शांति से कहा—"आप [illegible] चिंता न करें। मुझे हरि पंडित (पुत्र) को पीठ पर बिठाकर काम करने का अभ्यास है। इसलिये ब्राह्मण गिर नहीं सकता।"

"पर यह बालक तो है" नाथ ने हँसते हुये कहा।

"लड़का कितना ही बड़ा हो, परंतु माँ की दृष्टि में वह [illegible] ही है। [illegible] इस बड़े लड़के को गिराऊंगी नहीं—हाँ!"

गिरजाबाई के इन शब्दों से ब्राह्मण [illegible]

उद्धव से कह कर ब्राह्मण को दो सौ रुपये दिला दिये। एकनाथ में शांति, सहनशीलता, नम्रता, निरीहता, धैर्य, भूतदया आदि समस्त गुणों का समन्वय हुआ था।

एक बार एकनाथ अपने नित्य-नियम के अनुसार प्रातः स्नान करने के लिये गोदावरी नदी में जा रहे थे, मार्ग में एक यवन का घर पड़ता था, वह प्रायः सभी को तंग करता था। एकनाथ जब स्नान करके लौटे, तो उसने उनके ऊपर थूक दिया। एकनाथ ने उससे कहा-"भूल मेरी ही थी, तुमने अपने थूकने के नियत स्थान पर ही थूका, मुझे कुछ हट के चलना चाहिये था।" वे फिर गंगा में गये और स्नान करके आये। उसने फिर भी थूक दिया। देखने वाले कुछ लोगों को क्रोध आया और उनसे आज्ञा चाही कि वे यवन को उसकी धृष्टता का मजा चखा दें। परन्तु एकनाथ ने उन्हें ऐसा नहीं करने दिया। गुरु-गृह मे अकेले शत्रु-सेना का पराभव करने वाले एकनाथ की भुजाओं में क्या इतनी भी शक्ति नहीं थी कि वे इस यवन को पाठ पढ़ा सकते? परन्तु शक्ति होने पर भी क्षमा करना ही सच्ची क्षमा है। निर्बल की क्षमा का कोई अर्थ नहीं है। यवन ने १०८ बार एकनाथ के ऊपर थूका और वे शांत भाव से १०८ बार गोदावरी में स्नान करके आये।

एकनाथ की सहनशीलता को देखकर यवन को साश्चर्य पश्चाताप हुआ और वह उनके चरणों में गिरकर क्षमा याचना करने लगा। उन्होंने कहा-"तुम्हें क्षमा करने की बात ही क्या है? तुम्हारी कृपा से मुझे १०८ बार गोदावरी में स्नान करने का पुण्य लाभ हुआ है।" यवन ने कहा मैं पापी हूँ, मुझे सदुपदेश दीजिये। इस पर एकनाथ ने कहा कि तुम्हारे पाप उसी समय नष्ट हो गये, जिस समय तुमने पश्चाताप कर लिया है। एक बात ध्यान में रखो कि ईश्वर एक ही है। वह यवन तब से एकनाथ का भक्त हो गया।

एक दिन सुबह एकनाथ दो अध्याय भागवत पढ़कर घूम रहे थे कि उनके सामने उनका पुत्र हरि पंडित अपनी पत्नी और दो पुत्रों को लेकर खड़े हो गये। एकनाथ ने पूछा कि वे कहाँ जा रहे हैं, तो उसने कहा-"आपका संस्कृत ग्रंथों का मराठी करण और अन्त्यजों के यहाँ भोजन करना मुझे पसंद नहीं है। मै आपसे वाद-विवाद नहीं कर सकता और करना भी नहीं चाहता। यह 'अब्राह्मण्य' है और मैं इसे सहन नहीं कर सकता। इसलिये मैं काशी जा रहा हूँ। आपके एक पौत्र राघव को जो आपके कीर्तन में मंजीरा लेकर नाचता है, यहीं" छोड़ रहा हूँ। एकनाथ ने कहा-"अच्छा! तू ज्ञानी है, तुझे क्या कहूँ।" हरि पंडित सपरिवार काशी चला गया।

एकनाथ ज्ञानेश्वरी और भागवत की मराठी भाषांतर कर लोक भाषा में लोगों को समझाते थे। उनका एक शिष्य भागवत पर मराठी छन्दबद्ध टीका को लेकर काशी

गया। एक दिन वह उसे मणिकर्णिका घाट पर पढ़ रहा था, उसकी मधुर शब्दरचना को सुनकर लोगों की भीड़ जम गई। परंतु प्राकृत–भाषा के विरोधी पंडितों को यह बात अच्छी नहीं लगी। इधर स्वयं हरि पंडित भी इसके विरुद्ध थे। इसलिये काशी के पंडितों ने हरि पंडित को साथ में लेकर उस समय के शंकराचार्य को लिखा कि एकनाथ पाखंडी है और लोगों को गलत मार्ग पर ले जा रहा है। एकनाथ के पुत्र के भी हस्ताक्षर होने से शंकराचार्य ने इस सम्बन्ध में छानबीन करने के लिये एकनाथ को लिखा कि वह प्राकृत–भाषा में लिखे अपने भागवत ग्रंथ को लेकर काशी आवे।

शंकराचार्य के पत्र को मान देने के लिये एकनाथ सपरिवार काशी–यात्रा के लिये निकले। आज की तरह तब रिटर्न टिकिट निकालकर यात्रा नहीं होती थी। एकनाथ गाँवों-गाँवों में प्रभु के विचारों को देते हुये काशी पहुँचे। एकनाथ से कहा गया कि जब तक उनके विरुद्ध लगाये गये आरोपों का निराकरण नहीं होता, तब तक वे काशी –विश्वेश्वरनाथ के दर्शन नहीं कर सकते। एकनाथ ने पंडितों की आज्ञा को सर माथे चढ़ा लिया।

दूसरे दिन षट्ग्रंथी, अग्निहोत्री, दशग्रंथी, वेदसंपन्न, शास्त्रसंपन्न, तर्कतीर्थ, उपोनिष्ट, न्याय, मीमांसा आदि के धुरंधर विद्वानों का दरबार लगा। श्रेष्ठ पंडित ने पूछा–" तुम भागवत पर प्राकृत–भाषा में ग्रंथ रचना कर उसका प्रचार करते हो?" "जी हाँ।" "तुमको पता नहीं कि वैदिक सिद्धान्त केवल गीर्वाणवाणी (देववाणी संस्कृत) में ही कहे जा सकते है? संस्कृत भाषा देवों की भाषा है, उसी में वैदिक वाङ्मय का प्रचार होना चाहिये। अमृत सुवर्ण–पात्र में ही परोसा जाता है।

एकनाथ ने कहा–"संस्कृत भाषा यदि देवों ने निर्माण की है तो क्या प्राकृत भाषा चोरों ने बनाई है? अमृत यदि सोने के पात्र में परोसा जाय तो उत्तम है, पर यदि मिट्टी के बर्तन में परोसा जायेगा, तो क्या उसकी मिठास मर जायेगी? वेदांत और भक्तितत्व की टीका प्राकृत भाषा में नहीं की जानी चाहिए इसके लिये क्या कोई शास्त्राधार है?"

किया है।" पंडित के यह पूछने पर कि 'तुमको इस कार्य को करने के लिये किसने कहा? और शास्त्र में भूल होने पर भगवान क्या सजा देते हैं?' एकनाथ ने कहा—

"प्रभु के अतिरिक्त मुझे प्रेरणा और कौन दे सकता है? शास्त्र में भूल करने पर प्रभु क्या सजा देते हैं? इसकी भी मुझे पूर्ण कल्पना है। आप मन के विकल्पों को त्याग कर मेरे लिखे ग्रंथ को सुनिये, यदि उसमें एक शब्द की भी गलती होगी तो मैं जो प्रायश्चित्त आप कहेंगे, उसे करने को ही तैयार नहीं, अपितु अपने हाथों उन्हें गंगा में विसर्जन कर दूँगा।" नाथ की शांति एवँ विनयपूर्ण दृढ़ता को देख कर पण्डित लोग स्तब्ध रह गये। उन्होंने ग्रंथ को पढ़ने की आज्ञा दी।

एकनाथ ने गुरु का स्मरण कर, भगवान की मूर्ति को नेत्रों के सामने खड़ी कर भागवत की छन्दबद्ध मराठी टीका को पढ़ना शुरू किया। एकनाथ के मुख से निकली प्रासादिक वाणी, शब्द—रचना, पदलालित्य, भाव और अर्थवाही कथा—प्रवाह, मूल-ग्रंथ के विचारों का यथातथ्य प्रतिपादन, स्वर—माधुर्य और भाषा सौष्ठव से पंडित और श्रोता लोग मंत्र—मुग्ध होकर सुनने में तल्लीन हो गये। वे काव्यानन्द में झूम उठे। उन्हें लगा कि काशी में गुप्त सरस्वती प्रकट हो गई है। एकनाथ के मुँह पर दिव्य ब्रह्मतेज झलक रहा था। सबने आग्रह किया कि वे पूरा भागवत सुनावें। एकनाथ की ज्ञान—गंगा में स्नान कर पंडितों ने अपने को कृत्यकृत्य समझा और एकनाथ को पालकी में लेकर काशी क्षेत्र में उनका जुलूस निकालने का निश्चय किया।

एकनाथ ने कहा—"आपके प्रेम को मैं समझता हूँ, परन्तु आप यदि जुलूस निकालना ही चाहते हैं, तो उस ग्रंथ का निकालिये, जिसमें प्रभु का गुण—गान गाया गया है। लोगों ने उसी ग्रंथ को पालकी में रखकर जैकार करते हुये जुलूस निकाला और अंत में विश्वेश्वर भगवान के चरणों में रख दिया। उस दिन से यह प्रथा ही बन गई है कि भागवत सप्ताह के पश्चात् उसका जुलूस निकाल कर मंदिर में जाते हैं।

एकनाथ काशी विश्वेश्वर के दर्शन कर आनन्दित हुये और रामेश्वर के ऊपर अभिषेक करने के लिये गंगा—जल का कलश लेकर रामेश्वर की यात्रा के लिये चल पड़े। ग्रीष्म—ऋतु के प्रखर ताप में एकनाथ का यात्री—दल चल रहा था। मार्ग में उन्होंने रेत के ऊपर पानी के बिना प्यास से तड़फता हुआ एक गधा देखा। उनका अन्तर—हृदय करुणा से उद्वेलित हो गया और उन्होंने गंगाजल का कलश गधे के मुँह में उँडेल दिया। गधे को शांति हुई और वह उठ खड़ा हो गया।

उद्धव ने पूछा—"महाराज! अब रामेश्वर भगवान का अभिषेक किससे करोगे?" नाथ ने कहा—"मेरा रामेश्वर यही था। इसके शरीर के पर्दे को यदि

अलग कर दिया जाय, तो इसमें हरि के सिवाय और क्या है? यदि एक जीव को इस प्रकार आँख के सामने तड़पते हुये मर जाने दिया जाय, तो फिर 'सर्व भूत हिते रता' को रटने का क्या अर्थ है?"

काशी–रामेश्वर की यात्रा समाप्त कर एकनाथ जब वापस घर लौटे तो उनका दर्शन और स्वागत करने के लिये घर घर भीड़ लगने लगी। नित्य हजारों लोग नाथ-मंदिर में आते और भोजन करते थे। श्रीखंड्या को आज कल फुर्सत न थी। एकनाथ के सारे अन्न-कोठार खाली हो गये।

एक दिन एकनाथ के पिता का श्राद्ध था। श्रीखंड्या, गिरिजाबाई और उद्धव को फुर्सत न थी, विविध प्रकार के सुस्वादु व्यंजन तैयार किये गये थे। उनकी सुगन्ध चारों ओर फैल रही थी। एकनाथ स्नान–सन्ध्या कर श्राद्ध–विधि के लिये बाहर आये, तो कुछ भिखारी और अछूत उनके घर की ओर देखकर कहते थे कि 'कितनी अच्छी सुगन्ध आ रही है?" उनमें से एक स्त्री ने कहा–"ऐसा सुस्वादु भोजन तो ब्राह्मणों को मिलता है, हम लोगों को थोड़े ही मिलता है?"

यह संवाद सुनकर एकनाथ का हृदय कारुण्य से भर आया और उन्होंने उन [illegible] सब भिखारी और अंत्यजों को बुलाकर अपने आंगन में बिठा कर ब्राह्मणों के लिये तैयार किया गया सारा भोजन खिला दिया।

कभी बीच में न बोलने वाला श्रीखंड्या भी अपना मान भूलकर बोल पड़ा "तो वे प्रभु, नाथ महाराज के पितरों को अवश्य भेजेंगे और तुम्हारे पितरों को भी भेजेंगे। श्रीखंड्या ने एकनाथ से कहा–'आप इन पंडितों को छोड़ो। अन्दर चलो और अपने पितरों का आवाहन करो वे अवश्य जीमने के लिये आयेंगे।' वह एकनाथ का हाथ पकड़कर अन्दर ले गया। एकनाथ ने देवघर में जाकर पांडुरंग की आंख बन्द कर प्रार्थना की 'प्रभु! मेरी भूल हो तो मुझे बताओ।' श्रीखंड्या बोला– "मैं कहता हूँ, तुम्हारी कोई भूल नहीं है। भगवान ने तुम्हारे गाँव के कई मृतकों (पितरों) को श्राद्ध के लिये भेजा है।" एकनाथ ने श्रीखंड्या की बात पर विश्वास कर पितरों का आवाहन किया और देखा कि भानुदास, चक्रपाणि, सूर्यपाणि आदि समस्त पितर भोजनगृह में भोजन करने के लिये बैठे हैं। गिरिजाबाई और श्रीखंड्या की बनाई हुई रसोई खाकर सब तृप्त हो गये। भोजन के बाद पिंडदान हुआ और नाथ ने पितरों को पूछा–"शेषान्न का क्या किया जाय?" पितरों ने कहा–"तुम अपने इष्टमित्रों सहित खाओ।" यह शब्द बाहर खडे ब्राह्मणों ने सुने। जब वे जाने लगे तो उन्होंने अपने साथ अपने पितरों को भी श्राद्ध–भोजन करके लौटते देखा। एकनाथ की कृपा से उन्हें अपने पितरों के दर्शन हुये।

एक दण्डवत् सन्यासी था। वह सभी चैतन्य प्राणियों को दण्डवत (नमस्कार) करता था। एकनाथ उससे परिचित थे। एक बार वह पैठण आ रहा था। मार्ग में एक गधा मरा हुआ था और लोग उसे देखने के लिये खड़े थे। स्वामी ने कहा–"इस चैतन्य को मेरा प्रणाम" और गधा जीवित हो गया। एकनाथ को इस बात की खबर लगी। उन्होंने स्वामी को कहा–"यह तुमने क्या किया है? साधक का मन सिद्धि पर गया, तो वह समाप्त हो जाता है। कुदरत के नियम में हाथ डाल कर तुमने अनुचित किया है और अब लोग भी तुमको हैरान करेंगे।" सन्यासी ने कहा–"महाराज! सचमुच मुझसे भूल हो गई है, इसका प्रायश्चित क्या है? एकनाथ ने कहा–"देह-त्याग ही इसका प्रायश्चित है।" सन्यासी ने उनकी बात मानकर हरि चिंतन करते हुये। आसन पर बैठकर अपना शरीर–त्याग कर दिया।

एकनाथ श्री सम्पन्न थे। सैकड़ों लोग उनके यहाँ आते और भोजन करते थे। उनके भोजनालय में बहुत से मूल्यवान बर्तन थे। एक बार कुछ चोरों ने उनके भोजनालय से बर्तनों को चुराने का निश्चय किया। चूँकि एकनाथ के घर पर रात्रि को कीर्तन और प्रवचन सुनने के लिये सैकड़ों भक्त आते थे। चोर भी उनके साथ अन्दर घुस आये और जिस समय लोग भजन कीर्तन में तल्लीन थे वे समय पाकर बर्तनों के पोटले बांधने लगे। लोगों के चले जाने के बाद चोरों ने

सोचा कि एकनाथ सो गये होंगे, इसलिये पूजा-घर में भी देखना चाहिये कि वहाँ भी ले जाने योग्य कुछ है या नहीं। वे पूजाघर में गये कि उनकी आँखें बन्द हो गईं। अब वे फिर टटोलते हुये कीचन में गये तो आँखें बन्द होने से वे देख नहीं पाये, जिससे वे बर्तनों के बंधे पोटलों पर टकराये। बर्तनों की आवाज सुनकर एकनाथ किचन में आये और चोरों को लड़खड़ाता हुआ देखकर पूछा कि क्या बात है? तुमको क्या हो गया है? चोरों ने घबड़ाकर सच्ची बात कह दी। एकनाथ ने उनकी आँखों पर हाथ फेरा और वे देखने लगे उन्होंने अपने हाथ की सोने की अंगूठी निकालकर उनको देते हुये कहा—'यह लो अपना काम करो। चोरी करना तुम्हारा काम है। मैं भी बर्तन इकट्ठा करने में तुम्हारी सहायता किये देता हूँ चोरों ने क्षमा याचना की और चोरी न करने का संकल्प लिया। एकनाथ ने गिरीजा को उठाकर उनके लिये भोजन बनवाया और उन्हें भोजन कराया। फिर वे तीनों चोर उनके भक्त बन गये।

एकनाथ मूर्तिमंत तेज, शांति और करूणा की मूर्ति थे। जगत् की चिन्मय शक्ती सगुण-साकार होकर जिनके यहाँ घर का काम करती और स्वयं भोजन बनाकर खिलाती थीं, वे कितने भाग्यशाली रहे होंगे? एकनाथ ने भगवान का अनुपम कार्य कर उन पर जो ऋण चढ़ाया था उससे उऋण होने के लिये ही भगवान ने उनकी चाकरी की।

एक बार एक भक्त ब्राह्मण द्वारिका में भगवान का ध्यान करता था, पर उसके ध्यान में प्रभु द्वारिकाधीश नहीं आते थे। भगवान ने उसे स्वप्न में कहा [illegible] पैठण में एकनाथ के यहाँ हूँ, वहाँ पर लोग मुझे श्रीखंड्या कहते हैं, [illegible] ब्राह्मण एकनाथ का घर ढूँढते हुये पैठण आये। [illegible] पानी भरने के लिये जाते हुये श्रीखंड्या मिला। ब्राह्मण ने उससे एकनाथ का घर [illegible] और एकनाथ के पास जाकर कहा—'मैं द्वारिका का [illegible] श्रीखंड्या कहाँ है?' एकनाथ ने पूछा कि आपको उनसे क्या काम है? [illegible] द्वारिकाधीश ने बताया है कि वह [illegible] तुम्हारे यहाँ श्रीखंड्या [illegible] है। एकनाथ ने कहा—परन्तु भगवान तो सर्वव्यापी हैं, [illegible] [illegible] है, तब [illegible] पर [illegible] नहीं [illegible]।

गया। एकनाथ का हृदय प्रभु-प्रेम से भर गया। आँखें छलक आईं। गिरिजा रोने लगी। वह बोल नहीं सकती थी।

इस भारत वसुन्धरा में अनेक प्रभु-भक्त हुये हैं, पर एकनाथ भक्त सम्राट हैं। उनके जीवन के ऐसे अनेक भावमय प्रसंग है। इस भक्तसम्राट का जीवन-कार्य समाप्त हुआ। जीवन भर कठोर तपश्चर्या के कारण फाल्गुन वदी पंचमी शके पन्द्रह सौ इक्कीस को उनकी तबियत बिगड़ने लगी, उन्होंने उद्धव से कहा कि कल वे महा प्रयाण करेंगे। षष्टी के दिन उन्होंने बाजे-गाजों और अपार जन-समुदाय के साथ गोदावरी तट पर प्रभु का ध्यान कर प्रसन्न मुद्रा में गोदावरी में प्रवेश किया और कण्ठ तक जल आने पर उपस्थित जन-समुदाय को वैदिक सिद्धान्तों को न भूलने और भ्रान्त कल्पनाओं को छोड़ने का उद्बोधन कर जल-समाधि लेकर अपनी इहलोक यात्रा का संवरण कर दिया।

प्रभु के प्रिय लाल इस पुण्यात्मा महापुरुष को हमारा अनन्त प्रणाम!

— o —

लिये अर्पित किया हुआ है। इसीलिये सन्यासी के मुख से निकले हुये 'नारायण' इस मन्त्रोच्चारण का कुछ अर्थ था। ऐसे सन्यासियों, कर्म-योगियों और महापुरुषों की जननी अर्थात् भारत-देश!

ऐसे अनन्त महापुरुषों में वाल्मीकि की तरह ख्यात एक अति मधुर चरित्र है संत तुलसीदास!

उत्तम अन्नोत्पादन या अन्य किन्हीं कारणों से ही हमारा देश सुन्दर और मधुर नहीं– अन्न तो हमारे देश की अपेक्षा दूसरे देशों में कई गुना होता है। परन्तु इस देश में राम और कृष्ण का नृत्य हुआ है, वाल्मीकि और तुलसी का संगीत गूँजा है-

कूजन्तं राम-रामेति मधुरं मधुराक्षरम्।
आरुह्य कविताशाखां वंदे वाल्मीकिकोकिलम्॥

वाल्मीकि की मधुरिमा को प्राकृत भाषा में लिखने वाला तुलसीदास भी मधुर है। उनकी रामायण कितनी मधुर है? इसका प्रमाण यही है कि वह झोंपड़ी से महल तक समान रूप से पहुँची है और प्रेम से गाई जाती है। हम समझते हैं कि तुलसीदास अपनी स्त्री पर लट्टू बने थे। एक दिन जब वे कामातुर होकर साँप को रस्सी समझ कर उसकी सहायता से अपनी पत्नी के शयन-गृह [ससुराल] में पहुँचे, तो उसने यह कहकर उनकी भर्त्सना की कि 'तुम हाड-माँस और रक्त के इस गोले पर क्यों लट्टू बने हो? तुम्हारा इतना प्रेम राम से होता तो कितना अच्छा था?' पत्नी के ताना मारने से तुलसीदास ने आवेश में आकर गृहत्याग किया और उसके पश्चात् तपश्चर्या की, जिससे भगवान राम उन पर प्रसन्न हुए और उसके बाद उन्होंने रामायण लिखी।

वस्तुतः तुलसीदास इतने मूर्ख नही थे कि उन्हें शरीर का ज्ञान न रहा हो और पत्नी के कहने पर ही उन्हें ज्ञान हुआ हो कि शरीर रुधिर-माँस का पिण्ड है। वे तो एक महान पण्डित थे।

तुलसीदास जी का जन्म यमुना नदी के किनारे बसे हुये रामपुर नाम के गाँव में आत्माराम नामक एक ब्राह्मण के घर में हुआ था।

वह सतत भगवान से प्रार्थना करता था "हे भगवान, मुझे तेजस्वी संतान प्रदान कर।" उसकी प्रार्थना के परिपाकस्वरूप तुलसीदास आये। पिता ने बचपन से ही उसमें तेजस्वी संस्कार डाले। 'मातृवान पितृवान आचार्यवान वेद' ऐसे दिव्य और शास्त्रीय संस्कारों के साथ उसका पोषण हुआ।

नवजात शिशु के कान में जन्म के पन्द्रह दिन तक किसी भी प्रकार की

आवाज नहीं पड़नी चाहिये। बालक में जन्मतः दो मुख्य शक्तियाँ होती हैं। (१) बुद्धि-शक्ति (२) स्मृति-शक्ति। आवाज सुनते ही वह उसे पकड़कर याद रखता है। इस प्रकार उसकी स्मृति [याददास्त] बढ़ती है। परंतु बुद्धि विकसित नहीं होती। बुद्धि-विकास के लिये, उसे एकान्त में रखकर केवल अवलोकन करने का अवसर देना चाहिये, जिससे उसकी निरीक्षण शक्ति बढ़े और बुद्धि खिले। इसीलिये हमारे यहाँ वृद्धि-सूतक माना जाता है। वृद्धि-सूतक के पश्चात् धीरे-धीरे बालक के कान में उत्तम शब्द बोलने चाहिये। उसके पश्चात् ही उसे पिता तथा संत पुरुषों के चेहरे दिखाना चाहिये तथा तेजस्वी लोरियाँ सुनानी चाहिये।

'चतुर्थे मासि कर्तव्यं शिशोर्निष्क्रमणं गृहात्' बालक को चतुर्थ महीने में घर से बाहर निकालना चाहिये। बालक के जन्मते ही बाहर नहीं लाना चाहिये। आज तो बालक अस्पताल में पैदा हुआ कि लोग तत्काल उसे [illegible]-प्यार करने दौड़ पड़ते हैं। परिणामतः अयोग्य, अनुचित और अनिच्छित लोगों पर बालक की दृष्टि पड़ती है, जिसका उसकी बुद्धि पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ता है। तुलसीदास का लालन-पालन शास्त्रीय पद्धति से हुआ था, इसीलिये उनकी [illegible] के समान प्रखर तेजस्वी बुद्धि थी। यज्ञोपवीत देने के पश्चात् उनको अध्ययन करने के लिये गुरु-गृह भेजा गया।

"जीव की इच्छा-शक्ति और प्रभु की आत्म-शक्ति यदि दोनों एकत्रित हो जाँय, तो मनुष्य जो करना चाहे उसे कर सकता है।" तुलसीदास ने कहा।

गुरु ने कहा-"तुलसीदास! इन दोनों के बीच में प्रारब्ध-शक्ति आकर खड़ी रहती है। जिस प्रकार लालटेन की हाँडी पर कालिख (काजल) चढ़ जाने से लालटेन का प्रकाश धूमिल पड़ जाता है, उसी प्रकार प्रारब्ध-शक्ति के कारण इच्छा-शक्ति अथवा आत्म-शक्ति शिथिल पड़ जाती है।"

तुलसीदास ने कहा-"प्रारब्ध कर्म-शक्ति पर आधारित है और वह जड़ है। मानव इच्छा और आत्म-शक्ति से उसका मुँह मोड़ सकता है।"

तुलसीदास ने सचमुच अपनी इच्छा और आत्म-शक्ति से प्रारब्ध के ऊपर विजय प्राप्त की और रत्नावली नाम की त्रैलोक्य सुन्दरी के साथ उनका विवाह हुआ। यह कर्म की जड़-शक्ति पर चैतन्य-शक्ति की विजय थी।

तुलसीदास पण्डित और कर्तृत्ववान थे। परन्तु उनका जीवन दैवी नहीं था। इसलिये विवाह करने के पश्चात् रत्नावली जैसी अलौकिक सुन्दर पत्नी ही उन्हें जीवन का सर्वस्व लगने लगी।

पिता की प्रसन्नता के लिये वे पूजा-पाठ, सेवा आदि करते, परन्तु उसमें उन्हें एक प्रकार की गुलामी लगती थी। सामान्यतः बुद्धि के प्रखर तेज से श्रद्धा और भाव-पुष्प कुम्हला जाता है। इसीलिये शास्त्रकारों ने भारपूर्वक कहा है कि बुद्धि के साथ-साथ श्रद्धा और भाव के पुष्प को जिलाये रखो। तुलसीदास की प्रखर बुद्धि के तेज से उसका श्रद्धा-पुष्प सूख गया।

'**श्रद्धां मेधां यशः प्रज्ञां**' श्रद्धा और मेधा का समन्वय साधने पर ही जीवन मे यश और सफलता मिलती है। तुलसीदास को रत्नावली के अतिरिक्त कुछ सूझता ही नहीं था। एक दिन रत्नावली भोजनगृह में बैठी चावल छांट रही थी, इतने में उसके मायके से एक व्यक्ति यह सन्देश लेकर आया कि उसकी माँ की तबियत बहुत खराब है, इसलिये वह शीघ्र उसे देखने के लिये आवे। रत्नावली अत्यन्त चिन्तित हो गई। तुलसीदास उस समय बाहर गये हुये थे। रत्नावली सन्देश वाहक के साथ ही अपने मायके चली गई। मार्ग में उसने उस व्यक्ति से पूछा कि 'जिस समय तुम आये थे, उस समय माँ की तबियत कैसी थी?' उस व्यक्ति ने कहा कि 'उसकी तबियत बिलकुल ठीक है।' रत्नावली ने पूछा-"तब ऐसा गलत सन्देश क्यों भेजा गया?" उसने कहा-"यदि ऐसा सन्देश न भेजा जाता तो तुमको पीहर आने का अवसर न मिलता।

विना यदि छुटकारा नहीं तो फिर भोगों की पराधीनता स्वीकार करना चाहिये या ईश्वर की पराधीनता ? ”

मानव जब आपत्ति में फंसता है, तब उसे भगवान याद आते हैं और वह भगवद्भक्ति की ओर मुड़ता है। अंत में असहाय और लाचार बनकर कहता है– “ भगवान की जो इच्छा–वही ठीक है ! ” ऐसी ईशपराधीनता का कोई अर्थ नहीं। ईश–पराधीनता में भी तेजस्विता और विवेक–बुद्धि से निर्णय लेना आना चाहिये।

मानव जीवन भोगपराधीन या ईशपराधीन ? इस चर्चा को आगे बढ़ाते हुये रत्नावली ने कहा–“ आप यह क्यों भूल जाते हैं कि भोग प्रधान जीवन घटता है, उस में मानव जीवन का ह्रास है। भोग की पराधीनता में भोग्य वस्तु और भोक्ता दोनों ही समाप्त होते हैं। भोग्य वस्तु समाप्त हो जाती है, पर भोग एक या दूसरे रूप में रहते ही हैं, परन्तु भोगने वाला तो समाप्त होने ही वाला है। परन्तु ईश–पराधीनता में जीवन का ह्रास नहीं, अपितु विकास है, उसमें कुछ घटता नहीं बढ़ता ही है।

भर्तृहरि ने भोगाधीन–जीवन की निन्दा की है–

भोगा न भुक्ताः वयमेव भुक्ताः
तपो न तप्तं वयमेव तप्ताः ॥
कालो न यातो वयमेव याताः
तृष्णा न जीर्णा वयमेव जीर्णाः ॥

इस प्रकार की बौद्धिक चर्चा ने तुलसीदास के जीवन को नवीन मोड़ दिया। रत्नावली के ताना मारने से आवेश में आकर तुलसीदास गये और भक्ति की ओर मुड़े– यह कहना यथार्थ नहीं है।

इसके पश्चात् तुलसीदास गृह त्याग कर गंगा–तट पर पर्णकुटी बनाकर रहने लगे। वे चित्त एकाग्र कर अपना जीवन–विकास करने लगे। उन्होंने आम की एक गुठली बोई थी। वे नित्य शौच से आने के पश्चात् उसे सींचते थे। यह उनका नियम बन गया था। बारह वर्ष पश्चात् इस गुठली के स्थान पर एक सुन्दर सघन वृक्ष तैयार हो गया।

चित्तेकाग्रता, प्रभु–भक्ति और भगवद्–निष्ठा से तुलसीदास का जीवन भी वृक्ष की तरह पुष्पित, सुगन्धित और तेजस्वी बन गया। एक दिन जब वह इस वृक्ष को पानी पिला रहे थे तो एक पिशाच ने प्रकट हो कर कहा–“ मैं तेरी एकनिष्ठा से प्रसन्न हूँ, बोल तुझे क्या दूँ ? ”

तुलसीदास ने कहा–“ मुझे जो चाहिये, वह तुम्हारे पास नहीं है। ” “ पर

तुलसीदास का हृदय भर आया और आँखों से अश्रुप्रवाह होने लगा। वह हनुमान के चरणों में गिर गया।

" तुलसीदास! भगवान तो वहाँ आये ही थे, तुम्हारे सामने भी बैठे थे।" ऐसा कहकर उन्होंने तुलसीदास को उठाया।

" प्रभु! जिस रूप में मैं राम को पहिचान न सकूँ, वह रूप तो सर्वत्र ही है! उसके लिये हनुमान की क्या आवश्यकता है? मुझे तो वह रूप चाहिये, जिसमें मैं उन्हें पहिचान सकूं।"

" तू दूसरा वाल्मीकि होगा, तुझे प्रभु राम के दर्शन अवश्य होंगे। ऐसा कहकर हनुमान वृद्ध के रूप में वापस चले गये।

हनुमान ने भगवान से प्रार्थना की–" भगवान! भगवद्कार्य के लिये एक शक्ति तैयार है, उसे काम पर लगाओ प्रभु! अपने कार्य के लिये उसे जगाओ, प्रेरणा दो। तुलसीदास को दर्शन देकर उसका जीवन कृतकृत्य करो प्रभु!" पूर्णिमा की चांदनी में भगवान राम ने तुलसीदास को दर्शन देकर कृतकृत्य किया।

भगवान ने कहा–" तुलसीदास! तेरे पास प्रखर बुद्धि है, उसको भक्ति के रंग से रंजित कर और भक्ति को पाण्डित्ययुक्त कर। अपने शेष जीवन का मेरे कार्य के लिये उपयोग कर।"

तुलसीदास ने प्रभु-आज्ञा को शिरोधार्य कर अपना संपूर्ण वैभव प्रभु कार्य में लगा दिया। सैकड़ों लोग अपने जीवन के जटिल प्रश्नों को लेकर तुलसीदास के पास आते और वे उनका मार्ग-दर्शन करते, उन्हें जीवन-दर्शन देते और प्रभु-विमुख लोगों को प्रभु उन्मुख करते थे। वे प्रभु रामचन्द्र के चरित्र को लोक भाषा में गाकर सुनाते और समझाते थे। उन्होंने सरल प्राकृत भाषा में राम का चरित्र 'रामचरित मानस' लिखा।

संवत सोरह सै एकतीसा। करउँ कथा हरिपद धरि सीसा।
नौमी भौमवार मधुमासा। अवधपुरी यह चरित प्रकासा॥

लिखा भक्ति–काव्य के महान श्रष्टा मधुसूदन सरस्वती ने राम चरित मानस पर अपनी सम्मति दी है:–

तुलसी जंगम तरुल से, आनन्द कानन खेत।
कविता जाकी मंजरी, राम भ्रमररस लेत॥

एक दिन रात्रि को सैकड़ों लोग तुलसीदास के यहाँ भगवान राम का चरित्र सुनने के लिये आये हुये थे। उनमें दो चोर भी थे, उन्होंने चोरी करने का अच्छा अवसर देखा। जब वे बर्तन आदि लेकर भागने लगे तो उन्हें भय और आश्चर्य हुआ कि

दूसरा प्रमुख चमत्कार यह है कि उन्होंने एक मृत पति को जीवित किया। इसके पीछे भी भिन्न भूमिका है। स्त्री तेज-पूजक होती है, स्त्री चाहती है कि उसे तेजस्वी पति-जीवंत पति मिले। मृतक जैसा पति स्त्री को नहीं रुचता। उस काल में लोग मुर्दे के समान बन गये थे। तुलसीदास ने उनमें तेजस्विता और सजीवता निर्माण की। यह उनका महान कार्य था। इसे भी लोगो ने चमत्कार के रूप में परिणित कर दिया।

तुलसीदास की प्रभु राम के प्रति अव्यभिचारिणी भक्ति के सम्बन्ध में कहा जाता है कि वृन्दावन में भगवान कृष्ण की मूर्ति राम के रूप में परिवर्तित हो गई थी-

का बरनउँ छवि आज की, भले विराजेउ नाथ।
तुलसी मस्तक तब नवै, धनुषबाण लेउ हाथ॥

तुलसीदास के जीवन को बुद्धिपूर्वक देखेंगे, तो वह हमको समझायेगा कि—

अपिचेत्सु दुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥

भगवान कृष्ण के इस आश्वासन को तुलसीदास ने घर-घर पहुँचा कर असंख्य पापियों को सन्मार्ग पर लगाया। पुराने जमाने से यह परम्परा चलती आई है कि पापी जब बदलता है तो उसका विकास तीव्र गति से होता है। साठ-साठ वर्ष तक पूजा-पाठ कर, चारों धामों की यात्रा करने वाले का जीवन-विकास नहीं होता, क्योंकि उसे समाधान रहता है कि मैंने इतना कुछ कर लिया है और वह प्रभु-कार्य पर नहीं लगता। वस्तुतः पापी और सज्जन दोनों के जीवन में पाप रूपी कांटा घुसा होता है, परन्तु अन्तर इतना है कि सज्जनों के पैर में घुसे कांटे बहुत छोटे होने से उनकी खबर नहीं पड़ती जब कि पापी के पैर में घुसा कांटा बड़ा होता है, उसका पता शीघ्र लग जाता है, इसलिये शीघ्र ही निकल भी जाता है।

जिस काल में दक्षिण भारत में एकनाथ तेजस्वी भक्ति की दिव्य देवसरिता (गगा) बहा रहे थे, उसी काल में तुलसीदास ने उत्तर भारत में पापियों के उद्धार का आन्दोलन चलाया था। प्रसिद्ध कृष्ण-भक्त मीराबाई भी इसी काल में हुई थी। तुलसीदास ने सामान्य एवं पापी लोगों का ही मार्ग-दर्शन नहीं किया, बल्कि परम भक्त भी जब उलझन में पड़ते थे तो वे उनकी समस्याओं का समाधान भी करते थे मीराबाई ने तुलसीदास को लिखा—

स्वस्तिश्री तुलसीकुलभूषन दूषन हरन गोसांई।...
हमको कहा उचित करिबो है, सो लिखिये समझाई॥

इसके उत्तर में तुलसीदास ने लिखा—

जाके प्रिय न राम वैदेही ।
ताहि तजिय कोटि बैरी सम जद्यपि परम सनेही ।

तुलसीदास एक दिन घूमते–घामते मणिकर्णिका घाट (वाराणसी
उन्हें लगा कि अब मेरा जीवन कार्य समाप्त हो गया है । इसलिये उ
प्रेरणा से पतित–पावनी गंगा में अपने देह का विसर्जन कर दिया । उन
होने के सम्बन्ध में एक दोहा प्रसिद्ध है—

संवत् सोलह सौ असी, असी गंग के तीर ।
श्रावण शुक्ला सप्तमी, तुलसी तज्यो शरीर ।

ऐसे परम भागवत संत तुलसीदास को हमारा कोटि कोटि वन्दन

(चिन्तामणि)

बहुत पुराने जमाने की बात है। एक नन्हा गोप-बालक भगवान शिव की घंटों तक पूजा-आराधना करता था। उसकी इस भक्ति को देखकर बड़े लोग भी लज्जित हो जाते थे। वे कुतूहल और आश्चर्य के साथ उसकी प्रशंसा करते थे और कहते थे-"खेलने-कूदने की अवस्था में कितने ठाट से पूजा करता है! यह तेजस्वी बालक अवश्य पिछले जन्म का कोई पुण्यात्मा होगा।"

बचपन से ही अपने पुत्र को प्रभु-भक्ति की ओर प्रेरित देखकर इस गोप-पुत्र की माँ प्रसन्न और गौरवान्वित होती तथा अपनी प्रसव-वेदना को सार्थक समझती थी।

हजारों वर्ष पहिले की यह घटना है। उस समय लोग सुखी, सात्विक और समाधानी थे। यद्यपि भोग-वादी विचारधारा का नितान्त अभाव नहीं था, फिर भी भोग-वाद ने नस और रक्त में प्रवेश नहीं कर पाया था। इसलिये गाँव के स्त्री-पुरुष सभी बालक से प्रेम करते और उसकी प्रशंसा करते थे। इस तेजस्वी प्रभु-भक्त बालक का नाम 'श्रीकर' था।

यह बालक बड़ा हुआ, तोतली-भाषा के बजाय स्पष्ट बोलने लगा। उसकी माता ने एक दिन उसे बुलाकर कहा-"श्रीकर! अब तू बड़ा हो गया है। भगवान-भगवान कब तक करता रहेगा। अब तुझे पाठशाला में जाना चाहिये।" आज तक जो लोग उसकी प्रभु-भक्ति की प्रशंसा करते थे, वे भी उसे समझाने लगे। अब

(चिन्तामणि)

बहुत पुराने जमाने की बात है । एक नन्हा गोप-बालक भगवान शिव की घंटों तक पूजा-आराधना करता था । उसकी इस भक्ति को देखकर बड़े लोग भी लज्जित हो जाते थे । वे कुतूहल और आश्चर्य के साथ उसकी प्रशंसा करते थे और कहते थे-" खेलने-कूदने की अवस्था में कितने ठाट से पूजा करता है ! यह तेजस्वी बालक अवश्य पिछले जन्म का कोई पुण्यात्मा होगा।"

बचपन से ही अपने पुत्र को प्रभु-भक्ति की ओर प्रेरित देखकर इस गोप-पुत्र की माँ प्रसन्न और गौरवान्वित होती तथा अपनी प्रसव-वेदना को सार्थक समझती थी ।

हजारों वर्ष पहिले की यह घटना है । उस समय लोग सुखी, सात्विक और समाधानी थे । यद्यपि भोग-वादी विचारधारा का नितान्त अभाव नहीं था, फिर भी भोग-वाद ने नस और रक्त में प्रवेश नहीं कर पाया था । इसलिये गाँव के स्त्री-पुरुष सभी बालक से प्रेम करते और उसकी प्रशंसा करते थे । इस तेजस्वी प्रभु-भक्त बालक का नाम ' श्रीकर ' था ।

यह बालक बड़ा हुआ, तोतली-भाषा के बजाय स्पष्ट बोलने लगा । उसकी माता ने एक दिन उसे बुलाकर कहा-" श्रीकर ! अब तू बड़ा हो गया है । भगवान-भगवान कब तक करता रहेगा । अब तुझे पाठशाला में जाना चाहिये । " आज तक जो लोग उसकी प्रभु-भक्ति की प्रशंसा करते थे, वे भी उसे समझाने लगे । अब

उसकी प्रभु-भक्ति उन्हें विकृति लगने लगी। पिता एक दिन शुभ-मुहुर्त में उसे विद्यालय में छोड़ आये।

प्रभु-भक्ति के रंग में रंगे हुये श्रीकर का मन पाठशाला में नहीं लगता था। वहाँ उसे चिद्घन शिवजी नहीं दिखाई देते थे। वहाँ उनके लिये स्थान ही कहाँ था? इससे वह बेचैन रहता था। शिक्षक समझते कि वह बुध्धू और चंचल है, पढ़ाई में ध्यान नहीं देता, इसलिये वह पढ़ ही नहीं सकता। माता-पिता ने भी बहुत प्रयत्न किया की लड़का पढ़े, परन्तु उनका परिश्रम व्यर्थ गया।

एक दिन माता ने क्रोधित होकर उसे एक चांटा मारते हुये कहा–"सारे दिन भगवान-भगवान करता है, पढ़ता नहीं है, तो क्या यह नंदी-पति (शिव, तेरी उदर-पूर्ति भी करनेवाला है? पूजा-पाठ, प्रभु-भक्ति यह आवश्यक है, परन्तु उसकी भी कोई सीमा होनी चाहिये। हम भी तो भक्ति करते हैं, तेरे पिता शिव-भक्त हैं। सारा गाँव उन्हें 'भगत' कहता है। भक्ति के लिये जीवन व्यवहार थोड़े ही छोड़ना है। पढ़ेगा नहीं तो बड़ा होकर क्या करेगा-क्या खायेगा?"

पिता ने भी अंतिम चेतावनी देते हुये कहा–"देख श्रीकर! अब तू पालने में झूलने वाला बालक नहीं है, बड़ा हो गया है। तेरे शिक्षक भी शिकायत करते हैं कि तू पढ़ता नहीं है। पाठशाला से भागकर एक पेड़ के नीचे शिवलिंग जैसा बनाकर उसके साथ खेलता है। कल से यदि एक भी शिकायत आई तो देखना।"

जो माता कल तक श्रीकर के जन्म से अपने को कृतकृत्य और जीवन को सार्थक मानती थी, वह सर पर हाथ देकर कहती है–'हाय रे! इस लड़के ने मेरी कोख से जन्म क्यों लिया?' मानव-मन कितना विचित्र है? वह अपने गज से दूसरे को नापता है और यदि उसकी समझ में कुछ न आवे तो इसे उस व्यक्ति की विकृति मान लेता है। श्रीकर के माता-पिता भी इससे अपवाद कैसे हों?

संसार की तीव्र आसक्ति में लिपटा हुआ पिता का मन, अन्तर-भक्ति में रंगे हुये पुत्र के मन को कैसे समझ सकता था? उसने भी सामान्य मानव की तरह उपदेश दिया कि वह पढ़-लिखकर [illegible] और अपना संसार सुखी करे, जिससे उनके हृदय को भी शांति [illegible] भक्ति ने आवृत किया था, मन श्रीकर की दिव्य भूमिका को कैसे समझे?

आज इसी मनोवृत्ति [illegible] नहीं, पाठशाला न जाय, तो माता-पिता का हृदय [illegible] करते हैं। परन्तु [illegible] इसलिये [illegible], तो कहेंगे–"क्या करे? अभी वह छोटा है, [illegible]

प्रत्येक माता-पिता के मुँह से यही सुनाई देता है, उसका एक ही कारण है कि लड़का पढ़ेगा तो चार पैसे कमायेगा। पढ़ाई का उद्देश्य स्पष्ट नहीं है। गीता पढ़ने से क्या मिलने वाला है? उपनिषद से क्या फायदा है? उससे पैसा मिलने वाला नहीं है। मनुष्य की क्षुद्र बुद्धि भविष्य को नहीं देख सकती, इसलिये ऐसी लचर दलीलें दे कर अपना समाधान करता है। ऐसे लोग ढीले हैं, दुर्बल हैं। उन्हें गीता पढ़ने का प्रत्यक्ष फल नहीं दिखाई देता। उसको देखने के लिये स्वतंत्र बुद्धि चाहिये।

आखिर एक दिन प्रातःकाल अंधेरे में ही श्रीकर घर छोड़ कर निकल पड़ा। जिस घर में अपने भगवान की उपेक्षा होती है, जहाँ कोई प्रभु-भक्ति को नहीं समझता, उस घर में कैसे रहा जाय? नाक दबा कर कब तक जिया जाय? श्रीकर का मायातीत मन उसे माया से दूर खींच कर ले गया!

श्रीकर घूमते-घामते एक ऋषि के आश्रम में जा पहुँचा। उसने देखा कि वहाँ लड़के भगवान का स्तोत्र गाते हैं। चित्त एकाग्र कर ध्यान का अभ्यास करते हैं और सर्वत्र मंगलमय वातावरण है। श्रीकर वहीं रुक गया। अंतर्भक्ति तो उसके मन में थी ही, अब वह गुरु के चरणों में बैठकर बहिर्भक्ति समझने लगा।

श्रीकर अब सुबह उपासना कर चित्त शुद्ध करता है। दोपहर को ऋषि के चरणों में बैठ कर व्यावहारिक शिक्षा प्राप्त करता है और शाम को स्वाध्याय के लिये गाँवों में जाता है। उसके साथ दूसरे शिष्य भी जाते हैं। वे लोगों को मानवी-जीवन की महत्ता समझाते हैं-"भगवान ने यह मानव-शरीर क्यों दिया है? उसे भोग-विलास में व्यर्थ न गँवाओ। मानव होकर पशु-जीवन मत बिताओ। मानव से देव होंगे या नहीं, पर मानव होकर जीना तो सीखो। मनुष्य-जीवन प्रभु-कार्य के लिये है, इसे समझो और यही बहिर्भक्ति है।" श्रीकर ने इस बहिर्भक्ति को जाना और जीवन में उतारा।

श्रीकर अब युवान हो गया था। अन्तर्भक्ति से शुद्ध हुये चित्त में बहिर्भक्ति का सौरभ भरा पड़ा था। वह आश्रम से विदा लेकर चरम लक्ष्य की प्राप्ति के लिये निकल पड़ा। घूमते-घामते वह एक वट-वृक्ष की छाया में बैठकर भगवान शंकर की आराधना करने लगा। भगवान को लगा-यह तेजस्वी युवान मेरा काम करता है। यह लोगों के पास सद्विचार ले जाकर उनकी वृत्ति बदलेगा और उन्हें ईश्वराभिमुख करेगा। भगवान शिव ने प्रसन्न होकर उसे दर्शन दिये और एक चिंतामणि भी प्रदान की।

श्रीकर ने जीवन की कृतकृत्यता अनुभवकर गद्गद् कण्ठ से पूछा- "प्रभु! यह क्या है।" 'यह चिंतामणि है, इससे तांबे को छूते ही वह स्वर्ण बन जाता है।

"परन्तु प्रभु ! मुझे कुछ नहीं चाहिये। सतत आपके चरण-कमलों में मेरा मन लगा रहे, इसके अतिरिक्त मुझे कुछ नहीं चाहिये। मणि लेकर मैं क्या करूँगा। आपकी कृपा से भगवान का काम करने वाले को अन्न तो मिल ही जाता है। इसे मैं कहाँ और कैसे सँभालूंगा ?"

"मैं तुझ पर प्रसन्न हूँ, इसलिये मणि तुझे लेनी ही पड़ेगी। तुझे जिसे उचित लगे, उसे दे देना।" प्रभु का प्रसाद समझकर श्रीकर उसे लेकर गाँव-गाँव घूमने और प्रभु के विचारों का प्रसार करने लगा। चिंतामणि के प्रकाश को देखकर लोग उसके बारे में पूछते, तो वह कहता—"यह तांबे को सोना बनाता है।" लोग पूछते—"तो तुम स्वयँ क्यों नहीं बनाते ?" श्रीकर उत्तर देता—"मुझे उसकी आवश्यकता नहीं है।" "तो अपने पास क्यों रखते हो ?" "मैं ऐसे भिखारी की शोध में हूँ जो जगत में सबसे बड़ा भिखारी हो ! ऐसा भिखारी यदि मिल जाय तो मैं चिंतामणि उसे दे दूँ।"

एक बार श्रीकर प्रभु गुण-गान करते और लोगों को सद्वृत्ति की ओर मोड़ते हुये, घूमते-फिरते एक गाँव में आया। वहाँ एक विशाल हवेली को देखकर वह उसके सामने खड़ा हो गया। यह हवेली उस नगर के नगर-सेठ मणिभद्र की थी। हवेली के बाहर बहुत से लोग सेठ को मिलने की प्रतीक्षा में खड़े थे। भीतर खुशामदी लोगों की गप-शप और नाश्ता-पानी की धूम-धाम चल रही थी। हवेली के आगे एक तेजस्वी युवान को खड़ा देखकर सेठानी ने नतमस्तक होकर पूछा—"आपको किससे काम है ?"

श्रीकर ने कहा—"मैं इस भाग्यशाली के दर्शन करना चाहता हूँ।" लेकिन आप कौन हैं ?—"मैं गोप-पुत्र श्रीकर हूँ।" सेठानी सेठ के स्वभाव से परिचित थी। उसने सोचा—'यह नवयुवक अन्दर जायेगा तो सेठ की मेजबानी में विक्षेप होगा और सेठ कुछ उल्टा-सुल्टा कह बैठेगा। इसलिये इसे जो चाहिये, वह मैं ही दे दूँ।' अतः उसने पूछा—"आपको क्या चाहिये ? मैं आपको दे दूँगी।"

श्रीकर ने कहा—"मुझे कुछ नहीं चाहिये, मुझे तो सिर्फ एक वैभवशाली भाग्यवान पुरुष के दर्शन करने हैं।" श्रीकर अन्दर गया। उसने देखा कि मणिभद्र चाटुकार लोगों से घिरा है। श्रीकर को देखते ही मणिभद्र ने पूछा—"तू कौन है। यहाँ क्यों आया है ?" श्रीकर ने शांति और विनय पूर्वक कहा—"मैं केवल आपके दर्शन करने आया हूँ। आपने कितनी महान तपस्याएँ की होंगी कि भगवान ने आपको इतना भाग्यैश्वर्य प्रदान किया है। 'शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते।' परन्तु सेठ ! जिन भगवान ने यह प्रचुर सम्पत्ति दी है, क्या कभी उनको याद भी किया है ? उनके विचारों को घर-घर पहुँचाने [illegible] [illegible]

"अरे मूर्ख! हमारे सेठ को भगवान का नाम लेने की फुर्सत ही कहाँ है?" एक खुशामदी ने कहा। दूसरे ने कहा—"इस बेचारे को सेठ के कारोबार का पता ही कहाँ है? उसे क्या मालूम की सेठ की कितनी मिलें चलती हैं! वह अपना व्यवसाय सँभालें या लंगोट पहिन कर भगवान-भगवान कहते फिरें?"

सेठ ने कहा—"ऐ भाई! तेरा नाम श्रीकर है क्या?" "हाँ," "तो सौ-दो सौ रुपये ले और आगे बढ़, व्यर्थ मेरा समय बर्बाद मत कर।" श्रीकर ने कहा—"मुझे कुछ नहीं चाहिये। आप पूर्व-जन्म के महापुरुष हैं, मुझे आपके दर्शन मिल गये, इतना ही बस है।" इतना कहकर श्रीकर ने सेठ के सामने चिंतामणि रख दी। मणि के प्रकाश को देखकर सेठ ने पूछा—"यह क्या है?"

श्रीकर ने कहा—"यह अमूल्य चिंतामणि है। यह तांबे को छूते ही उसे सोना बना देती है। मुझे यह उसको देनी थी, जो प्रथम नम्बर का भिखारी हो। मैं इसे तुमको देता हूँ।"

'सेठ और भिखारी!' यह सुनकर सब चौंक गये। श्रीकर ने कहा—"इसमें चौंकने की आवश्यकता नहीं है। तनिक विचार करो, भगवान ने तुमको हजारों हाथो से दिया है और तुम कहते हो कि मुझे उसे स्मरण करने की फुर्सत नहीं है। इस पर भी वह आपको देता ही जाता है। आप पूर्व-जन्म में कोई योगी थे, इसलिये इस जन्म में इतना वैभव और कीर्ति मिली है। परन्तु इस जन्म में आपने क्या किया है? सेठ! जरा विचार करोगे तो स्वयँ ही तुम्हारी समझ में आ जायेगा कि इस जन्म में आप भिखारी ही रहे हैं। तुम्हारा इस जन्म का संचित वैभव क्या है?" इतना कह, चिंतामणि वहीं छोड़, श्रीकर चला गया।

सेठ और उसके खुशामदी लोग यह देख और सुनकर चकित हो गये। श्रीकर के चले जाने पर सबने होश सँभाला। सेठ को लगा कि श्रीकर ने सत्य ही कहा है, उसने मेरी आँखें खोल दी हैं। उसने मन ही मन श्रीकर को नमस्कार किया।

मणि को अपने पास रखना खतरे से खाली न था। राजा को मालूम हो जाय, तो कैदखाने में डाल देगा। यह सोचकर मणिभद्र ने राज दरबार में जाकर मणि राजा चन्द्रसेन को सौंप दी और सारी घटना उसे कह सुनाई। राजा को लगा कि वह युवक या तो पागल होना चाहिये या स्थितप्रज्ञ! क्योंकि उसे इतनी अमूल्य मणि की कुछ भी कीमत नहीं लगी।

मणिभद्र और चन्द्रसेन दोनों श्रीकर की ढूँढ में निकले। श्रीकर गाँव के बाहर एक वट-वृक्ष के नीचे कुछ किसानों से प्रेमपूर्वक बातें करता और उन्हें मानव-जीवन की सार्थकता तथा सच्चे वैभव की बातें बता रहा था।

राजा ने श्रीकर को पूछा–"चिंतामणि आपने दी है क्या?" "हाँ," श्रीकर ने एकाक्षरी उत्तर दिया! "लेकिन आप जानते हैं उसकी कीमत कितनी है? आपको उसकी कीमत कुछ नहीं लगती?"

श्रीकर ने कहा–"राजा साहब! जरा मन में विचार कर देखो कि चिंतामणि की पहिचान मुझको नहीं है या आपको? भगवान ने कृपा कर कितना सुन्दर मानव शरीर दिया है? सचमुच में यह मानव देह ही सच्ची चिंतामणि है। प्रभु के लाड़ले होने के कारण प्रभु ने आपको इतना सुन्दर वैभव और सत्ता प्रदान की है। भगवान ने यह सब कुछ देकर आशा की है कि मेरा प्यारा बेटा सृष्टि में जाकर मेरा काम करेगा। लोगों का जीवन पुष्ट कर उन्हें शांति और समाधान प्रदान करेगा। ईश्वर विमुख हुये, मेरे बच्चों को ईश्वराभिमुख करेगा। परन्तु राजा! अपने आपको पूछो–आपने अब तक ऐसा कुछ किया है?"

"और सेठ! आप भी सोचो। आप छोटे से बड़े हुये, खूब पैसा कमाया, शादी की और सुखी-संसार बनाया। बस! इसके अतिरिक्त भी कुछ किया है? ऐसा जीवन तो कुत्ता और गधा भी व्यतीत करता है। फिर मानव-जीवन की विशेषता क्या है?"

"आप दोनों मानव-जीवन की पूंजी लेकर आये हैं। भगवान ने यह देह-चिंतामणि दी है। इससे आपने कौन सा महान कार्य किया है। जरा विचार करो।"

'आप इस मानव-देह रूपी चिंतामणि को बेचकर मुझे पाने आये हैं।'

राजा को अपनी भूल समझ में आ गई। उसकी आँखें खुल गई। उसने श्रीधर से क्षमा मांगी और उसको नमस्कार किया। सेठ ने भी राजा का अनुकरण किया।

राजा ने निश्चय किया की अब मैं अपनी मानव-देह को सत्-कार्य में लगा कर सार्थक करूंगा। मेरा वैभव और धन-सम्पत्ति सब प्रभु-कार्य में लगे होंगे। उसने कहा–"हे सेठ! अपनी चिंतामणि। मुझे इसकी आवश्यकता नहीं है।"

आशा का संचार हो । बुभुक्षिता और लाचारी के स्थान में तृप्ति और तेजस्विता आवे । मानव लाचारी और दीनता को नम्रता समझता है । कोई पिता को गाली देता हो, तो चिढ़ नहीं चढ़ती । कोई कहे कि कृष्ण व्यभिचारी था, तो कहेंगे-"कहने दो, उसके मुँह में कीड़े पड़ेंगे ।" यह दुर्बलों का तत्त्वज्ञान है । ये लोग क्षुद्र, पामर और लाचार हैं । उनके अन्दर ऐसी तेजस्विता लानी है कि वे सिंह की तरह हिम्मत से गर्जना कर सकें । चांदी स्वच्छ और निर्मल होती है, इसलिये जल्दी गरम होती है। चीनी-मिट्टी का वर्तन जल्दी गर्म नहीं होता । ऐसे लोगों का जीवन चीनी-मिट्टी के समान है । उन्हें चांदी सा बनाना है । प्रभु आपकी सहायता करें !"

राजा चन्द्रसेन ने अपने प्रचण्ड कर्मयोग से थोड़े ही समय में अपनी प्रजा को तेजस्वी, सुखी, समाधानी, कर्तव्यनिष्ठ और सुसंस्कृत बना दिया। पड़ोस के दूसरे राजाओं की मत्सर भरी आँखें चन्द्रसेन का उत्कर्ष नहीं देख सकीं। इसलिये उन्होंने मिलकर चन्द्रसेन के राज्य पर प्रचण्ड आक्रमण कर दिया । किन्तु श्रीकर ने चन्द्रसेन की समस्त प्रजा को स्वतंत्र, स्वाभिमानी और तेजस्वी जीवन जीना सिखाया था । उन्हें भगवद्कार्य के लिये अपने जीवन को आहूत करने का मंत्र दिया था । श्रीकर का मार्ग-दर्शन, राजा के पराक्रम और प्रजा के आत्म-वलिदान से शत्रुओं का पराभव हुआ । राजा ने उन्हें वन्दी बनाकर श्रीकर के सम्मुख उपस्थित किया । उसकी दिव्य और तेजस्वी प्रभा से वे नत-मस्तक हो गये और अपनी मुक्ति की याचना करने लगे ।

श्रीकर ने कहा-" तुमको चन्द्रसेन ने गुलाम नहीं बनाया है, परन्तु तुम भोगों के गुलाम हो । तुम ईर्ष्या से चिंतामणि छीनने और चन्द्रसेन के राज्य और वैभव का सर्वनाश करने आये थे । परन्तु भगवान जिसका सहायक होता है, कोई उसका बाल भी वांका नहीं कर सकता है । तुमको भी भगवान ने चिंतामणि के समान देह दी है, पर क्या तुमने भी चन्द्रसेन के समान अपनी प्रजा को सुसंस्कृत करने का प्रयत्न किया है ? श्रीकर के इस उद्बोधन से सभी राजाओं के नेत्र खुल गये, उन्हें अपनी भूल मालूम हुई और उन्होंने श्रीकर को नमस्कार कर क्षमा माँगी ।

श्रीकर ने कहा-" तुम सभी लोग शपथ ग्रहण करे कि भगवान की दी हुई चिंतामणिरूपी देह का सदुपयोग करेंगे, प्रभु की संस्कृति का कार्य करेंगे । जिस संस्कृति को खड़ा करने के लिये हमारे ऋषि-मुनियों ने अपने खून का पानी बनाया है, उसके प्रति जन-जन में आदर निर्माण करेंगे । यदि तुम इतना करोगे, तो तुम गुलाम नहीं मुक्त ही हो ।" यह कहकर उसने उन्हें मुक्ति दिल दी ।

सभी राजाओं ने श्रीकर के इस आदेश का हृदय से पालन किया और अपनी प्रजा को दिव्य और सुसंस्कृत बनाया। श्रीकर स्वयं गाँवों-गाँवों में घूमता और जहाँ कहीं कुछ कमी दिखाई देती, तो राजा से कहता कि उसे क्या करना है? राजा भी उसके आदेश और निर्देश के अनुसार प्रजा को सुधारने का प्रयत्न करता था। श्रीकर ने इस चिंतामणि से जगत को सुधारा और अपना जीवन सार्थक किया।

इसी महान कर्मयोगी—भक्त की नवीं पीढ़ी में भगवान श्रीकृष्ण ने जन्म लिया। जहाँ इस प्रकार की उज्ज्वल परम्परा होती है, वहीं भगवान जन्म लेते हैं।

भगवान के उस पूर्वज को हमारा अनन्त प्रणाम !

मृत्यु-शय्या पर पड़े हुए वृद्ध पण्डित ने अपने सात आठ वर्ष के बालक को अपने पास बुलाकर कहा- 'बेटा तू मेरी सन्तान है, इसे याद रखना। सन्तान का अर्थ मालूम है? 'सम्यक् तनोति' अर्थात् सन्तान वह है जो पिता के ध्येय का सम्यक् रीति से अच्छी तरह विस्तार करे।" परन्तु पिता का जब कोई ध्येय होगा, तभी तो वह उसे उत्तराधिकार में अपनी सन्तान को देगा न? पिता के ध्येय का विस्तार करने वाली ही सन्तान कहलाती है। पशु-तुल्य जीवन जीने वाला सन्तान नहीं है।

"बेटा! मैंने तेरे लिये कोई सम्पत्ति नहीं छोड़ी, मेरे पास कोई तिजोरी नहीं, हिसाब देने के लिये दौलत नहीं, परन्तु मैं तुझे अपने जीवन का हिसाब देता हूँ तू उसे संभाल ले।" इतना कहकर वृद्ध की सांस रूकने लगी, उसने तनिक सांस लेकर फिर कहा-"मैं मानव-जीवन लेकर इस जगत में आया था। मुझे लोगों को सुसंस्कृत बनाने, ईश्वराभिमुख करने तथा भक्ति द्वारा अपना जीवन-विकास करने में आनन्द आता था। सत्य कहूँ तो तू उन्हीं कृतियों का प्रसाद है। इसलिये भगवान ने तुझे जो मानव-शरीर दिया है, उसे सार्थक करना।"

वृद्ध पिता ने पुनः सांस बटोर कहा-"बेटा। प्रभुकार्य करने के लिये दो महत्व-पूर्ण बातें हैं, उन्हें कभी न भूलना। प्रथम-तू जो कुछ भी मुँह से बोले, उसे अपने जीवन में उतार कर ईमानदारी से आचरित करना और दूसरा तू पण्डित बनना।

मैं पण्डित नहीं बन सका, इसलिये लोगों ने तथा पण्डितों ने मेरा बाहर तथा राज-दरबार में अपमान किया, मुझे उस अपमान का दुःख नहीं है, परन्तु उसके कारण लोक-कल्याण और प्रभु-कार्य की हानि हुई, इसका मेरे मन में बहुत बड़ा दुःख है। मेरी आकांक्षा अपूर्ण रह गई है, तू उसे पूर्ण करना।" इतना कह कर वृद्ध ने अपने दुर्बल हाथ पुत्र के सिर पर रखे और उसके प्राण-पखेरू उड़ गये।

काशी निवासी इस वृद्ध पण्डित का नाम हरि पण्डित था। वह अधिक पढ़ा लिखा नहीं था, परन्तु लोगों को सात्त्विक तथा सदाचारी बनाने ईश्वराभिमुख करने और जीवन के मूल्यों को समझाने के भगवद्-कार्य में अपनी सम्पूर्ण शक्ति का उपयोग करता था।

इस देश में सैकड़ों ऐसे ऋषि हो गये हैं, जिन्होंने अत्यन्त दिव्य, भव्य और तेजस्वी जीवन व्यतीत किया है, परन्तु करोड़ों लोग उनके जीवन-चरित्र से अनभिज्ञ हैं, तब उनके भव्य आदर्शों की ओर लोगों का झुकाव भी कैसे हो? हरि पण्डित लोगों के समक्ष उन महा-पुरुषों के चरित्र प्रस्तुत करता तथा स्वयं भी, वैसा ही जीवन जीने का प्रयत्न करता था। उसको पैसा, मान या राज्याश्रय पाने की आकांक्षा न थी। प्रभु पर दुर्दम्य निष्ठा से ही उसकी जीवन-नौका चलती थी।

हरि पंडित भगवान की तथा कथित सेवा की धुन में पड़े हुये लोगों को समझाता था-"भाई हम भगवान की क्या सेवा कर सकते हैं? यह शरीर, नाक, पेट, हाथ पैर आदि सब भगवान की देन हैं, उसी के हैं। समस्त सृष्टि और उसमें विविध प्रकार के सुगन्धित पुष्प प्रभु ने ही निर्मित किये हैं, फिर उनको भगवान के ऊपर चढ़ाने में क्या विशेषता है? यदि भगवान को पुष्प चढ़ाना है तो अपने 'जीवन-पुष्प' के चरित्र और सद्गुणों का सौरभ तथा भगवद्-भक्ति का मधु भर कर चढ़ाओ।

यदि भगवान की सेवा करनी है, तो मैं कौन हूँ, किसका हूँ, यहाँ क्यों आया हूँ, कहाँ से आया हूँ, कहाँ जाना है, इन प्रश्नों पर चिन्तन करो। मस्तिष्क में भगवद्-विचारों को धारण करो। जीवन की [illegible] और क्षुद्रता को निकालकर तेजस्वी जीवन जीने की कोशिश करो। यही भगवान की सच्ची सेवा है।" लोग हरि पंडित के विचारों से [illegible] होते, तदनुरूप जीवन जीने का प्रयत्न करते और उन्हें प्रेम करते थे। इस प्रकार हरि पंडित लोक-प्रिय बन गये।

मानव सिद्धि के दावों का [illegible]

कि उनके अन्तःकरण असूया और मत्सर से भरे होते हैं। वे दूसरे का उत्कर्ष और यश सहन नहीं कर सकते। उनके द्वेष की चिनगारी प्रज्वलित हो उठी और वे हरि पंडित का उपहास, उपेक्षा और अपमान करने लगे। उन्होंने कुत्सित षड़यंत्र रचकर लोगों के मस्तिष्क में इस बात को भरने का संगठित प्रचार किया कि हरि पंडित अविद्वान और मूर्ख है। उन्होंने दस-पन्द्रह नटखटी, मसखरे और शैतान लड़कों को उकसाकर हरि पंडित की सभाओं तथा विचार गोष्ठियों में हो-हल्ला मचाकर वे सिर पैर के अटपटे प्रश्न पूछकर सभाओं को भंग करना और पंडित को अपमानित करना शुरू किया।

लोक-मानस भी बड़ा विचित्र होता है। लोग एक दिन जिस व्यक्ति को प्रेम से पुष्प-हार पहिनाते हैं, दूसरे ही दिन उसे जूतों की माला पहिनाने में भी नहीं हिचकते। जब हरि पंडित लड़कों के ऊटपटंग प्रश्नों के उत्तर नहीं दे पाते, तो लोगों को लगने लगा कि सचमुच हरि पंडित को कुछ आता-वाता नहीं है। इसलिये हरि पंडित के प्रति उनकी श्रद्धा-भक्ति समाप्त हो गई। हरि पंडित की लोक-प्रियता और सम्मान नष्ट हो जाने से राज्याश्रित पंडितों को समाधान हो गया।

हरि पंडित को लोगों की दृष्टि से गिरने या अपमानित होने का लेश-मात्र भी दुःख नहीं हुआ, परन्तु उसे इस बात का महान दुःख हुआ कि इससे लोक-कल्याण की हानि हुई और लोगों को सात्विकता ओर प्रभु की ओर नहीं मोड़ा जा सका। जो लोग ईश्वराभिमुख हुये भी थे, वे फिर ईश्वर-विमुख और असात्विक हो जायेंगे। 'जीवन में जिस ध्येय को लेकर चला तो उसका ऐसा दुःखद परिणाम!' यह विचार उसके अन्तःकरण को खाये डालता था। इस आघात की चिर-वेदना हरि पंडित के लिये प्राण-घातक सिद्ध हुई। हरि पंडित हर्ष को, एक पंडित को शोभा दे ऐसी वसीयत सौंपकर चिर-निद्रा में सो गये।

हरि पंडित की मृत्यु के तेरहवें दिन प्रातःकाल हर्ष ने अपनी माता को नमस्कार कर कहा-"माँ! मैं तुझको प्यार करता हूँ, तेरे अतिरिक्त मेरा कौन है? पर माँ! तुझे याद है, पिताजी ने मुझे पंडित बनने के लिये कहा था-मुझे विद्वान बनना है, इसलिये माँ! मुझे आज्ञा दीजिये।" हर्ष माता को नमस्कार कर गुरु-गृह की ओर चल पड़ा और माता आँसूभरी हुई आँखों से पुत्र को जाते हुये देखती रही।

गुरु ने हर्ष की आँखों में कृत-निश्चयता और ध्येय को देखा और प्रेम से सान्त्वना देते हुये उसका विद्या अध्यन प्रारम्भ किया। 'गुरुकुल क्लिष्टम्' हर्ष ने कष्ट सहकर लगन से विद्याध्ययन किया। उसका एक ही ध्येय था-विद्वान बनना। वह

एक बजे रात तक पढ़ता और चार बजे प्रातः से पढ़े हुये को कण्ठाग्र करता था। गुरु ने उसकी उत्कट जिज्ञासा और लगन को देखकर उसे जी खोल कर सम्पूर्ण विद्यायें पढ़ाई।

हर्ष उत्कृष्ट और लोकोत्तर बुद्धि वाला था। अल्पकाल में ही वह पूर्ण विद्वान और पंडित बनकर गुरु-गृह से नये-नये विचारों को लेकर बाहर निकला। उसके समान बौद्धिक प्रतिभा का दूसरा व्यक्ति जगत में पैदा ही नहीं हुआ। वह इतना अधिक बुद्धिमान और विद्वान था कि उसे अपनी अति विद्वता और बुद्धिमत्ता दोषपूर्ण दिखाई देने लगी। इससे उसे बेचैनी होने लगी।

हर्ष ने राज-दरबार में आकार पंडितो का आह्वान किया कि वे 'मेरे शास्त्रीय-सिद्धान्तों का खंडन करें अथवा अपनी पराजय स्वीकार करें।' दरबारी पंडित लोग हर्ष की विद्युत के समान दमकने वाली बौद्धिक प्रतिभा से चकित थे, पर अपनी पराजय स्वीकारने के लिये तैयार नहीं थे, क्योंकि वे हर्ष के प्रश्नों को ही नहीं समझ पा रहे थे। उन्होंने कहा—"आपके प्रश्नों को समझने के पश्चात हम उत्तर न दे सकें, तो अपना पराभव स्वीकार कर लेंगे।"

यह सुनकर हर्ष को अपनी विशाल बुद्धि बोझिल लगने लगी। उसने विचार किया कि जब मेरी बात को पंडित लोग नहीं समझ सकते तो जन साधारण कैसे समझ सकते हैं? पिताजी ने अन्त-काल में मुझे प्रभु-कार्य करने की आज्ञा दी थी, उसे मैं कैसे कर सकूँगा? सामान्य मानव सरस्वती से बुद्धि की भीख माँगते हैं, परन्तु हर्ष ने सरस्वती की उपासना कर याचना की कि माँ! मेरी बुद्धि को कम कर, ताकि मेरे सिद्धान्त सब लोगों के समझने योग्य सरल बन जाँय। सरस्वती माता ने प्रसन्न होकर उसे आश्वासन देते हुये कहा—"हर्ष! आज तक तुमने पण्डितों को हराने के लिये सिद्धान्तों का अध्ययन किया है, तुम उन्हें स्वयं अपने जीवन में उतारो, तो वे सरल बन जायेंगे।"

सिद्धान्त जब तक जीवन में नहीं उतरते, तब तक सरल नहीं बनते। [illegible] लोग बड़ी-बड़ी बातों और वादों की चर्चा करते हैं। ईश्वरवाद, भौतिकवाद, [illegible], समाजवाद, अद्वैतवाद, द्वैतवाद इत्यादि वादों के सिद्धान्त सामान्य लोगों तक नहीं पहुँचते। उन्हें सरल बनाकर ही जन साधारण तक पहुँचाया जा सकता है और यही बुद्धिमत्ता है।

वेदान्ती लोग [illegible] [illegible]

में नहीं उतारा जाता, तब तक वह लोक-भोग्य नहीं बन सकता। जो सिद्धान्त जीवन में नहीं उतारा, पचा नहीं, उससे दुर्गन्धि आती है, वह दुर्बोध होता है।

हर्ष इस बात को समझ गया था। उसने अपने तत्त्वज्ञान के अनुसार अपना जीवन बनाया, इसलिये अब वह उच्च तत्त्वज्ञान को सरल भाषा में समझाने लगा। राज-दरबार में जाकर राजा जयचन्द की क्षुद्रता और लाचारी को देखकर उसे दुःख हुआ। उसने कहा—" हे राजा! कामदेव ने स्त्री को अस्त्र बनाया है, परन्तु तुमने पुरुष को स्त्री बना दिया है।" उसके संकेत को राजा समझ गया और उसकी विद्वता से प्रसन्न हो गया। जिन पंडितों ने हरि पंडित को कष्ट दिया था, उन्होंने अपनी मूर्खता को स्वीकार कर हर्ष से क्षमा याचना की।

हर्ष ने वेदान्त पर एक अप्रतिम ग्रंथ लिखा, जिसका नाम 'खंडनखंड खाद्य' है। वह इतना कठिन है कि सम्पूर्ण भारत में शायद चार या पांच पडितों ने ही इस ग्रंथ का सुखावलोकन किया होगा। वह ग्रंथ भी सरस्वति से वरदान लेकर बुद्धि को कम करने के बाद लिखा गया है। यह विश्व में अद्वितीय ग्रंथ है। जर्मन यूनिवर्सिटी के विद्वानों ने भी अनेक श्रेष्ठ-ग्रंथों का अनुवाद किया है, परन्तु इस ग्रन्थ का भाषान्तर वे नहीं कर सके। वेदान्त में ब्रह्मसूत्र कठिन ग्रंथ है, परन्तु उसमें दूसरा अध्याय और उसमें भी दूसरा पाद अति सरल है। परन्तु यह अति सरल पाद एम. ए. (M. A.) के छात्रों को अत्यन्त कठिन लगता है। ब्रह्मसूत्र से बढ़कर वाचस्पति मिश्र की 'भामती' कठिन है और 'खंडनखंड खाद्य' तो उससे भी कठिन है। इसमें बुद्धि की कितनी श्रेष्ठता होगी!

राजा ने हर्ष से कहा—" तुम्हारा यह ग्रंथ अलौकिक है। परन्तु सामान्य लोगों के समझने के लिये एक ऐसी काव्य रचना कीजिये, जो कथानक के रूप में हो, फिर भी विशिष्ट दृष्टि रखता हो। हर्ष ने नल-दमयन्ती के स्वयंवर की कथा को काव्य में पिरो दिया। इस अति सुन्दर महाकाव्य का नाम 'नैषध' है। उसमें काव्य, कथानक, तत्त्वज्ञान, सिद्धान्त, प्रतिभा और बौद्धिक चमत्कार है। पंडितों ने कहा—तुम्हारा काव्य सुन्दर है, पर दुर्बोध है।' हर्ष ने कहा—" वह कठिन हो सकता है, पर दुर्बोध नहीं है।" यह विवाद का प्रश्न बन गया। अब उसका सही मूल्यांकन कौन करे?

काश्मीर में सरस्वती का एक मन्दिर था। उस काल में ऐसी मान्यता थी कि वह एक जाग्रत देवता है। उस मन्दिर में पुस्तक रखने के बाद सरस्वती चौबीस घंटे में उसके सम्बन्ध में निर्णय दे देती थी। पुस्तक यदि लोकभोग्य और सुबोध होती तो मन्दिर में रह जाती अन्यथा मन्दिर के बाहर फेंक दी जाती थी। पाँच सौ वर्षों से किसी भी पंडित ने अपना ग्रंथ परीक्षा हेतु इस मन्दिर में रखने का साहस नहीं किया था। सबको

यह भय होता था कि यदि पुस्तक बाहर फेंक दी गई तो जानबूझकर व्यर्थ बेइज्जती और अपयश क्यों लिया जाय ? परंन्तु हर्ष इसके लिये तैयार था। उसे आत्मविश्वास था कि माता अवश्य उसके ग्रंथ को अपनायेगी। उसने पुस्तक को मंदिर में रख दिया और स्वयँ शांति से बाहर बैठ गया। चौबीस घंटे बाद पुस्तक मन्दिर से बाहर फेंक दी गई।

पाँच सौ वर्षों के बाद हर्ष ने पुस्तक रखी थी और वह बाहर फेंक दी गई, परंतु हर्ष इससे निराश नहीं हुआ। भारत वीरों का देश है। यह अपयश को भी वीरता के साथ अपनाने वाले महापुरुषों की क्रीड़ा-स्थली है। हर्ष अपनी पुस्तक के पन्नों को बटोर कर मन्दिर के अन्दर गया और सरस्वती से कहने लगा—"माँ! ज्ञान के सम्बन्ध अब तुम्हारी बुद्धि जीर्ण (वृद्ध) हो गई है, अब उसमें परीक्षा लेने की क्षमता ही नहीं रही।" हर्ष को अपनी बुद्धि पर कितना विश्वास था !

ऐसा बुद्धिमान अब तक किसी देश में पैदा ही नहीं हुआ। हर्ष समस्त विश्व का अद्वितीय चरित्र है। निष्काम, निर्मल और दिव्य बुद्धि वाला ही सरस्वती को भी दो बातें सुनाने की हिम्मत रख सकता है। उसकी तेजस्वी वाणी में आत्म-गौरव की विशुद्ध झंकार थी। वह इस बात को मानने के लिये तैयार नहीं था कि उसके ग्रंथ में कोई गलती है। उसके दृढ़ आत्मविश्वास को देखकर सरस्वती ने कहा—"हर्ष ! तेरा काव्य अति सुन्दर, दिव्य और अलौकिक है। उसमें लोक-मानस को मार्ग दर्शन देने की शक्ति है। उसमें बुद्धि का चमत्कार तथा प्रतिभा का विलास है। परन्तु तूने उसके ग्यारहवें सर्ग के छासठवें श्लोक में मुझे 'विष्णु-पत्नी' कहकर मेरे कौमार्य का अपमान किया है। मेरी स्वतंत्र सत्ता को वेदों ने अनादिकाल से मान्य किया है। तूने ऋषियों के इस विचार को मिथ्या साबित किया है। इसीलिये मैंने उसे बाहर [illegible] है।"

हर्ष ने कहा—"माँ ! तुम्हें याद है, एक दिन तुम चिन्तामग्न बैठी थीं। तुम्हारे अन्तस्थल में ज्वाला धधकती थी कि तुम्हारे ऊपर किसी का बन्धन न होने से पंडित लोग तुम्हें दासी बनाते हैं और अपने पेट भरने के तुच्छ स्वार्थ के लिये तुम्हें बाजारों में बेचते हैं। उस समय तुम्हारी इच्छा हुई थी कि 'मैं किसी के बन्धन में होती तो अच्छा था, कोई मुझे बेच न सकता।' मैंने तुम्हारे हृदय की इसी वेदना का अपने काव्य में उल्लेख किया है। यदि तुम [illegible] तो वह भगवान की होगी। इसीलिये मैंने तुमको 'विष्णु-पत्नी' लिखा है। माँ! दुनिया को भले ही तुम्हारे मन की बात का पता न हो, परन्तु हम [illegible] के उपासक को—तुम्हारे मन की इच्छा पता न हो तो मैं [illegible] ! [illegible] (सरस्वती) 'विष्णु-पत्नी' है, [illegible] विश्वास नहीं होना चाहिये—ऐसा लिखने में मैंने कौन सी गलती की है !"

सरस्वती-पुत्र हो, तो ऐसा हो। सरस्वती माता ने उसका आलिंगन किया और उसके काव्य को सिर पर रखा। सरस्वती को भगवान के साथ बांधने में एक सुन्दर भावना है। इसीलिये सरस्वती ने उस काव्य को मान्य कर सिर पर रखा।

आज सरस्वती की उपासना करने वाले कितने लोग हैं। यूनिवर्सिटियों में भोग-प्रधान शिक्षा दी जाती है। विद्या का उपयोग क्षुद्र स्वार्थों के लिये किया जाता है, तब जीवन-विकास कैसे हो सकता है? जब सरस्वती का उपासना मातृ तुल्य न हो कर भोग्यदासी के रूप में होगी, तब शांति, समाधान, स्वस्थता और आनन्द कैसे मिलेगा? विद्या का सम्बन्ध भगवान के साथ जोड़ने पर ही कल्याण सम्भव है।

सरस्वती का साक्षात्कार करने, उससे बोलने, और उसकी भूल को बताने वाला हर्ष धन्य है। यह देश धन्य है, जिस में हर्ष जैसा नर-रत्न पैदा हुआ। यह कितने दुःख की बात है कि ऐसे नर-रत्नों के देश के पंडित आज लाचारी और दीनता से परदेसियों के मुखापेक्षी बनकर उनके आगे हाथ पसारते हैं।

जिस हर्ष के श्रेष्ठ-काव्यों को सरस्वती माता ने सम्मान दिया, उसको उसके देशवासी नहीं जानते, इससे बड़े दुःख की बात क्या हो सकती है? हर्ष के लिये काश्मीर अनजान देश था। हर्ष किसी को पहिचानता न था और वह स्वयँ राजा के पास जाता न था। एक दिन वह एक नदी के तट पर शांति से बैठा चिन्तामणि जप करता था इतने में वहाँ दो काश्मीरी स्त्रियाँ आकर झगड़ने लगी।

काश्मीर जैसा सुन्दर प्रदेश है, वहाँ की ललनायें भी उतनी ही सुन्दर होती हैं। ये दोनो स्त्रियाँ जोर-जोर से बातें करती थीं। हर्ष भाषा की अनविज्ञता से उनकी बातें नहीं समझता था। परन्तु जब वे एक दूसरे के बालों को खींचने लगी तो वह समझ गया कि उनमें कोई बड़ा झगड़ा है। भाषा की जानकारी न होने से उसे उनके बीच में मध्यस्थता करने में हिचकिचाहट हुई। इसलिये वह अपने चिंतन में गुंथ गया।

इसी समय उधर से एक सिपाही गुजर रहा था, उसने दोनों को अलग किया और उनके विवाद के निर्णय के लिये उन्हें राजा के पास ले गया। राजा ने उन्हें पूछा-" तुम्हारा कोई साक्षी है?" एक स्त्री ने कहा कि एक भाई नदी के किनारे बैठे थे और उन्होने हमारे झगड़े को देखा है। राजाज्ञा से हर्ष को राज-दरबार में लाया गया। विधि की लीला अपरम्पार है। कब किस व्यक्ति से मिलाप करा दे, यह वही जानता है।

राजा ने हर्ष से पूछा-" जिस समय ये दो स्त्रियाँ लड़ रही थीं, उस समय तुम वहाँ पर थे?" हर्ष ने एकाक्षरी उत्तर दिया-" हाँ।" राजा ने फिर पूछा-" ये क्यों

लड़ रही थीं ?" हर्ष बोला—"यह तो मैं नहीं जानता, क्योंकि मुझे यहाँ की भाषा नहीं आती, परन्तु यदि आप समझ सकें तो मैं उन शब्दों की ध्वनि सुना सकता हूँ।"

हर्ष ने स्वयँ अर्थ न समझते हुये भी उन दोनों स्त्रियों के परस्पर झगड़े में उच्चारित शब्दों की ध्वनि यथावत् सुना दी। राजा पूरे झगड़े को समझ गया और उसका यथोचित न्याय प्रदान किया। परन्तु सम्पूर्ण राज–दरबार में इस घटना की चर्चा होने लगी।

राजा ने पूछा—"आपका नाम ?" उसने कहा—"लोग मुझे हर्ष कहते हैं।" "सरस्वती के साथ झगड़ने वाला हर्ष तो नहीं ?" राजा ने पूछा, हर्ष ने नम्रता-पूर्वक सिर झुकाकर स्वीकृति दी। राजा ने अत्यन्त धूम धाम से उसका आदर सत्कार किया और उसे 'सर्व कलानिधि' की उपाधि से अलंकृत किया।

रानी थोड़ा बहुत लिखी–पढ़ी थी और खुशामदी पंडितों ने उसे 'विदुषी' की उपाधि दी थी। इसलिये उसको हर्ष का यह सम्मान खटकने लगा। उसे लगा कि हर्ष के गौरव से उसके मूल्य में कमी आयेगी। ऐसा सोचकर उसने हर्ष को नीचा दिखाने का संकल्प कर एक षडयंत्र रचा।

मत्सर आने पर मनुष्य क्या नहीं करता ? रानी ने सायंकाल के समय हर्ष को राज महल में बुलाया और हाथ जोड़कर नमस्कार करते हुये कहा—"आप विद्वान तथा सरस्वती के लाड़ले हैं, इसीलिये लोगों ने आपको 'सर्व कलानिधि' की पदवी प्रदान की है।" हर्ष ने नम्रता पूर्वक कहा—"मैं तो सिर्फ सरस्वती का नम्र उपासक हूँ, मुझे पदवी की आवश्यकता नहीं। यह तो लोगों का मुझ पर प्रेम है।'

इतने में रानी की पूर्व योजनानुसार एक परिचारिका रानी को पैंजनी पहिनाने लगी। उसने दासी को रोकते हुये कहा—"यहाँ पर सर्व 'कलानिधि' हर्ष हैं, उन्हें सभी कलाओं की जानकारी है। इसलिये उनकी कला की परख करनी है। देखो ! पैंजनी उनकी कलाशक्ति से बिना हाथ लगाये मेरे पैरों में पहिनाई जायेगी।" ऐसा कह कर उसने अपना पैर हर्ष की ओर बढ़ा दिया।

हर्ष की अत्यन्त भयावह स्थिति हो गई। रानी का कहना नहीं मानता, तो राजा का अपमान होता है और यदि ऐसा कहता है कि उन्हें बिना छुये पहिनाना नहीं आता तो जिन लोगों ने उसे 'सर्व कलानिधि' की उपाधि दी थी उनकी [illegible] करनी है और उनका प्रेम जाता है। यदि पहिनाने का निषेध करे, तो रानी के पैरों में पैंजनी पहिनाने में स्वयं का अपमान होता है।

हर्ष ने आँखें बन्द कर भगवान का स्मरण किया और मन में कहा—"[illegible]

मेरा इस प्रकार अपमान करने में भी तेरा कुछ हेतु होगा।" और उसने बिना हाथ लगाये ही रानी के पैरों में पैंजनी पहिना दी।

हर्ष को इस दुनिया की कुत्सित और कुटिल नीति से घृणा हो गई। वह द्वेष और मत्सर से दूर पवित्र गंगा-तट पर झोंपड़ी बनाकर रहने लगा और फिर कभी लौट कर राज्य में नहीं गया।

हर्ष की तेजस्विता और विद्वता से आकर्षित होकर समाज के छोटे-बड़े और विशेषकर युवक उसके पास आते और जीवन-सिद्धान्तों का ज्ञान तथा जीवन-दर्शन प्राप्त कर अपने जीवन-दीप को जलाकर अनेकों जीवनदीपों को प्रज्वलित करते थे। हर्ष ने गंगा किनारे बैठे बैठे सैकड़ो तेजस्वी युवानों को तैयार किया और घर-घर में सद्‌विचार और सद्‌वृत्ति का सन्देश पहुँचाकर सारा समाज बदल डाला।

लोग जब हर्ष को अपना गुरु मानते तो वह कहता-"मै विद्वान, पंडित, लोक-मान्य और राज-मान्य कुछ भी नहीं हूँ। मैं किसी का गुरु नहीं, बल्कि एक नम्र साधक हूँ।"

उस बुद्धि के पूंज हर्ष को अनेक प्रणाम जब ऐसे भव्य चरित्र आँखो के सामने आते हैं, तो उस समय इस भारत-भूमि की रजकण को सिर पर रखकर नाचने का मन होता है। हम बड़भागी हैं, जिस देश की धूलि को राम, कृष्ण, याज्ञवल्क्य, पतंजलि, वशिष्ठ, दधीचि जैसे सैकड़ों महापुरुषों ने नाच-कूद और खेल कर पवित्र किया है। हमारे सैकड़ों पूर्वजों के महान और दिव्य चरित्र इस मिट्टी में दबे पड़े हैं। इस मिट्टी को सिर पर लेने से हमारे पाप धुल जायेंगे। इसीलिये ब्राह्मण '**मृत्तिके हन मे पापं,**' कहकर अपना यज्ञोपवीत बदलते और मिट्टी को माथे चढ़ाते हैं।

इस देश में दिव्यता, भव्यता और तेजस्विता थी, भगवान को भी पूजने वाले यहाँ हुये। इसीलिये भगवान को बार-बार यहाँ आने की इच्छा होती है। उन महापुरुषों की महानता को नदी, पर्वत, वृक्ष और पत्थर कहेंगे। '**दुर्लभं भारते जन्मः**' इस सूत्र की यथार्थता इन्हीं बातों से मालूम होती है। भगवान हमको दिव्य और भव्यता को पचाने की शक्ति और सद्‌बुद्धि दे। ताकि हम उस सांस्कृतिक परम्परा को फिर से खड़ी कर सके।

भक्त कवि जयदेव

आज से लगभग ११०० वर्ष पूर्व की बात है। उत्कल देश के एक गाँव में भोजदेव नाम का एक ब्राह्मण रहता था। उसकी पत्नी का नाम रमादेवी था। उनके घर के पास एक छोटा सा बगीचा था, परन्तु उनकी आर्थिक स्थिति अच्छी न थी। उनके घर में जयदेव नाम के एक बालक ने जन्म लिया, जयदेव ६–७ वर्ष का ही हो पाया था कि भोजदेव इस असार–संसार को छोड़कर चले गये। उनके शोक और वियोग में छः महिने बाद रमादेवी भी जगत छोड़कर स्वर्ग–लोक सिधार गई!

मातृ–पितृहीन जयदेव अकेला, अनाथ और निराधार बन गया। कोई निकट–कुटुम्बी जन भी नहीं था। ऐसे अभिभावक हीन बालक के बिगड़ जाने की अधिक सम्भावना रहती है, परन्तु जयदेव में कुछ भिन्न ही देखने को मिला। जयदेव अत्यन्त लोकप्रिय और प्रख्यात महापुरुष बन गया।

कुछ समय तक पड़ोसियों ने जयदेव की देखभाल की, परन्तु सदा कौन रखता है। पड़ोसियों ने उसकी ओर ध्यान देना कम कर दिया। समय व्यतीत होने पर दुःख कम हो जाता है। अब जयदेव अपने घर और बगीचे पर केन्द्रित हो गया। बगीचे से उसका बहुत प्रेम था। बगीचे के पेड़ों से उसका गहरा स्नेह था।

पुराने जमाने के लोग वृक्ष–वनस्पतियों पर बहुत प्रेम करते और उन्हें अपना आत्मीय समझते थे। जयदेव की माता सदा उससे कहती थी–" बेटा ! हमारे पास पैसा नहीं है। हमारे पूर्वजों ने पैसे की [illegible] नहीं की है, परन्तु ये [illegible]

की वसीहत छोड़ गये हैं। याद रखना हम हर्ष के वंशज हैं। प्रातःकाल गोत्रोच्चारण और पूर्वजों का स्मरण करना चाहिये। उससे मन में वंशगौरव का निर्माण होता है, फिर मनुष्य हीन और अशुभ कार्य एवँ व्यवहार नहीं करता।" इस प्रकार जयदेव की माँ उसमें अस्मिता निर्माण करती थी।

माता के सिंचित संस्कारों के कारण जयदेव पूर्वजों की परम्परा का स्मरण कर विद्याध्ययन प्रारम्भ करता है। अब उसने पड़ोसियों के यहाँ भोजन न कर मधुकरी करना प्रारम्भ कर दिया। उसमें उसे दाल, भात, रोटी, साग जो भी मिलता उसे मिलाकर अस्वाद वृत्ति से खाता था। मधुकरी में केवल पाँच घरों से ही भोजन लिया जाता है। यह एक व्रत है। वह वैसाख-जेष्ठ की चिलचिलाती धूप में बिना जूते पहिने भिक्षार्थ जाता और मधुकरी में मिला हुआ भोजन यदि बच जाता तो उसे शाम के लिये रख देता था। ऐसा जीवन जीते हुये जयदेव ने पढ़ना शुरू किया।

वस्तुतः विद्याध्ययन सुख-सम्पन्नता में तो होता ही नहीं है। 'सुखार्थिनः कुतो विद्या'-सुखार्थी को विद्या कहाँ थी? अध्ययन समाप्त होने तक जयदेव ने ऐसा ही कष्टपूर्ण जीवन व्यतीत किया। उसकी उत्कृष्ट बुद्धिमता के कारण वह गुरुजनों का प्रेमभाजन बन गया। उसने सहजीवन भी प्राप्त किया। उसने दूसरे विद्यार्थियों का भी प्रेम सम्पादन किया। उसका सरस्वती पर अतीव प्रेम था। सरस्वती का भी उस पर उतना ही प्रेम था। इसलिये जयदेव ने अल्प काल में ही प्रकाण्ड पाण्डित्य प्राप्त कर अपना अध्ययन समाप्त कर दिया।

जयदेव उच्च ज्ञान और विद्या प्राप्त कर भी राजश्रित नही बना। विद्याध्ययन करते करते वह जीवन का असली अर्थ समझ चुका था। उसने तेजस्वी जीवन जीने का संकल्प लिया। उसके जीवन और अन्तःकरण में श्रीकृष्ण की भक्ति बस गई। भक्ति के उद्रेक में उसका हृदय भर आता था। नारद और शुकदेव को पागल बनाने वाली भक्ति जयदेव के जीवन में उतर गई। प्रखर बुद्धिमान और विद्वान होने पर भी राज्याश्रय न लेने और भक्ति में तल्लीन रहने के कारण लोग उसे पागल समझने लगे।

जयदेव की इस स्थिति को देखकर गाँव के एक साहुकार की दृष्टि जयदेव के मकान आदि की छोटी सी जायदाद पर पड़ी। उसने उसे अपने अधिकार में करने के लिये एक युक्ति निकाली। उसने झूठे दस्तावेज बनाकर जयदेव से कहा, कि उसके पिता ने उससे कर्जा लिया था, इसलिये वह अपने पिता के ऋण के एवज मे अपना मकान उसे दे दे। जयदेव ने साहुकार से कहा कि उसने इतने दिनों तक कर्ज की बात क्यों नहीं की? फिर भी वह साहूकार के द्वारा प्रस्तुत जाली दस्तावेज में हस्ताक्षर करने के लिये तैयार हो गया।

'चारि भुजा जब राखन हार, कहा करिहैं दुइ भुज बेचार–' प्रभु राखे तो कौन चाखे ? जयदेव हस्ताक्षर करने ही वाला था कि इतने में गाँव वाले साहुकार को सूचना देने के लिये दौड़े–दौड़े आये कि उनका घर जल रहा है। प्रकृति असत्य सहन नहीं कर सकती। गाँव वालों की साहूकार के प्रति सहानुभूति नहीं थी। परन्तु जयदेव तत्क्षण पानी लेकर साहुकार के घर की आग बुझाने के लिये दौड़ पड़ा।

जयदेव के व्यवहार से साहुकार को अपनी कृति पर पश्चाताप हुआ और उसने जयदेव को नमस्कार कर दस्तावेज फाड़ डाले। जयदेव को लगा कि इसमें कुछ ईश्वरीय संकेत है, इसलिये मुझे अब घर में नहीं रहना चाहिये। ऐसा सोचकर वह घर छोड़कर जगन्नाथ पुरी की ओर प्रयाण कर गया।

जयदेव चलते चलते कृष्ण–भक्ति के विचारों में तल्लीन हो जाता है। कड़ाके की धूप में चलने से थककर वह एक पेड़ के नीचे बैठ जाता है। उसे तीव्र प्यास लगती है। पास में कहीं पानी न होने से कड़ी धूप में पानी की तलाश में भटकने पर वह बेहोश होकर गिर पड़ता है। भगवान अपने भक्त के लिये दौड़कर आते हैं और उसे पानी पिलाते हैं। साक्षात् जगदम्बा के हाथ से अमृत–तुल्य जल–पान कर जयदेव उठता है, अब उसके मुँह पर एक विशिष्ट प्रकार की कांति झलकने लगती है। क्योंकि भक्ति–भाव तो था ही, उस पर माता के स्तनों का अमृतपान किया था। आँखे खोलते ही वह अपने को जगन्नाथपुरी के बजाय गोकुल के मार्ग पर पाता है।

जयदेव को यमुना तट, कदम्ब तरु, श्याम मेघ, चमचमाती हुई बिजली और सन्ध्याकाल का दृश्य दिखाई देता है। इस समय राधा, कृष्ण को नन्द के घर भेजने जाती है, यह दृश्य उसकी आँखों के सामने नाचने लगता है। इस समय उसके हृदय में एक मनोरम काव्य की रचना हुई। इस काव्य का नाम है–"गीत गोविन्द" इसमें भक्ति और रसिकता (शृंगार) का सुभग सम्मिलन हुआ है। इस भक्तिरस पूर्ण काव्य का वास्तविक आनन्द वही ले सकता है, जिसमें भक्त–हृदय और बौद्धिक प्रतिभा दोनों हों। हीरा की परीक्षा जौहरी ही कर सकता है। यह [illegible] भक्तों के हृदय को [illegible] और मुग्ध करने वाला है।

जयदेव अपरिग्रही बनकर वृक्षों के नीचे पड़ा रहता और 'गीत–गोविन्द' को गाता रहता था। वह त्यागी और तेजस्वी भक्त था, [illegible] नहीं;

जयदेव का 'गीत–गोविन्द' घर–घर में [illegible] गया। राजा ने भी एक स्तुति काव्य लिखा और लोगों से [illegible] था, परन्तु लोग [illegible] नहीं [illegible]

मुफ्त देने पर भी लोग मेरा काव्य नहीं पढ़ते, मुझे यश नहीं मिलता है। परन्तु राजा को, यह ज्ञात नहीं था कि 'गुरु-मंत्र, कन्या और वेद-विद्या' लो, कहने से उन्हें कोई नहीं लेता और उनकी कीमत घट जाती है।

राजा भी भक्त था। वह जगन्नाथ के मन्दिर में जाकर भगवान से पूछता है- "भगवान! आपकी दृष्टि तो समान है, आपने मुझे वैभव दिया और मैंने उसे स्वीकार किया तो क्या यह मेरा अपराध है? एकको एक प्रेरणा और दूसरे को दूसरी क्यों? मेरे काव्य को यश क्यों नहीं मिला?"

जगन्नाथ भगवान ने कहा-"तुम्हारे काव्य में अहंकार है। मैंने यह 'स्तुति-काव्य' बनाया है, तुम्हारा ऐसा अहम् है। जयदेव ऐसा नहीं कहता कि यह मेरा काव्य है। उसे अहंकार नहीं है। इसलिये तुम जयदेव के पास जाओ।"

राजा जयदेव के पास गया। जयदेव ने कहा-'राजन्! काव्य मेरा भी नहीं और आपका भी नहीं। वे केवल वेद के विचार हैं, भगवद्-विचार हैं।" राजा काव्य की असली कीमत समझ गया। उसने जयदेव को नमस्कार कर कहा- "तुम्हारा काव्य प्रासादिक है।" उस दिन से 'गीत-गोविंद' के साथ राजा के काव्य के भी २४ श्लोक जोड़ दिये गये।

जयदेव जैसे अनन्य भक्त की जीविका चलाने की जिम्मेदारी स्वयँ भगवान् की थी। जयदेव का कोई सगा- सम्बन्धी भी नहीं था। इसलिये उसकी शादी कौन करता? वैदिक-संस्कृति के अनुसार विवाह करना अत्यावश्यक है।

उस गाँव में पद्मावती नाम की एक ब्राह्मण कन्या थी। वह कहती थी की 'खाओ, पीओ और आनन्द करो' की पशुवृत्ति वालों के साथ मैं शादी नहीं करूंगी। वह सामान्य व्यक्ति के साथ शादी करने को तैयार न थी। वह कहती थी जब भगवान मेरे योग्य पति भेजेगा, तभी मैं शादी करूंगी।

पद्मावती के पिता को भगवान ने स्वप्न में आदेश किया कि पद्मावती की शादी जयदेव के साथ कर दो। ब्राह्मण ने दूसरे दिन जयदेव के पास जाकर पद्मावती की शादी की बात कही। जयदेव प्रभुभक्त था। इसलिये वह प्रभु-आज्ञा समझकर पद्मावती को स्वीकारता है। दोनों संस्कारी हैं, दोनो का परस्पर आकर्षण है। पद्मावती ने भी राधा-माधव की मूर्ति ले रखी थी। दोनों पति-पत्नी राधा-माधव की उपासना करते हुये खुशी के दिन व्यतीत करते थे। पद्मावती ने अपना जीवन पति के जीवन में समर्पित कर दिया था। जीवन-समर्पण करना एक कला है।

जयदेव का जीवन कृष्ण-भक्ति के रंग में रंगा था, इसलिये उसने घर से बाहर

निकलकर गाँव-गाँव में घूम कर ज्ञान, भक्ति, सात्विकता, नीति और सद्-गुण आदि के विचारों का प्रचार-प्रसार करने का निश्चय किया।

जयदेव इस प्रकार घूमते हुये एक दिन किसी गाँव के एक साहुकार के यहाँ पहुँचे और कुछ दिन वहीं रहे। जब जयदेव घर लौटने लगे तो साहुकार ने गुरु-दक्षिणा के रूप में कुछ धन देते हुये, कहा-'आप मेरे गुरु हो जाइये।' जयदेव ने कहा-"गुरु बनाया नहीं जाता, बल्कि अपने आप बनता है। मैं गुरु नहीं हूँ, इसलिये गुरु-दक्षिणा कैसे लूँ?" साहुकार ने कहा "आपने मेरा घर पावन किया है। यह दक्षिणा आपकी पत्नी के लिये है, अतः उनके पास पहुँचा दीजिये।" जयदेव साहुकार के प्रेम-पूर्ण आग्रह का सम्मान करते हुये धन लेकर जाते हैं। मार्ग में उन्हें चोर घेर लेते हैं और धन लूट कर उन्हें कुँये में धकेल देते हैं। जयदेव कुँये में बैठे-बैठे राधा-माधव का जप करते हैं।

कुछ समय पश्चात् गौड़ देश का राजा लक्ष्मण सेन उधर से गुजरता और कुँये से राधा-माधव का जप सुनकर उसके पास जाता है। उसने जयदेव को बाहर निकाला और परिचय प्राप्त करने पर नमस्कार करते हुये अपने को कृतार्थ माना। राजा उन्हें अपने राज्य में ले गये और उन्हें राज-दरबार में रहने के लिये कहते हैं, परन्तु जयदेव ने इनकार कर दिया, क्योंकि जयदेव किसी का गुलाम या आश्रित बनकर नहीं रहना चाहता था। परन्तु राजा के अधिक आग्रह पर राजा के [illegible] के रूप में रहने के लिये तैयार हो गये, ताकि राज्य में मानवता, [illegible] और तेजस्विता बढ़ाने और भगवद्-कार्य में योग-दान दिया जा सके।

लक्ष्मण सेन ने जयदेव की सलाह और इच्छा के अनुसार राज्य-[illegible] पर सारे राज्य को दैवी बनाया। जयदेव ने पद्मावती को भी [illegible] लिया। दोनों [illegible] अपरिमित कर्तृत्व से समस्त प्रजा का दृष्टिकोण [illegible] घर-घर को [illegible] विचारों से पवित्र और मंगलमय बना डाला।

उसने रुपया खाया (गबन किया), लोग उसे मारने लगे तो हमने उसे छुड़ाकर जंगल में छोड़ दिया। इस प्रकार की विपरीत बात धरती माता से सहन नहीं हुई, इसलिये धरती फटी और चोर उसमें समा गये।

सिपाहियों ने इस आश्चर्यजनक चमत्कार का किस्सा राजा को सुनाया। राजा ने जयदेव को पूछा तो उसने सत्य घटना कह सुनाई। अपकार करने वाले के प्रति भी उपकार करने की वृत्ति देखकर राजा का जयदेव के प्रति और भी आदर और भक्ति बढ़ गई। जयदेव के सत्परामर्श से राज्य की सम्पूर्ण व्यवस्था बहुत अच्छे ढंग से चलने लगी।

इधर पद्मावती भी पटरानी के साथ मिलकर स्त्री-समाज में सद्‌विचारों का प्रचार करती थी। राजमहल में सभी रानियों और अन्य स्त्रियों में पद्मावती का स्थान अग्रगण्य हो गया था।

एक दिन राजमहल में पद्मावती और रानी आदि स्त्रियों की चर्चा-विचारणा चल रही थी। इतने में रानी के भाई की मृत्यु और उसकी धर्म पत्नी के सती हो जाने का समाचार मिला। रानी सती स्त्री का वर्णन करने लगी, परन्तु पद्मावती इस प्रसंग में मौन रही। रानी ने पद्मावती को पूछा कि वह इस सम्बन्ध में चुपचाप क्यों है ? तो उसने उत्तर दिया कि इस शरीर पर हमारा अधिकार नहीं है, वह भगवान का है। इसलिये आत्म-हत्या करना पाप तथा कायरता का कृत्य है।

पद्मावती की ऐसी स्पष्ट बात को सुनकर रानी को दुःख हुआ। उसे पद्मावती का कथन अच्छा नहीं लगा। उसने पूछा—" पत्नी यदि पति के साथ सती होती है। तो इसमें बुरा क्या है ? " पद्मावती ने कहा " मृत-पति के साथ चिता में अपनी देह को फेंक देना सती होना नहीं है। " रानी ने पूछा—" तब तुम्हारी सती की व्याख्या क्या है ? " पद्मावती ने कहा—" पत्नी की पति के साथ इतनी एकात्मता होना चाहिये कि पति के देहान्त का समाचार सुनते ही पत्नी का श्वास बन्द हो जाय, उसको ही सती कहा जाता है। जिस प्रकार चन्द्रमा के अस्त होते ही चन्द्रिका भी उसके पीछे-पीछे चली जाती है, वैसे ही पति के जाते ही पत्नी का श्वास भी चला जाना चाहिये। जबर्दस्ती शरीर को अग्नि में डालकर आत्मघात करना अनधिकार है, महापाप है। रानी को पद्मावती का यह वक्तव्य सहन नहीं हुआ। उसे पद्मावती अहंकारी लगने लगी। उसने एक भयानक प्रपंच की योजना बनाई।

राजा लक्ष्मण सेन को शिकार का शौक था। क्षत्रियों के लिये मृगया शास्त्रीय-दृष्टि से योग्य है। जयदेव भी कभी-कभी राजा के साथ वन में जाता था, परन्तु शिकार करने नहीं, अपितु निःसर्ग की छटा देखने, नदी, निर्झर, वन और पर्वतों से बात

करने तथा वन के एकान्त, शांत वातावरण में प्रभु के ध्यान-चिंतन में निमग्न रहने के लिये।

एक दिन जयदेव एक झरने के पास वस्त्र उतारकर निसर्ग के सौन्दर्य-दर्शन में मग्न था। उसे वस्त्र पहिनने का भी ध्यान नहीं था। इधर रानी की योजना के अनुसार उसके सेवकों ने चुपके से जयदेव के वस्त्र उठा लिये और उन्हें जंगली जानवरों के खून में भरकर दौड़ते हुये वे राज महल में पहुँचे। उस समय रानी के पास पद्मावती भी बैठी हुई थी। रानी के सेवकों ने रानी को जयदेव के रक्त-रंजित वस्त्रों को दिखाते हुये कहा कि जयदेव को शेर ने खा डाला है और वे इस जगत से चले गये हैं। इतना सुनते ही पद्मावती गिर पड़ती है और प्राण त्याग देती है। रानी अत्यन्त घबड़ा गई। उसे स्वप्न में भी ऐसी कल्पना नहीं थी कि परीक्षा लेते-लेते ही ऐसी घटना घटेगी। पर अब क्या हो ?

लक्ष्मणसेन को घर आते ही सारी घटना मालूम हो गई। वह क्रोधावेश में आकर नंगी तलवार लेकर रानी को मारने के लिये तत्पर हो गया। परन्तु उसी क्षण उसे जयदेव के वचन स्मरण हो आये कि स्त्री-हत्या को शास्त्रकारों ने निन्दनीय बताया है। अतः उसकी तलवार म्यान में चली गई।

राजा को लगा कि रानी की योजना से उसकी बेइज्जती होगी, साथ ही उसे इसमें अपना ही दोष दिखाई देने लगा। अपनी पत्नी के क्षुद्र विचारों के लिये वह अपने को ही जिम्मेदार मानने लगा। इसलिये वह स्वयँ ही मरने के लिये तैयार हो गया।

राजा सोचता है—“ जयदेव को क्या उत्तर दूँगा ? जिस जयदेव ने अपने रक्त का पानी बनाकर मेरे राज्य की प्रजा में उत्साह और चैतन्य फूँका, उनका जीवन दिव्य, भव्य और संस्कारी बनाया, उसके साथ मेरी रानी ने ऐसा व्यवहार किया है !”

राजा अत्यन्त दुःखी और व्यथित हृदय से जयदेव के पास जाकर कहता है—“मेरी रानी ने जो कुकृत्य किया है, उसका अपराधी मैं हूँ, क्योंकि मेरी रानी अहंकारी रही तो उसमें दोष मेरा ही है, जिसने उसको सुधारा नहीं है। इसलिये उसके दोषों, भूलों एवं पापों की जिम्मेदारी मेरी है। मैं अपने अपराध को स्वीकार करता हूं। मेरे इस अपराध का [illegible] [illegible] होता है।”

जयदेव राजा की द्विविधा समझ गया। वह रानी को मार नहीं सकता है और स्वयँ जीवित रह नहीं सकता। परन्तु जिसने लोगों के जीवन को दैवी बनाने में अपना जीवन खपा दिया है, जो सुखोपभोग के पीछे दौड़ने वाला भोग-लम्पट नहीं, बल्कि सात्विक, दिव्य, भव्य और सांस्कृतिक विचार वाला राजा है, उसे किसी भी हालत में मरने नहीं देना चाहिये।

जयदेव पद्मावती को आवाज देकर उठाता है, परन्तु मृत-पत्नी नहीं उठती जयदेव सब लोगों को बाहर निकल जाने को कहता है। राजा को वीणा लाने को कहता है। जयदेव हाथ में वीणा लेकर अत्यन्त करुण भाव से प्रार्थना कर अपनी पत्नी के लिये आयु माँगता है।

वह कहता है—"हे प्रभु! मैंने आज तक आपसे अपने लिये कभी कोई याचना नहीं की। परन्तु यदि हजारों लोगों के जीवन को सुधारने वाला राजा इस जगत से चला जायेगा तो यह अत्यन्त अनुचित होगा। उसने अपना सम्पूर्ण जीवन प्रभु-कार्य के लिये अर्पण किया है। इसलिये राजा को जीवित रखने के लिये मेरी पत्नी को जीवित कीजिये।"

जयदेव अत्यन्त कारुणिक ढंग से वीणा बजाकर मधुर आलाप में 'गीत गोविन्द' गाता है। जयदेव ने जीवन में प्रथम बार वीणा को हाथ में लिया था। तथा प्रथम बार ही 'गीत गोविन्द' को गाया था। 'गीत गोविन्द' में जो प्रेमोद्रेक है, उससे पत्थर भी पसीज जाय। भक्त का भावपूर्ण आर्तनाद ब्रह्माण्ड भेदन कर भगवान के कानों तक पहुँच गया।

भगवान ने गीता में कहा है—"योगक्षेमवहाम्यहम्" यह योगक्षेम रोटी तक ही सीमित नहीं है। भगवान प्रभुकार्य करने वालों के लिये सृष्टि के नियम तोड़ कर भी आते हैं। भगवान ने पद्मावती के मृत देह में प्राणों का सिंचन किया। जयदेव के अन्तिम श्लोकों की ध्वनि के साथ ही पद्मावती उठ बैठी। यह जयदेव की अनन्य भक्ति का परिणाम है। भगवान योग्य समय पर भक्त के शब्दों की कद्र करते हैं।

इस घटना से लोगों के हृदय में आश्चर्य मिश्रित हर्षातिरेक हुआ! राजा ने जयदेव के चरण पकड़ लिये। उसको लगा कि जयदेव के रूप में भगवान उसके राज्य में रहते हैं। राजा तथा प्रजा जयदेव का मान-सत्कार करना चाहते हैं, परन्तु वह अस्वीकार कर देता है। जयदेव प्रभु-नाम जपते हुये पद्मावती को लेकर नदी के किनारे चले जाते हैं। उन्हें इस बात का दुःख है कि 'मैंने भगवान से याचना की है, मैं दीन बन गया हूँ।'

'गीत गोविन्द' लोकोत्तर काव्य है। जयदेव का जीवन और बुद्धि भी लोकोत्तर है। गीत गोविन्द में उसने अपने प्राणों का सिंचन किया है। जयदेव की भक्ति से भगवान ने सृष्टि के नियमों का भंग कर उसके शब्दों को सत्य सिद्ध किया है। जयदेव के पीछे भगवान पागल बने। जयदेव को गोविन्द मिले और हमको 'गीत गोविन्द'!

इस महान विभूति के लिये गौरवान्वित होकर तथा उसका स्मरण कर हमको भी प्रभुकार्य के लिये तत्पर होना चाहिये।

भक्त कवि जयदेव को कोटिशः प्रणाम!
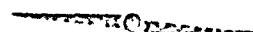
अवीक्षित

विशाल देश के राजा की एक पुत्री थी, जिसका नाम वैशाली था। वैशाली अत्यन्त सौन्दर्यवान, बुद्धिशाली, तेजस्वी और सद्गुणों की खान थी। उसके सद्गुण, शौर्य, सौन्दर्य और सौजन्यता को देखकर, उसको निर्माण करने वाले कलाकार—ब्रह्मा जी भी चकित हो जाते होंगे !

वैशाली का यौवन-पुष्प खिल रहा था और वह युवान हो गई थी। पिता ने अपनी लाड़ली पुत्री के लिये सुयोग्य वर की तलाश में आकाश-पाताल एक कर दिया, पर वैशाली के योग्य वर नहीं मिला। वैशाली जैसी तेजस्वी-युवती सामान्य युवक को पति रूप में स्वीकार करने के लिये तैयार न थी।

पिता ने अत्यन्त व्यथित होकर कहा—"वैशाली! भगवान ने तुझे सर्वस्व दिया है, तेरे पास दिव्य गुणों का खजाना है, कोई कमी नहीं। इसीलिये तुम्हारे लिये सुयोग्य वर नहीं मिल रहा है। मैं ढूंढ कर थक गया हूँ। अब एक ही मार्ग शेष रहा गया है कि तुम अपने लिये योग्य वर स्वयँ ढूँढ़ लो।"

वैशाली ने कहा—"पिताजी! आप निश्चिंत रहें। भगवान मेरी लाज रखेगा। किसी निस्तेज, स्वत्वहीन और सौंदर्य-लोलुप व्यक्ति को पति बनाने की अपेक्षा मैं आजन्म कुँवारी रहना पसन्द करूँगी।"

राजा ने परम्परा के अनुसार स्वयम्बर रचा। वैशाली जैसी दिव्य-सौन्दर्य शालिनी के स्वयम्बर में कौन नहीं आता? देश-विदेश के राजा आये। कुछ तो

मुकाबिला किया। किन्तु इतनी विशाल सेना के आगे अकेला अवीक्षित कब तक टिकता। अवीक्षित हार गया और बन्दी बना लिया गया।

अवीक्षित की वीरता और शौर्य को देखकर वैशाली ने उसे मन ही मन प्रणाम किया। उसने अपने पिता से कहा–"पिताजी! यह युद्ध नहीं था। आपने अन्याय से उसे बन्दी बनाया है। आप सब राजाओं को अकेले व्यक्ति के साथ युद्ध करते हुये शर्म नहीं आई? पिताजी! उसकी तेजस्विता, निर्भयता और शौर्य को तो ध्यान में लाइये।" राजा ने कहा–"उसे सैकड़ों राजाओं के बीच में तेरा हाथ पकड़ते हुये शरम नहीं आई?" वैशाली ने उत्तर दिया–"पिताजी! वह तेजस्वी तथा निर्भय है, उसका अभूतपूर्व शौर्य तो देखिये!" परन्तु पिता ने वैशाली की बातें अनसुनी कर दी।

अवीक्षित के पराक्रम को देखकर वैशाली उसे अपना समझने लगी। वह स्वयं अवीक्षित को खाना खिलाने गई, परन्तु उसने खाने से इनकार कर दिया। वैशाली के बहुत प्रेमपूर्ण आग्रह करने पर भी अवीक्षित ने भोजन करना स्वीकार नहीं किया।

उसने कहा–"विधि की भी क्या विचित्रता है? दो दिन पूर्व तू मुझे नहीं चाहती थी और आज प्रेम से खाना खिलाने आई है! परन्तु अब मैं तुझे स्वीकार नहीं कर सकता।" वैशाली को इससे दारुण–दुःख हुआ, उसके हृदय पर तीव्र आघात लगा और वह रो पड़ी। वैशाली भग्न–हृदय से वापस चली गई।

अवीक्षित के बन्दी होने का समाचार मिलते ही करंधम ने विशाल देश पर आक्रमण कर दिया। इस बीच विशाल देश के राजा का विचार अवीक्षित के सम्बन्ध में बदल चुका था। इसलिये उसने करंधम का स्वागत किया और उसे ससम्मान राज–महल में ले गया।

अवीक्षित मुक्त कर दिया गया। वह धीर, वीर और उदात्त गति से दरबार में आया। मानों साक्षात् वीररस ही आ रहा हो। उसने पिता को प्रणाम करते हुये कहा–"पिता जी! आपको मेरे लिये इतना कष्ट करना पड़ा। उस नौजवान पुत्र को धिक्कार है, जिसको छुड़ाने के लिये वृद्ध पिता को आना पड़ा" वह लज्जित होकर नीची नजर कर खड़ा रहा।

पिता ने कहा–"अवीक्षित! तेरे शौर्य का गुणगान इन सभी राजाओं ने किया है। इसलिये मैं तुझे धन्यवाद देने आया हूँ। तूने मेरे कुल के शौर्य और तेजस्विता का दिग्दर्शन कराया है। तू धन्य है।" यह कहकर पिता ने उसकी पीठ थपथपाई।

पास में खड़े विशाल देश के राजाने अवीक्षित का हाथ अपने हाथ में ले कर करंधम से कहा–"आज से यह तुम्हारा पुत्र हमारा भी है। हमारी वैशाली को अपनी पुत्र–वधू बनाइये। उसकी भी यही इच्छा है।"

अवीक्षित ने कहा—" पिताजी ! वैशाली स्वर्ग के वैभव के समान तथा मूर्तिमंत तेज है। उसके पास अनुपम सौन्दर्य तथा उत्कृष्ट बुद्धि है। किन्तु मेरे पास उसके पति बनने की योग्यता नहीं है।"

करंधम को अवीक्षित के इस कथन से बहुत आश्चर्य हुआ। वे विचारमग्न हो गये।

अवीक्षित ने पुनः कहा—" पिताजी ! मैं आपके नाम से बन्दीगृह से मुक्त हुआ। इसको कौन तेजस्वी पुत्र सहन कर सकता है ? स्त्री, शौर्य और तेजस्विता की पूजक होती है। वह तेजस्वी पति के सामने ही नतमस्तक होना चाहती है। इसलिये पति में विशिष्ट गुण होना ही चाहिये। मुझमें उसका अभाव है।"

उसने विशाल देश के राजा से भी कहा—" वैशाली अनुपम रत्न है, परन्तु मेरा दुर्भाग्य है कि मैं उसका पाणिग्रहण नहीं कर सकता। उसका किसी नरवीर से विवाह कर उसे सुखी बनाइये।" इतना कहकर वह तीव्र गति से राज-दरबार छोड़कर चला गया। वैशाली के पिता को यह देखकर अत्यन्त दुःख हुआ, परन्तु कोई इलाज नहीं था।

अवीक्षित की तेजस्विता को देखकर वैशाली ने भी उसी के साथ शादी करने का दृढ़ संकल्प कर लिया था। वैशाली ने अवीक्षित को पाने के लिये तप करना आरम्भ कर दिया। वह कठोर व्रत कर अपने शरीर को क्षीण करने लगी।

एक दिन आश्रम के कुलपति भ्रमण करते हुये राजमहल में पहुंचे। वैशाली की बदली हुई दशा देखकर उन्होंने प्यार भरी वाणी में डाँटते हुये पूछा—" यह व्रत किसलिये करती हो ? क्या तेजस्वी होकर भिखारिन बनोगी ? ऐसा व्रत तो दुर्बल करता है। तेजस्वी तप करता है। तप अर्थात् भगवान के कार्य के लिये पिस जाना। 'तपोद्वन्द्वसहनम्।' तुम्हें व्रत के बजाय ऐसा तप करना चाहिये कि भगवान को स्वयं तुम्हारे पास आना पड़े।"

है। फिर मेरा जीवन किस काम का ? मैं इस सृष्टि में भार रूप हूँ।" उसने पास के वट वृक्ष पर चढ़कर देह विसर्जन करने का निश्चय किया।

योगानुयोग से कुलपति भ्रमण करते हुये उधर आ निकले। उनकी दृष्टि वैशाली पर पड़ी। उन्होंने उसे पेड़ से नीचे उतारकर कहा—"बेटी! तुम यह क्या कर रही हो ? बलात् शरीर के अन्त करने का तुमको कोई अधिकार नहीं है। यह शरीर तुमने नहीं बनाया। उसका पोषण भी तुमने नहीं किया। जब तुम्हारा मुँह भी नहीं था, तब भी इसका पोषण होता था। तुमको छोटे से बड़ा भगवान ने किया है। वही खिलाता और खाये हुये को पचाकर उसका खून बनाता है, उससे शरीर पुष्ट होता है। इसमें तुम्हारा कर्तृत्व कहाँ पर है। फिर तुम्हें देहोत्सर्ग करने का क्या अधिकार है ?"

"तुमको अवीक्षित नहीं मिल रहा है, तुम इसलिये हताश हो और हमे जगदीश नहीं मिल रहा है हम इसलिये हताश हैं। लेकिन हम आत्मघात नहीं करते। तुम अपना कार्य करो और भगवान पर विश्वास रखो। वह हजार निमित्त से सहायता करेगा। आत्मघात करने से तुमको तो पाप लगेगा ही, परन्तु इस आश्रम का भी बदनाम होगा। लोग कहेंगे कि आश्रम में रहने वाले अन्धे हैं। जो अभीप्सित की प्राप्ती न होने पर आत्महत्या करते हैं।"

कुलपति वैशाली को आश्वस्त कर आश्रम में ले आये लेकिन विधि-विधान विचित्र होता है। एक दिन वैशाली वृक्षों की छाया में नदी-तट पर अकेली घूमती थी, वह नदी के जल में पैरों की उंगलियों से जल-क्रीड़ा करते हुये अवीक्षित के विचारों में मग्न थी।

तपोवन के पास ही वासुकी का नाग-राज्य था। वासुकी का राजकुमार आसुरी वृति का और धन वैभव के घमण्ड से मदान्ध बना था। वह अकेली वैशाली को देखकर उसे नशीली वनस्पति सुंघाकर उड़ा ले गया।

वैशाली जब होश में आई तो उसने अपने आप को एक राजमहल म एक सेज के ऊपर पाया। राजकन्या रत्नमाला उसकी सेवा करती थी। वह उसे वनस्पति सुंघाकर होश में लाई। उसने वैशाली को आश्वासन दिया कि उसका उन्मत्त भाई उसे उड़ा कर ले आया था, पर अब वह डरे नहीं।

रत्नमाला के प्रेमपूर्ण आश्वासन से वैशाली को कुछ सांत्वना मिली। इतने में नागराज वासुकी आया और उसने भी आश्वासन दिया—"वैशाली तुम डरो मत। आराम हो जाने पर मैं तुम्हें तुम जहाँ चाहोगी, वहाँ सुरक्षित पहुँचा दूँगा।"

वासुकी के आश्वासन पाने पर वैशाली ने अपना इतिहास अथ से इति तक

सुना दिया। वासुकी ने कहा–'तुम जैसी तेजस्वी राजकन्या को तेजस्वी राजकुमार के साथ ही विवाह करना चाहिये। बेटी! तुम चिंता न करो। तुम्हारी शादी अवीक्षित के साथ ही होगी। परन्तु बेटी! मुझे नागलोक का भविष्य दिखाई देता है। नाग लोग उन्मत्त हुये हैं, इसलिये उनका अधःपतन मेरी आँखों के सामने नाच रहा है। थोड़े ही दिनों में ये लोग पशु जैसा जीवन जीने लगेंगे। भगवान को इनका विनाश करना पड़ेगा। "खाओ, पिओ और आनन्द करो" की भोग-वृत्ति को भगवान अधिक दिन तक सहन नहीं कर सकेंगे।'

"मुझे विश्वास है कि तेरा पुत्र इन सब का नाश कर [illegible] राज्य में [illegible] स्थापना करेगा। तुम्हारे पुत्र महान संस्कारी और पराक्रमी होंगे। [illegible] अपकार्य में बाधक बनेंगे। उस समय मेरे वंश को समाप्त न होने देना। इतनी ही इस बूढ़े पिता की प्रार्थना है। तुम मुझे अभय दान दो। कुलदेव तुम्हें तेजस्वी पुत्र प्रदान कर तुम्हारी मनोकामना पूर्ण करेंगे।"

नागराज वासुकी अपने वंश का निर्वंश न होने देने की भीख मांगते हुये कहते हैं कि नाग प्रजा भोगी हो गई है, अतः वीर्यहीन प्रजा का विनाश अवश्यम्भावी है।

धर्मस्य मूलं अर्थः
अर्थस्य मूलं राज्यं
राज्यस्य मूलं इन्द्रिय निग्रहः
इन्द्रियनिग्रहस्य मूलं वृद्धोपसेवा ॥

इधर अवीक्षित की माँ वीरा रानी उसे समझाती है–"बेटा! कहाँ तक अपनी जिद पकड़े रहेगा? हम वृद्ध हो गये हैं, कब तक राज्य का भार उठाये रहेंगे? इस शरीर का क्या भरोसा है? इसलिये तू शादी कर।"

"माँ! मैंने कहा है कि मैं शादी करूँगा तो सिर्फ वैशाली के साथ, परन्तु मैंने उसे कह रखा है कि मैं उससे शादी नहीं करूँगा, क्योंकि मैं उसके योग्य नहीं हुँ। बाकी स्त्रियाँ मेरे लिये अपनी बहिन के समान हैं।"

"परन्तु तू तनिक विचार तो कर! यह सारा वैभव किसके लिये है? तू शादी नहीं करेगा तो आगे वंश कैसे चलेगा? और यह किसने कहा कि तुम वैशाली के योग्य नहीं हो? वास्तव में देखा जाय, तो यह राज्य तेरे पराक्रम से ही देवी हुआ है। प्रत्येक व्यक्ति तेरे शौर्य और तेजस्विता का गुणगान करता है।"

वीरा रानी अवीक्षित को समझाती है, परन्तु वह नहीं मानता। माता का दिल टूट जाता है। वह कहती है–"भगवान! तूने ऐसा तेजस्वी पुत्र दिया, परन्तु वह शादी नहीं करता। मेरे कुल का निर्वंश हो जायेगा।" वह अवीक्षित से कहती है–"यदि तुझको विवाह नहीं करना है, तो यह सारा वैभव दान कर दे।"

अवीक्षित कर्तृत्ववान और तेजस्वी युवान था। उसकी रगों में स्वयं वैभव कमा सकने की हिम्मत थी। उसने दूसरे दिन ढिंढोरा पिटवा दिया–"जिसकी जो इच्छा हो, वह माँग कर ले जाय।"

"प्राण नहीं जाता इसलिये जीता हूँ, भूख लगती है इसलिये खाता हूँ।" ऐसा क्षुद्र जीवन जीने वाला आज का युवान कहाँ और क्षण भर में राजसी वैभव को त्याग कर दान कर देने वाला अवीक्षित कहाँ? पिता की कमाई पर पलने वाला और स्त्री के पीछे पागल बनने वाला आज का युवक कहाँ और पिता के द्वारा मुक्त होने पर दुःख अनुभव कर वैशाली जैसी लावण्यवती और सद्गुणों की खान स्त्रीरत्न को ठुकरा देने वाला तेजस्वी युवान अवीक्षित कहाँ?

माँ-बेटे दोनों राजमहल के विशालप्रांगण में रत्न-जड़ित आसन पर बैठे हैं। लोग आते हैं और अवीक्षित से मन-इच्छित दान प्राप्त कर चले जाते हैं। अवीक्षित श्री का लोभ छोड़कर निर्लिप्त बैठा है। इस दिव्यदृश्य को देखकर करंधम की आँखें हर्षाश्रु से भर गईं। कैसा दिव्य और तेजस्वी बालक है! हठ पकड़ा हुआ है। उसकी हठ छुड़ाने के विचार में मग्न करंधम आंगन में चक्कर लगा रहा था।

दूसरे दिन भी यह कार्यक्रम चलता रहा। कर्तृत्ववान पुत्र, माँ की इच्छा पूर्ण कर रहा है। मुँह माँगा दान दे रहा है। इतने में एक वयोवृद्ध पुरुष आया और उसने अवीक्षित से पूछा–"जो मुझे चाहिये–दोगे?"

अवीक्षित ने कहा–"हाँ, हाँ! खुशी से माँगिये, जो माँगोगे अवश्य दूँगा।"

"लेकिन तुमसे नहीं दिया जायेगा" वृद्ध ने कुछ हिचकिचाते हुये कहा।

"यह अवीक्षित का वचन है। आज्ञा कीजिये, यदि आवश्यकता हुई तो आकाश के तारे तोड़ भी ले आऊँगा। अवीक्षित का शब्द असत्य नहीं होता।"

वृद्ध ने पुनः शंका करते हुये कहा—"नहीं, नहीं! तुमसे यह होना कठिन है।"

अवीक्षित तनिक आवेश में आ गया—"क्या आपको सुनाई नहीं दिया कि यह अवीक्षित का वचन है! आपको आपकी इच्छानुसार अवश्य मिलेगा। आप माँगिये तो सही। कहिये आप कौन हैं?"

"बेटा! एक पिता भिखारी बनकर भीख माँग रहा है कि तू शादी कर!" करंधम ने अपना बनावटी वेश फेंक कर कहा।

अवीक्षित यह सुनकर चकित हो गया! उसने अपने पिता को पहिचाना और पिता के चरणों में गिरकर कहा—"पिता जी! आप! और इस वेश में!"

"क्या करूँ बेटा! तू हमारी बात मानता ही नहीं था, इसलिये इस वेश में तुमसे भीख माँगनी पड़ी।"

अवीक्षित ने घोड़ा कसा और वैशाली की खोज में निकल पड़ा। विधि के विधान का वैचित्र्य है! उसने जिस वैशाली से ब्याह विवाह करने से इनकार कर दिया था, आज वह उसी की खोज में निकल पड़ा है।

अवीक्षित घोड़ा दौड़ाते हुये वायु-वेग से बढ़ा जा रहा है। उसने मार्ग में देखा कि [illegible] नाम का एक बहुत ही सुन्दर [illegible] को उठाये लिये जा रहा है और वह [illegible] चिल्लाती जा रही है। अवीक्षित ने उसका पीछा किया और उसे मारकर उस [illegible] को छुटकारा [illegible] दिया। [illegible] और [illegible] अवीक्षित [illegible] हो गया।

मरुत्

बालरवि की सुनहरी करणें प्रातःकालीन मनोरम वातावरण को आल्हादित कर रही थीं। पसीने से सराबोर एक तरुण घुड़सवार राजमहल के समीप आकर रुक गया। लगभग बीस वर्ष के इस घुड़सवार ने चपलता से घोड़े की पीठपर से छलांग मारी। उसके तेजस्वी मुखड़े से उसके व्यक्तित्व की प्रतिभा निखर रही थी। उसके चेहरे पर दृष्टिपात करते ही मन वरवश उसकी ओर आकर्षित होता था। युवान होते हुये भी उसके मुँह से वृद्धों को भी लज्जित कर देने वाली गम्भीरता झलकती थी। पसीने की बूंदों से उसका चेहरा खिल रहा था। उसने घोड़े से उतरकर दौड़ते हुये महल में प्रवेश किया।

" बेटा मरुत ! यहाँ आओ तो ! " वृद्ध दादा ने आवाज दी। मरुत की पीठ पर हाथ फेरते हुये दादा ने कहा–" लगता है, आज घोड़े को बहुत भगाया है ! आज तुमसे एक महत्व पूर्ण बात कहनी है। वृद्ध दादा राज्य का भार तुम्हारे कन्धों पर डाल कर मुक्त होना चाहता है ! आज से इस राज्य की बागडोर तुम्हारे हाथ में रहेगी। "

अभी मरुत की मूँछों का डोरा भी नहीं फूटा था। उसके खेलने कूदने के दिन थे। इस अवस्था में इतनी बड़ी जिम्मेदारी को उठाने की उसको स्वप्न में भी कल्पना न थी। राज मुकुट पहिनना अच्छा लगता है, परन्तु उससे जो महान उत्तर दायित्व आ पड़ता है, उससे सहज ही स्तब्धता आ जाती है। मरुत का मन सहमत नहीं होता था, परन्तु विधि की विचित्रता है कि दुःख सुख को खड़ी करने वाली मानव-जीवन की माला किसी के विचार करने के लिये प्रतिक्षा नहीं करती।

जिस नियति ने राम-कृष्ण को भी अपने ताल पर नचाया है, वह क्या मरुत को छोड़ती? दादा की आज्ञा को शिरोधार्य कर, खेल-कूद और कल्लोल करने में मस्त रहने वाला १८ वर्षीय राजकुमार एकाएक गम्भीर होकर राज्य की बागडोर संभाल कर राजा बना।

मरुत का राज्याभिषेक नगर के लोगों की चर्चा का विषय बन गया। वे कहने लगे—"करंधम ने पुत्र को राजगद्दी देने की अपेक्षा पौत्र को क्यों दी? अभी मरुत तो बालक ही है और फिर करंधम भी इतने वृद्ध नहीं हुये कि राज्य-शासन न कर सकें।

करंधम ने भारतीय संस्कृति की परम्परा के अनुसार ही राज्य-त्याग का निर्णय लिया था। उन्होंने 'सोचा कब तक राज्य करना है? जो पच्चीस वर्ष की अवस्था में किया, वही साठ वर्ष की अवस्था में भी करता हूं! लोगों का ही विचार करता हूं। यह क्या जीवन है? अब अपने कल्याण का भी तो विचार करूं!'

पुत्र अवीक्षित राजगद्दी लेने के लिये तैयार नहीं था, इसलिये ही राजा ने पौत्र मरुत को राजगद्दी सौंपी। इससे पूर्व उन्होंने अवीक्षित से कहा—"मैं अब वृद्ध हो गया हूं, मैं कब तक राज्य की जिम्मेदारी उठाऊंगा? तुम मुझे आज्ञा दो तो मैं तपोवन में जाकर अपना कल्याण करूं। मैं यह राज्य तुमको देकर मुक्त होना चाहता हूं।"

मरुत्

बालरवि की सुनहरी करणें प्रात:कालीन मनोरम वातावरण को आल्हादित कर रही थीं। पसीने से सराबोर एक तरुण घुड़सवार राजमहल के समीप आकर रुक गया। लगभग बीस वर्ष के इस घुड़सवार ने चपलता से घोड़े की पीठपर से छलांग मारी। उसके तेजस्वी मुखड़े से उसके व्यक्तित्व की प्रतिभा निखर रही थी। उसके चेहरे पर दृष्टिपात करते ही मन बरबश उसकी ओर आकर्षित होता था। युवान होते हुये भी उसके मुँह से वृद्धों को भी लज्जित कर देने वाली गम्भीरता झलकती थी। पसीने की बूंदों से उसका चेहरा खिल रहा था। उसने घोड़े से उतरकर दौड़ते हुये महल में प्रवेश किया।

"बेटा मरुत ! यहाँ आओ तो !" वृद्ध दादा ने आवाज दी। मरुत की पीठ पर हाथ फेरते हुये दादा ने कहा–" लगता है, आज घोड़े को बहुत भगाया है ! आज तुमसे एक महत्व पूर्ण बात कहनी है। वृद्ध दादा राज्य का भार तुम्हारे कन्धों पर डाल कर मुक्त होना चाहता है ! आज से इस राज्य की बाग डोर तुम्हारे हाथ में रहेगी।"

अभी मरुत की मूँछों का डोरा भी नहीं फूटा था। उसके खेलने कूदने के दिन थे। इस अवस्था में इतनी बड़ी जिम्मेदारी को उठाने की उसको स्वप्न में भी कल्पना न थी। राज मुकुट पहिनना अच्छा लगता है, परन्तु उससे जो महान उत्तर दायित्व आ पड़ता है, उससे सहज ही स्तब्धता आ जाती है। मरुत का मन सहमत नहीं होता था, परन्तु विधि की विचित्रता है कि दुःख सुख को खड़ी करने वाली मानव–जीवन की माला किसी के विचार करने के लिये प्रतिक्षा नहीं करती।

जिस नियति ने राम–कृष्ण को भी अपने ताल पर नचाया है, वह क्या मरुत को छोड़ती ? दादा की आज्ञा को शिरोधार्य कर, खेल–कूद और कल्लोल करने में मस्त रहने वाला १८ वर्षीय राजकुमार एकाएक गम्भीर होकर राज्य की बागडोर संभाल कर राजा बना।

मरुत का राज्याभिषेक नगर के लोगों की चर्चा का विषय बन गया। वे कहने लगे–"करंधम ने पुत्र को राजगद्दी देने की अपेक्षा पौत्र को क्यों दी ? अभी मरुत तो बालक ही है और फिर करंधम भी इतने वृद्ध नहीं हुये कि राज्य–शासन न कर सकें।

करंधम ने भारतीय संस्कृति की परम्परा के अनुसार ही राज्य–त्याग का निर्णय लिया था। उन्होंने 'सोचा कब तक राज्य करना है ? जो पच्चीस वर्ष की अवस्था में किया, वही साठ वर्ष की अवस्था में भी करता हूँ ! लोगों का ही विचार करता हूँ। यह क्या जीवन है ? अब अपने कल्याण का भी तो विचार करूँ !'

पुत्र अवीक्षित राजगद्दी लेने के लिये तैयार नहीं था, इसलिये ही राजा ने पौत्र मरुत को राजगद्दी सौंपी। इससे पूर्व उन्होंने अवीक्षित से कहा–"मैं अब वृद्ध हो गया हूँ, मैं कब तक राज्य की जिम्मेदारी उठाऊँगा ? तुम मुझे आज्ञा दो तो मैं तपोवन में जाकर अपना कल्याण करूँ। मैं यह राज्य तुमको देकर मुक्त होना चाहता हूँ।"

अवीक्षित ने कहा–"मैं राज्य–संचालन करने योग्य नहीं हूँ।" पिता ने कहा–"परन्तु यह किसने कहा कि तुम असमर्थ हो। तुम्हारे बाहुबल पर ही तो यह राज्य चलता है। तुम्हारे जैसे कर्तृत्ववान, पराक्रमी और संस्कारी पुत्र के होते हुये मैं कब तक राज्य की बागडोर थामें रहूँ ?"

"पिताजी ! आपको स्मरण होगा कि आपके वचन से ही विशाल देश के राजा ने मुझे कैद से मुक्त किया था ! मैं अभी तक उस कलंक को नहीं धो पाया। इसलिये मुझे राज–गद्दी स्वीकार्य नहीं।"

"बेटा ! तुम मे और मुझ मे कुछ अन्तर है क्या ? पिता के सहारे ही पुत्र बड़ा होता है। तब पिता के नाम पर मुक्त होना तुम्हें नमार्दी क्यों लगी है ?"

"परन्तु पिताजी ! ऐसा पुत्र, मात्र पुत्र कहलाता है, सु–पुत्र नहीं। जिस पुत्र को छुड़ाने आपको विशाल देश जाना पड़ा, वह प्रजा का रक्षण कैसे कर सकता है ! वह प्रजा का आदर्श कैसे बन सकता है ?"

अवीक्षित अत्यंत तेजस्वी, पराक्रमी, कर्तृत्वशाली तथा स्वाभिमानी था।

उसने राजगद्दी को ठुकरा दिया और अपने निश्चय पर अडिग खड़ा रहा। पिता उसके निर्णय को नहीं बदल सके।

करंधम ने अपने मंत्रियों, राज्य-सभा के सदस्यों तथा न्यायाधीशों को बुलाकर अवीक्षित के निर्णय की सूचना दी और मरुत को उत्तराधिकारी बनाने का प्रस्ताव किया और सर्वानुमति से मरुत का राज्याभिषेक कर दिया गया।

दूसरे दिन करंधम तपोवन जाने लगे प्रजा ने उन्हें भाव--तो भीनी विदाई दी मरुत के प्रणाम करने पर दादा ने आर्शीवाद देते हुये कहा-" बेटा! लक्ष्मी बहुत चंचल होती है। उसमें फँस कर नैतिक व्यवहार मत छोड़ना। पूर्वजों के-संस्कृति के संस्कारों को संभाल कर सुरक्षित रखना। प्रजा का रक्षण, पोषण और कल्याण करना।" इतना कहकर बीरा-रानी और करंधम अपने श्रेयस (कल्याण) के लिये तपोवन में चले गये।

मरुत सुन्दरतापूर्वक राज्य-शासन करने लगा। एक दिन मरुत और उसका प्रिय मित्र अंगिरस-पुत्र संवर्त घूम रहे थे। संवर्त ने कहा-" मरुत। तुम्हारा राज्य सुन्दर है, प्रजा सुखी है, परन्तु प्रजा जिस प्रकार सुखी है, उसी प्रकार संस्कारी भी होनी चाहिये। आस-पास के गाँवों में लोग संस्कारी नहीं हैं। वे पशु-तुल्य जीवन बिता रहे हैं। उन्हें मानवोचित जीवन जीना सिखाने का कार्य हमारा है।" दोनों मित्र इस पर विचार करते हैं कि यह कार्य किस प्रकार से सम्पन्न किया जाय?

मरुत ने बड़े-बड़े यज्ञ करना प्रारम्भ किया। यज्ञ का जितना अर्थ हम समझते हैं, उतना ही सीमित नहीं है। उसमें सांस्कृतिक कार्य की दिव्य भावना है। जहाँ यज्ञ होता है, वहाँ तेजस्वी और ज्ञानी ब्राह्मणों का समुदाय एकत्रित होता है। यज्ञवेदी में गणपति और अग्नि की प्रतिष्ठा होती है। अग्नि को आकार दिया जाता है। आस-पास के लोग यज्ञ में दर्शन करने आते हैं। विद्वान और ज्ञानी ब्राह्मणों से उपदेश ग्रहण कर अपना जीवन-विकास करते हैं। ब्राह्मण लोग, मध्यान्ह के पश्चात् आस-पास के गाँवों में भ्रमण कर लोगों को संस्कृति के विचार, सद्विचार और भगवद्-विचार देते हैं। इस प्रकार सतत यज्ञ चलते रहे और मनुष्य पशुत्त्व से मानवता की ओर तथा भोगवाद से संस्कृति की ओर मुड़ते थे। मानवजीवन सुन्दर, सभ्य और संस्कारी बनता था। मरुत ने इसी प्रकार के यज्ञों से अपनी प्रजा को संस्कारी बनाया।

यज्ञों के लिये लक्ष्मी की आवश्यकता होती है। प्रजा से जो कर लिया जाता है, वह उसी के कल्याण के लिये व्यय किया जाता है। यज्ञों के लिये अतिरिक्त धन

कहाँ से आयेगा ? यह प्रश्न मरुत को उलझन में डाल रहा था। परंतु दैव अनुकूल था। उसको खबर मिली कि मुंज पर्वत पर चोरों ने काफी धन दबा रखा है। उसने सोचा सम्पत्ति इस प्रकार व्यर्थ दबी पड़ी रहे, इसकी अपेक्षा उसे नीति और संस्कृति के कार्य पर लगाना चाहिये।

मरुत ने मुंज पर्वत पर आक्रमण किया और चोरों को दण्डित कर सारा धन ले लिया। इससे उसने संस्कृति का महान कार्य किया। उसने गाँवों-गाँवों में ब्राह्मणों को भेज कर लोगों को समझाना शुरू किया कि मानव होकर भी पशु का-बैल का सा जीवन क्यों जीते हो ? 'खाओ, पिओ और मजे करो,' यह तो पशु जीवन है। ऐसे जीवन और पशु जीवन में क्या अन्तर है--

आहार निद्रा भय मैथुनं च सामान्य मेतत् पशुभिर्नराणाम्।
धर्मो हितेषामधिको विशेषो धर्मेण हीनाःपशुभिःसमानाः॥

भगवान ने अमूल्य मानव-देह दी है, उसे भोग-विलास में ही व्यतीत नहीं करना चाहिये। जो ऐसा करता है, वह '**साक्षात्पशुः पुच्छविषाण हीनः**' ही है।

मरुत ने संवर्त की सहायता से ५ करोड़ मनुष्यों को सुसंस्कृत बनाया। नैतिक, सांस्कृतिक और आध्यात्मिक जीवन जीने वाला मरुत अव्यक्त लोकप्रिय नेता हो गया। मरुत की लोकप्रियता आज के नेताओं की तरह क्षणिक नहीं थी। उसने लोगों के दिलों में प्रेम का साम्राज्य स्थापित किया था। उनके हृदय पर उसका अधिकार था। इसीलिये आज भी लोग '**मरुतः परिवेष्टारो मरुतस्यावसन्गृहे**' इस मंत्र से स्मरण करते हैं।

मरुत ने अपने सारे राज्य को बदलकर संस्कृतिक और तेजस्वी बना डाला। मरुत की तेजस्विता को देखकर अवीक्षित को अति आनन्द हुआ और उसे लगा कि मैं क्षुद्र और हीन नहीं; अन्यथा मेरे घर में ऐसा तेजस्वी पुत्र कैसे जन्म लेता ? वैशाली भी हर्षातिरेक से अपने मातृत्व को धन्य समझने लगी।

मरुत के राज्य में सभी लोक सुखी और समाधानी थे, परन्तु संस्कृति-वीर को चैन कहाँ मिलता है। कोई न कोई आपत्ति उसका पीछा करती ही रहती हैं। मरुत को भी ऐसी ही आपत्ति ने घेर लिया। यह उसके सांस्कृतिक पौरुष को चुनौती थी।

ऋषि के आश्रम से एक घुड़-सवार मरुत की दादी वीरारानी का यह सन्देश ले कर आया। "बेटा ! सायंकाल होते ही पशु-पक्षी भी अपने घर की ओर मुड़ते हैं। तुम्हारे दादा स्वर्ग-लोक सिधार गये हैं। मैं जीवन की संध्या में भी घर आने के लिये इच्छुक नहीं हूँ। परन्तु बेटा ! मेरा तेजस्वी पौत्र राज्य चलाता हो और मेरी उपस्थिति में आश्रम तथा बहू-बेटियों की लाज लूटी जाती हो तो इससे बड़े दुःख की बात और क्या हो सकती है ?

आश्रम (तपोवन) ज्ञान के सदाव्रत और तीर्थ कहलाते हैं। वहाँ शांती और समाधानी जीवन जी कर भगवान के साथ तदात्म्य साधने की जीवन-कला सिखाई जाती है। यदि तपोवन भ्रष्ट और दूषित हो जायेंगे तो मानव-जीवन में शांति, समाधान और स्थैर्य कैसे पहुँचाया जायेगा तथा संस्कृति किस प्रकार से टिक सकेगी?

बेटा! नागलोक के युवान तपोवन में आकर नव-युवक और नव-युवतियों में 'खाओ-पीवो और आनन्द करो' की भोगवादी पाशविक वृत्ति का प्रचार करते और घर-घर में भ्रष्टाचार फैलाते हैं। वे अनेक प्रकार के प्रलोभन देकर आश्रम-वासी युवानों को अपनी ओर आकर्षित करते हैं। मुझसे यह भ्रष्टाचार अपनी आँखों से नहीं देखा जा सकता।

बेटा! इसका सम्पूर्ण उत्तरदायित्व राजा का है। इसके लिये राजा दोषी है। राजा प्रजा से कर वसूल (आय का षष्ठांश) कर उसे रक्षण प्रदान करता है। दुनिया भले ही तेरा यशोगान करे, परन्तु मैं तो कहूँगी कि तेरा शासन अत्यन्त दुर्बल है। यदि तुम राक्षसों से तपोवनों की रक्षा करने में असमर्थ हो तो ऋषि-मुनि इसके लिये समर्थ है, वे स्वयं नाग लोगों का सामना कर प्रस्थापित मूल्यों की रक्षा करेंगे।"

जिसकी युवानी दिव्य और तेजस्वी होगी, वही वृद्धावस्था में भी ऐसी तेजस्वी वाणी का उच्चारण कर सकता है। वीरा रानी के एक-एक शब्द से तेजस्विता टपकती है।

तपोवन के अपमान और भ्रष्टता की बात से मरुत का तप्त-रक्त खौलने लग गया। वह स्वतः कहने लगा-'जहाँ साठ-साठ हजार विद्यार्थियों को जीवन के सर्वांगीण विकास के पाठ सिखाये जाते हैं, उन तपोवनों को ये भोगवादी राक्षस अपवित्र और भ्रष्ट करें? क्या ये आश्रम किसी विधवा ब्राह्मणी के खेत हैं?'

मरुत ने अपना घोड़ा कसा और सीधे नाग-राज्य के दरबार में जा धमका। उस समय दरबार में राजा, मंत्रि-गण, जन-नेता, न्यायाधीश आदि उपस्थित थे। मरुत ने सबके सामने नागराजा को ललकारा!

"तुम्हारे राज्य के युवान, मेरे राज्य के आश्रमों में जा कर आसुरी विचारों का प्रसार कर उन्हें अपवित्र करते हैं। तुम उन्हें रोको और स्वयं भी पशु जीवन त्याग कर मानवीय और सांस्कृतिक जीवन जिओ।"

नागराज ने मरुत को उत्तर देते हुये कहा-"तुम्हारी संस्कृति निर्बल और हमारी श्रेष्ठ है, इसीलिये आश्रमवासी लोग हमारी संस्कृति को अपना रहे हैं। भोगवादी जीवन हमारा सर्वस्व है, तुम्हें यदि अच्छा न लगता हो तो अपने लोगों को रोको। तुम हमको रोकने और उपदेश देने वाले कौन होते हो?"

मरुत ने अत्यन्त धैर्य के साथ नागराज को समझाया—" हमारी संस्कृति भगवान की संस्कृति है—मानवीय संस्कृति है और वह पशुओं तक को भी मान्य है। तुम तो मानव हो, तुम्हें वह मानवीय संस्कृति मान्य करनी ही चाहिये। यदि तुम इस दैवी संस्कृति के बजाय भोगवादी—आसुरी संस्कृति को ही पकड़े रहोगे तो तुम्हारा जीवन दुर्गन्धित होगा और उसकी दुर्गन्ध हमारे राज्य में भी फैलेगी। इसलिये पशु-जीवन छोड़कर मानवी-जीवन जीओ, ईश्वर के विचार अपनाओ और सुख-शांति से अपने राज्य में रहो।"

अधिकार और धन-सम्पत्ति के नशे में उन्मत्त हुये व्यक्ति कभी भी दूसरे की सद्सलाह को नहीं मानते। 'मत्तः प्रमत्तः उन्मत्तः।' नागराज ने मरुत की उत्तम सम्मति पर ध्यान न देकर, अत्यन्त अविवेक पूर्ण उत्तर दिया। उसने कहा—" हमको जो उचित लगेगा, हम वैसा ही जीवन जियेंगे, इसमें तुमको दखल देने की आवश्यकता नहीं है।"

मरुत ने कुपित होकर युद्ध का आह्वान किया। मरुत और नाग लोगों में घनघोर युद्ध हुआ। मरुत ने संवर्त अस्त्र को छोड़कर नाग प्रजा में हा.. हाकार मचा दिया। नाग-राज्य अग्नि की ज्वाला में जलने लगा। कोई उपाय न देखकर राज्य-मंत्रियों ने मरुत से सन्धि करने का निर्णय किया। किंतु इस प्रलयाग्नि को पार कर उस वीर-वर के पास कैसे और कौन पहुँचे? ये भोगवादी-निस्तेज लोग सूर्य के समान उस तेजस्वी के सामने देख भी कैसे सकते थे? उसे शान्त कौन करे? यह प्रश्न था।

मरुत के अस्त्रों की कालाग्नि से नाग-प्रजा वंश-नाश के कगार पर जा खड़ी हुई। अन्त में वृद्ध मंत्रियों ने नागराज को सलाह दी कि तुम्हारे पिता ने मरुत की माता वैशाली की अपनी पुत्री के समान रक्षा की थी, उसने वचन दिया था कि जब नाग लोगों पर आपत्ति आयेगी तो वह उसकी सहायता करेगी।

नाग-मंत्री वैशाली के पास आये और उन्होंने नाग वंश को विनाश से बचाने के लिये उसको उसके वचन की याद दिलाई और मरुत को वापस बुलाने की प्रार्थना की।

वैशाली ने अवीक्षित से कहा कि वह मरुत को वापस बुलावे। परन्तु उसने कहा—" मैं सामान्य प्रजा-जन हूँ, मरुत राजा है, मैं उसको किस प्रकार से रोकूँ और बुला सकता हूँ? मैं इस विषय में कुछ नहीं कर सकता।"

वैशाली ने कहा—" लेकिन मैंने नाग-राज को अभय-वचन दिया है, उसका क्या होगा? यदि मैं नाग-पुत्रों की रक्षा कर अपने वचन का पालन नहीं करूँगी, तो कृतघ्नी कहलाऊँगी।"

अवीक्षित मरुत के पास आया और उसको समझाया–"तू यह क्या कर रहा है? तुझे तनिक भी दया–माया नहीं? सारा राज्य भस्म हो गया है? तू इतना भी विचार नहीं करता?"

मरुत ने नम्रतापूर्वक कहा–"पिताजी! सज्जनों का रक्षण करना तथा दुर्जनों को समझाकर योग्य रास्ते पर लाना और न मानें तो उनका विनाश करने का नाम ही दया है। हजारो वर्षों से आ रही सांस्कृतिक परम्परा को सुनने और समझने के लिये वे लोग तैयार नहीं हैं, इसलिये संस्कृति के मार्ग के कांटे को निकालने के लिये ही मैं उनका संहार कर रहा हूँ।"

"परन्तु बेटा! सारी प्रजा और सम्पूर्ण जाति ही तो दुर्जन नहीं है। निर्दोष प्रजा का संहार क्यों कर रहे हो?"

"पिताजी! यह सम्पूर्ण जाति ही भोग–विलास और भोगवादी कुसंस्कारों में पली हुई है। इसलिये समस्त जाति ही संहार योग्य है। उसको निर्वीय और निर्वंश करना ही चाहिये।"

"परन्तु तुम्हारी माता ने नाग–पुत्रों को अभय वचन दिया है, उसका क्या होगा?"

मरुत ने उत्तेजित होकर कहा–"पिताजी! यदि वैदिक विचारों और वैदिक संस्कृति के विरुद्ध साक्षात् ब्रह्मदेव भी खड़े होंगे, तो मैं उसके साथ भी युद्ध करूँगा।"

मरुत ने साक्षात् काल के समान कुपित होकर कालास्त्र छोड़ा। कालास्त्र की प्रलयाग्नि को देखकर ऋषि–मुनि भी घबड़ा गये और वे वीरा–रानी के पास जाकर प्रार्थना करने लगे कि मरुत को समझाइये–उसे युद्ध से निवृत्त कीजिये, अन्यथा कालास्त्र समस्त पृथ्वी को ही भस्मसात् कर देगा।

वीरा–रानी ने ऋषियों को आश्वासन दिया। यह किसी बुढ़िया के मुँह से निकला हुआ आश्वासन नहीं था। यह तपस्वी–तेजस्वी वीरा–रानी का वचन था।

वीरा–रानी ने मरुत को फटकारा कि उसे ऐसे भयानक अस्त्र का प्रयोग नहीं करना चाहिये था। मरुत ने कहा–"दादी जी मैंने इन हरामखोरों को समझाने का बहुत प्रयत्न किया, परन्तु वे अपनी भूल सुधारने के लिये तैयार न थे। वे सत्ता–संपत्ति के नशे में उन्मत्त बने थे। ऐसे लोग बिना अंकुश के नहीं सुधरते। इसलिये मैंने भयानक अस्त्र का प्रयोग किया है।

नागराजा, मंत्री और जन–प्रमुखों ने अपनी भूल स्वीकार की। अपने राज्य की प्रजा को सुधारने और उन्हें ईश्वराभिमुख करने का वचन दिया, इसलिये मरुत ने अपने कालास्त्र को खींच लिया।

मरुत ने उन्हें समझाया और आदेश दिया कि केवल भौतिक-जीवन, यह पशु-जीवन है। उससे आत्म-कल्याण नहीं है। हमारे अन्दर हमारी नहीं, अपितु प्रभु की दी हुई-प्रभु की शक्ति है। उसका प्रभु कार्य के लिये सांस्कृतिक कार्य के लिये उपयोग करेंगे तो मानव मांगल्य की ओर अग्रसर होगा। मानव प्रभु-प्रदत्त शक्ति को भौतिक-सुख-साधनों की खोज मे खर्च करके प्रभु-जीवन की ओर अग्रसर हो रहा है। उसने नाग-प्रजा को आदेश किया कि वह नैतिक और सस्कारी जीवन व्यतीत कर अध्यात्म की ओर-प्रभु की ओर उन्मुख हो।

तत्कालीन समाज को अपने कर्तृत्व से सांस्कृतिक, दिव्य, तेजस्वी और संस्कारी बनाकर तथा मानव-जाति को अपना अमर-सन्देश देकर युवान राजा मरुत सदा के लिये अमर हो गया। वह अपने दिव्य कर्तृत्व से चिरकाल के लिये अपना जीवन स्वर्णाक्षरों में अंकित कर गया है।

करंधम और वीरा-रानी धन्य हैं, जिनको अवीक्षित जैसी तेजस्वी संतान हुई और धन्य है वैशाली जिसकी कोख से मरुत जैसा अद्वितीय कर्तृत्ववान पुत्र पैदा हुआ है। ऐसे मरुत को हमारा कोटिशःप्रणाम!

तीर्थ वल्लुवर

जिस प्रकार मानव-जीवन में उतार-चढ़ाव और सुख-दुःख आते हैं, उसी प्रकार समाज में भी उतार-चढ़ाव आते रहते हैं। अनेक बार समाज भोगवादी विचारधारा का हो जाता है। फलतः प्रत्येक व्यक्ति अपना ही स्वार्थ देखता है। उसकी दुनिया 'मैं' तक ही सीमित होती है। कुटुम्ब को क्या चाहिये? समाज को क्या चाहिये? इसका कोई विचार ही नहीं करता। जीवन में कोई ध्येय नहीं होता। क्या करना है? इसका पता नहीं। सर्वत्र अंधकार छाया होता है। 'खाओ, पीवो और मजा करो' इससे आगे किसी की दृष्टि ही नहीं जाती। 'ऋणंकृत्वा घृतं पिवेत्' सब इस चार्वाक मत से ही चिपके होते हैं। ऐसे समाज में अर्थ-प्राधान्यता बढ़ती जाती है और धीरे-धीरे ध्येयनिष्ट जीवन समाप्त हो जाता है।

भारतीय संस्कृति में भी ऐसा ही एक काल आया था, जब सामाजिक और राजनैतिक नेता और धुरंधर पंडित सभी भोगवादी बन गये थे। खाने के लिये रोटी और रहने के लिये घर मिल गया, तब और क्या चाहिये? खाने के लिये रोटी और रहने के लिये जगह तो कुत्ते को भी मिल जाती है। क्या यही मानव-जीवन की कृतकृत्यता है? मानव-जन्म की कृतकृत्यता भक्तिमय जीवन में तथा भगवान का बेटा बनकर उसकी गोद में बैठने में है।

जब समाज के प्रथमवर्ग के लोग (First Class-अधिकारी वर्ग) भी भोग-जीवन को ही सर्वस्व समझते हैं, भाव-जीवन को कोई महत्त्व नहीं देते, तो समझना चाहिये कि वह काल बिगड़ गया है। भले ही मंदिरों और दर्शनार्थियों कि

संख्या हजारों लाखों की हो। परन्तु जिस काल में ध्येय-जीवन और भाव-जीवन नहीं होता, वह विकृत काल ही समझना चाहिये।

चोल देश के एक गाँव में एक नगर-सेठ था। उसके पास विपुल सम्पत्ति थी, किन्तु उसका सांस्कृतिक जीवन न होकर, भोगवादी जीवन था। वह अपने बालक को जन्म से ही भोग-जीवन का शिक्षण देता था। माँ बालक को पूछती-"तेरे लिये काली बहू लानी है या गोरी?" तो बालक उत्तर देता-"माँ! मेरे लिये तो तेरे जैसी गोरी बहू लानी है।" बालक के ऐसे उत्तर से सब प्रसन्न होकर हँसते और गौरव अनुभव करते थे। "बेटा! तू बड़ा होकर कितने पैसे कमा लायेगा?" तो बालक दोनों हाथों को उठाकर कहता था-"इतना," बचपन से ही बालक की नस-नस में भोग और अर्थ का विचार भरने से बड़ा होने पर स्वाभाविक तौर पर उसका दृष्टिकोण भोग-प्रधान होने ही वाला है। कहावत है -'बाप का बेटा सिपाही का घोड़ा, बहुत नहीं तो थोड़ा थोड़ा'। नगर सेठ का लड़का भी दिन प्रति दिन बहुत उद्धत होने लगा, ठौर-ठौर उसकी उद्धता के दर्शन होने लगे।

यौवनं धनसंपत्तिः प्रभुत्वंमविवेकिता।
एकैकमप्यनर्थाय किमु यत्र चतुष्टयम्॥

यौवन, वैभव, अधिकार और, अविवेक प्रत्येक अनर्थ है। फिर जिसमें ये चारों हों, उसके अनर्थ का तो पूछना ही क्या है? नगर सेठ के लड़के के पास ये चारों चीजें तो थीं ही, परन्तु उत्तराधिकार में मिली उद्धता और असंस्कारिता भी थी। इसलिये उसके उद्दाम और उच्छृंखल जीवन की कोई मर्यादा ही नहीं रही। वह दो-चार खुशामदी-लोफर मित्रों को साथ लेकर हाथ में बेत लिये दिन भर गाँव में भटकता रहता और हंटर के बल पर जो चाहता, करता रहता था। किसी की साग-भाजी गिरा देता, तो किसी के फल लूट लेता था। लोग मूक बनकर उसकी मर्कट कुचेष्टाओं को सहन करते रहते थे, क्योंकि नगर-सेठ के लड़के को कोई भी क्या कहे?

माँ-बाप को भी दुःख होता था कि हमारे वंश में ऐसा कुपुत्र कहाँ से पैदा हो गया है? परन्तु उनको कभी ऐसा नहीं लगा कि उसके लिये वे स्वयं जिम्मेदार हैं, उन्होंने कभी उस बालक को अच्छे संस्कार नहीं दिये। विपरीत इसके स्वयं ही उसमें कुसंस्कारों के बीज बोये हैं। वे कहते थे-"हम क्या करें? समस्त समाज ही बिगड़ा हुआ है। हम तो उसे अच्छे संस्कार देते हैं, पर लड़का दिन भर तो बिगड़े हुये समाज में रहता है, इसलिये घर के संस्कार कहाँ तक टिकें?" ऐसी गलत मान्यता से वे अपना समाधान करते थे।

उस काल में सम्पत्तिवान लोग घर पर ही वैतनिक शिक्षक रखकर उसको कहते थे कि हमारे बालक को गणित, भूगोल, इतिहास आदि पढ़ाओ। परन्तु कोई ऐसा नहीं कहता था कि उसको यह भी पढ़ाओ कि मानव-जीवन कैसे जीना! माता-पिता, कुटुम्बीजनों तथा समाज के साथ कैसे रहना, कैसा व्यवहार करना और अपना आत्म-विकास कैसे करना? इस प्रकार का सर्वांगीण जीवन-विकास का शिक्षण नहीं दिया जाता था। बालक के एकांगी विकास की ओर ही सबका ध्यान केन्द्रित रहता था। आज भी स्कूल-कालेजों और महाविद्यालयों में एकांगी शिक्षण ही दिया जाता है। माता-पिता, गुरु जनों, बड़ों औ समाज के प्रति कैसा व्यवहार करना चाहिये? ऐसा शिक्षण देने की किसी को आवश्यकता ही प्रतीत नहीं होती। जिस काल में लोगों की ऐसी समझ होती है, उसे ही कलिकाल कहते हैं।

वैभववान लोग पैसे से शिक्षक को खरीदते और उसके द्वारा अपने बच्चों को शिक्षा दिलाते हैं। पैसे से खरीदा हुआ यह शिक्षक (ट्यूटर) समय और पैसा देखकर पढ़ाता है। नगर सेठ का लड़का ऐसी ही असंस्कारी विद्या पढ़कर खुले सांड की तरह नगर में भटकता रहता था।

> पित्रोर्नैव शृणोति बाधि खिलसेत्यागे व्रजत्यालयं,
> यान्तीभिर्युवतीभिरध्वनि मुहुः कौतूहलं बिभ्रति।
> लब्ध्वा नाघुपदेशभाग् न भवति क्रोधे गतं सद्वपुः,
> साधुं निन्दति दुर्जनं प्रकुरुते मित्रं कुपुत्रो जनः॥

ऐसा यह कुसंस्कारी युवक एक दिन पड़ोस के गाँव में लगने वाले मेले में गया। मेले में दूर-दूर गाँवों के लोग अपना सामान बेचने के लिये आये हुयेथे। मेला ठसाठस भरा था। यह युवक अपने मित्रों के साथ मेले में घूमने लगा। ये लोग किसी की मिठाई खाते, किसी के फल लूटते, किसी के टोपी उछालते और किसी की साग-भाजी गिराकर तूफान मचाते और आनन्दित होते थे।

आगे चलने पर उन्होंने एक जुलाहे को देखा, जिसके चेहरे पर शांति, सात्विकता और प्रसन्नता झलक रही थी। लड़के ने एक साड़ी हाथ में लेकर पूछा-"इसका क्या मूल्य है?" बुनकर ने शांति पूर्वक कहा-"दो रुपये।" लड़के ने साड़ी को बीच से फाड़ते हुये कहा-"और अब?" फिर तुरन्त ही एक टुकड़े के भी दो करते हुये बोला-"और अब इस टुकड़े की कीमत आठ आना हुई न?" ऐसा कहकर वह ठहाका मार कर हँसने लगा। उसकी निर्लज्ज हँसी में उसके मित्रों ने भी साथ दिया।

बुनकर ने इस घटना को हँसी में टालते हुये कहा कि साड़ी का यह टुकड़ा किसी के भी उपयोगी नहीं रह गया है, तब उसकी क्या कीमत है ? उसकी कीमत कैसे ली जा सकती ? बुनकर नगर सेठ के लड़के के इस कुकृत्य पर जरा भी नहीं खीजा। यह देखकर नगर सेठ के लड़के को अपने कृत्य पर पश्चाताप हुआ। उसे लगा कि वह साड़ी फाड़ने पर भी क्रोधित नहीं हुआ उल्टे हँसता ही रहा, इसलिये उसके पैसे दे देने चाहिये। उसने जेब से दो रुपये निकालकर जुलाहे के सामने करते हुये कहा—"यह लो अपनी साड़ी का मूल्य।"

जुलाहे के अस्वीकार करने पर लड़के ने कहा—"मेरे पास बहुत पैसे हैं, तुम अपनी साड़ी का मूल्य ले लो। वह अब किसी के उपयोग में नहीं आ सकती।" बुनकर ने कहा—'मेरी यह साड़ी व्यर्थ नहीं जायेगी। मेरी स्त्री उनको सिलकर पहन लेगी।" बुनकर के उत्तर से प्रभावित होकर लड़के ने कहा—"मैं अब तक मुफ्त खाता था अब से मैं मुफ्त नहीं खाऊँगा, इसलिये अब तुम्हें अपनी साड़ी का मूल्य लेना ही पड़ेगा।"

"भाई! तुम अच्छे घर के लड़के हो, पूर्व-जन्म के योगभ्रष्ट हो, इसीलिये भगवान ने तुमको इतनी सम्पत्ति दी है। तुम्हारा चेहरा तेजस्वी है, तुम बड़े खानदान के लड़के हो, परन्तु तुमको इतना भी मालूम नहीं कि जिस वस्तु को उपभोग में लाया जाता है उसी का मूल्य लिया जाता है। इस टुकड़े का कोई उपयोग नहीं, तब उसका मूल्य मैं कैसे ले सकता हूँ ?" बुनकर की इस बात को सुनकर वह उसका मुँह देखता ही रह गया।

बुनकर ने आगे कहा—"किसान ने इस साड़ी के लिये रुई (कपास) पैदा करने में कितना श्रम किया होगा ? मेरी पत्नी ने रुई से सूत निकालने और उसे [illegible]ने में कितनी मेहनत की होगी ? फिर इस साड़ी के बुनने में मैंने कितना परिश्रम किया होगा ? इस सबका तुम्हें अनुमान ही नहीं हो सकता। तब तुम उस साड़ी का मूल्य देना चाहते हो ? क्या श्रम का मूल्य दिया जा सकता है ?"

"भाई! पैसे तो केवल योगक्षेम चलाने के लिये लिये जाते हैं। वस्तुतः वह मनुष्य के श्रम का मूल्य नहीं होता। प्रत्येक वस्तु पैसे से खरीदी जा सकता है, यह कल्पना ही भ्रांत है। जगत मे बहुत सी वस्तुयें ऐसी हैं, जिनका मूल्यांकन ही नहीं किया जा सकता। मैंने जो दो रुपये कहे थे, वह मेरे योग-क्षेम के लिये थे, न कि साड़ी में लगे श्रम की कीमत दो रुपये थी।"

आज अर्थशास्त्रियों के सामने श्रम और उसका मूल्य (Labour and its valuation) की बहुत बड़ी समस्या है। क्या श्रम का मूल्य हो सकता है ? यदि हो तो कितना ? ऐसे अनेक प्रश्न अर्थशास्त्रियों को उलझन में डाले हुये हैं।

" प्रत्येक वस्तु का मूल्यांकन करना कठिन है। कल यदि कोई कहे कि माँ ने लड़के को नौ मास तक अपने पेट में रखकर पाला-पोषा है, इसलिये उसका मूल्य चुकाना चाहिये। माँ ने नौ मास तक पेट में रखा तो उस कमरे का किराया दे सकेंगे क्या ? क्या उस कोठरी का क्षेत्रफल निकाल कर उसका मार्केट से भाड़ा निश्चित किया जायेगा ? क्या राष्ट्रध्वज और राष्ट्र की गरिमा का मूल्य हो सकता है ?" जुलाहे ने प्रश्न किया। जिस प्रकार माँ का, राष्ट्रध्वज का, राष्ट्रीय गरिमा का मूल्य नहीं हो सकता, उसी प्रकार श्रम का मूल्य भी नहीं हो सकता, क्योंकि मानव के साथ भगवान भी उसके श्रम में सम्मिलित है। बिना भगवान के सहयोग के मानव हिल भी नहीं सकता। तब ऐसे श्रम का जिस में भगवान शामिल है, मूल्य कैसा ?

नगरसेठ के लड़के को लगा—सचमुच यह व्यक्ति कोई महामानव है। उसकी प्रत्येक बात में जीवन का सत्य भरा हुआ है। उसने कहा—"आप सत्य कहते हैं, आपकी बातों को फिर-फिर से सुनने की इच्छा होती है। आप महान हैं।"

बुनकर ने कहा—" मैं जो कुछ भी कह रहा हूँ, वह मेरी अपनी या अपने घर की बात नहीं है। मैं वही बोल रहा हूँ जो हमारे ऋषि-मुनियों ने कहा है। यह हमारे ऋषियों द्वारा खड़ी की गई सांस्कृतिक परम्परा है। उसमें मेरा कुछ भी नहीं है। इसलिये उन पर मेरे नाम की मुहर लगाना उचित नहीं है।

वह महान कलाकार जो सूर्योदय और सूर्यास्त के समय गगन-मण्डल में अनेक प्रकार के अलौकिक रंग पूरता है, क्या उन पर अपना नाम अंकित करता है ? इस सृष्टि की प्रत्येक वस्तु में भगवान की अद्भुत कला का दर्शन होता है, उनका वर्णन कैसे कर सकता हूँ ? परन्तु किसी पर भी भगवान का नाम अंकित नहीं है। फिर हम क्षुद्र जीव अपना नाम लगाने वाले कौन होते हैं ? हमारी प्रत्येक कृति के पीछे भगवान की ही शक्ती है। हमारे श्रम के पीछे भी उसकी ही शक्ति है, इसलिये श्रम अमूल्य है।"

दुःख की बात है कि आज मानव नाम के पीछे ही भाग रहा है, बिना नाम के वह कुछ करना ही नहीं चाहता। नाम के भूखों ने मंदिर के हर पत्थर पर नाम अंकित कराके मंदिर के महत्त्व को ही समाप्त कर दिया है।

नगरसेठ का लड़का इस बुनकर की बातों से अत्यन्त प्रभावित हुआ और उसे नमस्कार कर अपने घर चला गया। मार्ग में चिंतन करते हुये उसे अपनी क्षुद्रता और जगदीश की महानता का भान हुआ। वह मन ही मन जुलाहे को वन्दन करता गया। लड़के के जीवन में क्रांतिकारी परिवर्तन हो गया।

दूसरे दिन प्रातःकाल लड़के ने उठकर भगवान को नमस्कार किया और फिर अपने माता-पिता के चरण-स्पर्श किये। यह देखकर नगरसेठ को महान आश्चर्य

हुआ। साथ ही पुत्र में हुये इस महान परिवर्तन से उसके हृदय में आनन्द की लहरें उमड़ने लगी। उसने स्वप्न में भी ऐसी कल्पना नहीं की थी। जो लड़का सदा पिता को मूर्ख समझता आया था, आज वही उसे प्रणाम करता था।

आज भी हमारे समाज में यही देखने को मिलता है। कोई बेटा अपने माता-पिता को नमस्कार नहीं करता। एक बड़े राजनैतिक नेता (मुख्य मंत्री) के चार पुत्र थे। चारों उच्च शिक्षा प्राप्त थे। प्रत्येक का अपना अलग-अलग मत था, परन्तु एक बात में चारों एक मत थे कि 'हमारे पिता जी की बुद्धि कम है।'

नगरसेठ का पुत्र भी ऐसी ही राय रखता था। इसलिये पुत्र के आजके व्यवहार से उसे आश्चर्य हुआ। उसने बेटे को अपने पास बुलाकर उसकी पीठ पर हाथ फेरा और इस परिवर्तन के बारे में पूछताछ की। बेटे ने आदि से अन्त तक सम्पूर्ण वृत्तान्त कह डाला।

नगरसेठ को लगा जिस व्यक्ति के क्षणिक सहवास से उसके लड़के का सम्पूर्ण जीवन ही बदल गया है, वह कोई महान विभूति होनी चाहिये। अवश्य उस महा-पुरुष को मिलना चाहिये, उसके दर्शन करने चाहिये। दूसरे दिन पिता-पुत्र दोनों जुलाहे के घर गये। उस जुलाहे का नाम था-वल्लुवर।

पिता-पुत्र दोनों वल्लुवर के द्वार पर खड़े हो गये। वह उस समय कपड़ा बुनने में तल्लीन था। उसकी पत्नी भी सिलाई करने में मग्न थी। नगरसेठ का एक जुलाहे की झोपड़ी में जाना एक अनोखी घटना की। फिर भी वल्लुवर और उसकी पत्नी अपने-अपने काम में इतने तल्लीन थे कि उन्हें सेठ के आने का भान ही न था। वल्लुभर की एकाग्रता, मुख-मण्डल की सात्विकता और आँखों की तेजस्विता में उसे ऋषि के दर्शन हुये। वह अत्यन्त प्रसन्न हो गया। इतने में सूत का डोरा टूटा और वल्लुवर ने ऊपर नजर उठाई तो सामने नगरसेठ और उसके पुत्र को देखकर आदर-पूर्वक बैठने को आसन प्रदान किया।

नगरसेठ ने कहा-"भाई। आपने मेरे पुत्र को सुधार दिया है, उसके जीवन को बदल दिया है, मैं आपका ऋणी हूँ। मेरे पास बहुत धन है, मेरे लड़के को दूसरी शिक्षा की आवश्यकता नहीं है, इसलिये मेरी आपसे नम्र प्रार्थना है कि आप उसे अपने पास रखकर जीवन का शिक्षण देने की कृपा करें।"

हमारा प्राचीन-शिक्षण इसी पद्धति का था। पिता चाहे अमीर हो या गरीब, राजा हो या रंक, ज्ञानी हो अथवा अज्ञानी, उसे अपने पुत्र को गुरु के आश्रम में भेजना पड़ता था। गुरु के प्रति विद्यार्थी का एकनिष्ठ प्रेम और आदर होता था। गुरु भी उतने ही प्रेम से उन्हें तेजस्वी जीवन का शिक्षण देकर उनका चरित्र और

जीवन-गठन करते थे। विश्वामित्र के आश्रम में दो ही विद्यार्थी थे—राम और लक्ष्मण।

> रामेति मधुरां वाणीं विश्वामित्रोऽभ्यभाषत।
> उत्तिष्ठ नरशार्दूल ! पूर्वा सन्ध्या प्रवर्तते॥

प्रभात के रम्य प्रहर में गुरु के ऐसे प्रेममय सम्बोधन से शिष्य के हृदय में कितना उत्साह और गुरु के प्रति आत्मीयता का निर्माण होता होगा!

सामान्यतः घूमते-फिरते भी गुरु जीवन का सर्वांगीण शिक्षण देते थे। किसी वृक्ष की पत्तियों पर हाथ लगाते हुये पूछते—"यह कौन सा वृक्ष है?" और फिर सम्पूर्ण वनस्पतिशास्त्र (Botany) की शिक्षा देते तथा प्रत्येक वनस्पति के गुण-दोष बता कर आयुर्वेद का ज्ञान कराते थे। गगन-मण्डल के किसी नक्षत्र की ओर अंगुलिनिर्देश करके समस्त खगोलशास्त्र और ज्योतिष का ज्ञान करते थे।

भ्रमण करते हुये स्थान-स्थान पर हड्डियों के ढेर दिखा कर विश्वामित्र राम को पूछते थे—"मालूम है यह किसकी हड्डियों के ढेर हैं?" राम के यह कहने पर कि मनुष्य की हड्डियाँ हैं, विश्वामित्र मानव-इतिहास का शिक्षण प्रारम्भ कर देते और बताते कि जब क्षत्रिय निर्बल, निस्तेज और भोगवादी बन जाते हैं, तब समाज में असुरों की शक्ति बढ़ जाती है और राक्षस लोग सामान्य प्रजा का उत्पीड़न करते हैं।

ज्ञान कब दिया गया? इसका ज्ञान देने वाले को और कब लिया, इसका लेने वाले को पता ही नहीं लगता था। किन्तु धीरे-धीरे गुरु समस्त ज्ञान उँडेल देते और शिष्य उसे संजो लेते थे।

दूसरे दिन से नगर सेठ का लड़का नित्य वल्लुवर के पास आने लगा। सेठ भी दो पहर के पश्चात् उसके पास आता और दो-तीन घंटे सत्संग करता था। उसने भी वल्लुवर को अपना गुरू मान्य किया।

एक दिन सेठ ने बुनकर को कहा—"मेरे पास काफी सम्पत्ति है। कुछ आप रख लें। कपड़ा बुनने का यह कष्टमय कार्य क्यों करते हो?"

वल्लुवर ने कहा—"सेठ! तुम पूर्वजन्म के भगवान के लाड़ले बेटे हो, इसीलिये भगवान ने तुमको इतना अधिक वैभव दिया है। इस वैभव को प्रभु-कार्य के लिये तथा लोगों वृत्ति को बदलकर उन्हें ईश्वरोन्मुख करने में व्यय करो। मुझे पैसे की आवश्यकता नहीं है।

* * * *

कुछ ही समय पश्चात् चोल देश में भयंकर दुष्काळ पड़ गया। सूर्य भगवान के प्रखर ताप से धरती जलने लगी, पेड़ पौधे और वनस्पतियाँ सूख गईं, कहीं हरियाली

नहीं दिखाई देती थी। बादलों में पानी नहीं रह गया था। पानी का बून्द नहीं! लोग अन्न और जल के बिना तड़प-तड़प कर मरने लगे।

सेठ से लोगों का दुःख देखा नहीं जाता था, इसलिये वह प्रकृति की कुटिलता और विधाता की निर्दयता की निन्दा करता था।

वल्लुवर ने कहा-"सेठजी! दुनिया की दूसरी बहुतेरी बातें सरल होती होंगी, परन्तु किसीको कुछ देना बहुत कठिन है। सब के मन में एक ही बात होती है कि 'यदि दूसरों को दे दूँगा, तो मेरा क्या होगा?' यदि तुम जैसे धनिकों ने अपने अन्नभण्डार खोले होते तो आज अन्न के बिना लोगों की ऐसी स्थिति न होती। तुमको वैभव देने में क्या भगवान ने अपना हाथ सिकोड़ा है? परन्तु तुमने अपने कोठारों में अन्न जमा (Hording) कर रखा है और लोग भूखों मर रहे हैं।" आज भी हमारे देश में यही स्थिति है।

सेठ वल्लुवर का संकेत समझ गया और उसने समस्त अन्न भण्डार लोगों के लिये खोल दिये। अब वल्लुवर की इच्छा सेठ के लिये गुरु आज्ञा जैसी थी।

एक दिन सेठ ने पूछा-"इस छोटी सी झोपड़ी में आप इतने सुखी हैं, इसका कारण क्या है?" उसने कहा-"मैं गृहस्थी हूँ और गृहस्थ-धर्म का पूरा-पूरा पालन करता हूँ। मेरा और मेरी पत्नी वासुकी का एकनिष्ठ प्रेम है। मेरी पत्नी का मेरे प्रति कितना प्रेम है, इसका एक दृष्टान्त सुनाता हूँ। एक दिन मैं कपड़ा बुन रहा था और मैंने कहा-"डोरी टूट गई।" यह सुनते ही वासुकी दीपक जला कर ले आई। मैंने पूछा-"तू दीपक क्यों लाई?" तो उसने कहा-"मुझे लगा कि कहीं कुछ अस्त तो नहीं हो रहा है अर्थात् जीवन-डोरी तो नहीं टूट गई। यदि ऐसा है तो जीवन में अंधकार न रह कर प्रकाश फैला रहे!" उसके इस अगाध-प्रेम के लिये मैंने उसका मनोमन वन्दन किया।

"सेठजी! संसार का सुख श्रीमंताई या कंगाली के ऊपर, अथवा महल या झोपड़ी के ऊपर आधारित नहीं, बल्कि स्त्री-पुरुष के पारस्परिक दिव्य प्रेम के ऊपर निर्भर है। जहाँ पति-पत्नी मे एक दूसरे के लिये एक निष्ट प्रेम है, वहीं स्वर्गीय आनन्द है, सुख और शांति है।"

वल्लुवर के दिव्य विचारों को सुनकर नगर सेठ ने निवेदन किया-"आप ज्ञान-राशि हैं, आपके पास जीवन का अमूल्य भण्डार है, आप कुछ लिखते क्यों नहीं हैं? यदि आप अपने ज्ञान को पुस्तकाकार देते तो वह हम जैसे अनेक लोगों के उपयोग में आता, उन्हें जीवन का मार्ग-दर्शन मिलता और भव सागर में डूबते मानव को सहारा मिलता।"

वल्लुवर ने कहा–" मुझे लिखने की आदत नहीं है। मेरी पगली प्रभु–भक्ति है। वास्तव में भक्ति मेरा विषय नहीं है। मैं लिखूँ भी तो किस विषय पर ?"

अन्त में नगर सेठ के प्रेमपूर्ण आग्रह पर वल्लुवर लिखने लगे। उन्होंने धर्म, अर्थ, मोक्ष, सदाचार, क्षमा, शील, चारित्र्य आदि विषयों पर एक सौ तेतीस अध्याय लिखे, जिनमें तेरह सौ तीस श्लोक हैं। इस सम्पूर्ण साहित्य को पढ़कर नगर सेठ स्तब्ध रह गया। वह अब तक वल्लुवर को मात्र एक सरल, निःस्पृही भगवद्भक्त समझता था। उसे इस बात की कल्पना भी न थी कि एक कपड़ा बुनने वाला सामान्य जुलाहा जीवन के नैतिक सिद्धान्तों पर इतना स्पष्ट और विविधलक्षी साहित्य लिख सकेगा।

सेठ ने कहा–" वल्लुवर! आप सचमुच महान हैं। आप निःस्पृही हैं और आपको कीर्ति की अपेक्षा नहीं है, परंतु यह इतना सुन्दर साहित्य लोकोपयोगी और लोकभोग्य होना चाहिये। इसके लिये उसे राज्य–मान्य तो होना ही चाहिये। अतः उसे राजदरबार में राज–पण्डितों के सम्मुख उपस्थित करना चाहिये!"

उस काल में समाज में पण्डितों का और विशेषकर राजदरबारी पण्डितों का विशेष प्रभाव था। राजा भी पंडितों को सत्ता प्रदान करता था। दरबारी पण्डित जिस ग्रंथ को मान्यता प्रदान करते थे, राजा भी उसे मान्यता प्रदान कर देता था। इसके पश्चात् ही वह ग्रंथ प्रजा के सामने आ पाता था।

नगर सेठ के विशेष आग्रह पर वल्लुवर अपने ग्रंथ को लेकर राजदरबार में गये। राजा को लगा की यह गरीब जुलाहा पण्डित कैसे हो सकता है ? वह पण्डित जैसा न लगता था। इसलिये राजदरबारी पंडित वल्लुवर के पांडित्य की चर्चा करने लगे।

वल्लुवर ने नम्रतापूर्वक अपना ग्रंथ राज–पंडितो के सामने रख दिया। एक पण्डित ने पूछा–" आप पंडित है ?"

" मैं कैसे कहूँ कि मैं पंडित हूँ ?" " तो क्या आप भक्त हैं ?" " मुझे मालूम नहीं है।" " तो क्या आपने यह ग्रंथ राजनीति पर लिखा है ?"

" नहीं" वल्लुवर ने कहा।

" तो फिर यह ग्रंथ किस वि[illegible] ?" यह विचार[illegible]
किंकर्तव्य विमूढ़ से हो गये।

वल्लुवर ने कहा–" मैं इस मान[illegible] इस जगत में
नहीं जो कुछ देखा, जो [illegible] किया [illegible] में आने व

कुछ भी जीवनोपयोगी नवनीत मिला है, वह मैंने इस ग्रंथ में लिख रखा है। यह जीवन गढ़ने वाला ग्रंथ है।"

पंडितों ने ग्रंथ खोलकर पढ़ना शुरू किया ! प्रथम अध्याय सदाचार पर, दूसरा क्षमा और तीसरा प्रेम पर लिखा था। इसी प्रकार उत्तरोत्तर सुन्दर विषयों का समावेश किया गया था। पंडित लोग उसे पढ़कर आश्चर्य में पड़ गये। ग्रंथ के बारे में निर्णय देने के लिये किस भाषा का प्रयोग करें ? उसका वर्णन करने के लिये उनके पास न भाषा थी न शब्द ! वे ग्रंथ को सर पर ले कर नाचने लगे।

इस ग्रंथ का नाम था 'कुरल'। उसके आगे 'तीरू' उपसर्ग लगाया गया। तीरू अर्थात् पवित्र। इस प्रकार उस ग्रंथ नाम 'तीरूकुरल' रखा गया। इस पवित्र ग्रंथ के लेखक **वल्लुवर** को लोग आदर और प्रेम से **तीरू वल्लुवर** कहने लगे।

आज के बड़े-बड़े पण्डित राजनैतिक और सामाजिक दर्शन की जो बातें करते हैं, उसका मुख्य आधार यही **तीरूकुरल** ग्रंथ है। पिछले पचास-साठ वर्षों की अवधि में सभी पण्डितों ने तीरू वल्लुवर के विचारों को अपनाया है।

महाराष्ट्र में नामदेव का और गुजरात में नरसी मेहता का जो स्थान है, वही स्थान दक्षिण में **तीरू वल्लुवर** का है।

ऐसे सरल मूक भक्त वल्लुवर को अनन्त नमस्कार !

नचिकेता

जगत में कभी-कभी ऐसा काल आता है, जब संस्कृति के ऊपर आक्रमण होत हैं। संस्कृति भले ही मिटे नहीं, परन्तु ऐसा वातावरण तैयार हो जाता है, जिससे लोगों को और विशेष कर युवक-वर्ग को संस्कृति का नाम लेने में शर्म आती है और वे धर्म के नाम से चिढ़ते हैं। मैं कौन हूँ ? कहाँ से आया हूँ ? मेरा और भगवान का क्या सम्बन्ध है ? मेरा और सृष्टि का क्या सम्बन्ध है ? इन बातों को जानने की किसी को आवश्यकता ही नहीं रहती। केवल 'खाओ, पिओ और आनन्द करो' (Eat, drink and be merry) ही मानव जीवन का लक्ष्य बन जाता है।

ऐसे काल में शिक्षण भी इस प्रकार का दिया जाता है, जिससे समाज धर्म-विमुख हो। लोग जीवन-मूल्यों को नहीं समझते और यदि समझते भी हों तो उन्हें आचरण मे उतारने की हिम्मत खो बैठते हैं। समाज से ब्राह्मण का महत्त्व समाप्त हो जाता है और कर्म-शून्य समाज मिथ्या आडम्बर मे लग जाता है।

ऐसे ही एक काल मे कुछ विद्यार्थी एक तपोवन में विद्याध्ययन करते थे। उनमें से वाजश्रवस नाम के एक तेजस्वी विद्यार्थी का हृदय समाज की इस पतितावस्था को देखकर दग्ध होता था। उसने अपने मन में निश्चय किया कि मैं समाज को पतन से बचाने के लिये कर्तृत्ववान तेजस्वी ब्राह्मणत्व खड़ा करूँगा, क्योंकि जब तक ऐसा कर्मिष्ठ और तेजस्वी ब्राह्मण-समाज खड़ा नहीं होगा, तब तक समाज का उत्थान सम्भव नहीं है। सांस्कृतिक मूल्यों को खड़ा करने का एक मात्र

उपाय यही है। उसने संकल्प किया कि वह तेजस्वी ब्राह्मण का दिव्य जीवन जीकर घर-घर में नैतिक और सांस्कृतिक मूल्यों को फिर से स्थापित करेगा।

हम भगवान सूर्यनारायण को प्रेम से मित्र कहते हैं-'ॐ मित्राय नमः' क्योंकि वह प्रातः द्वार खोलते ही हमारी सेवा के लिये घर मे प्रवेश करके हमको आनन्द, उत्साह और चैतन्य से भर देता है। वाजश्रवस ने भी घर-घर में प्रवेश कर अपनी प्रेम-पूर्ण तेजस्वी वाणी से लोगों के जीवन को प्रज्वलित और प्रकाशित करना प्रारम्भ कर दिया।

दिव्य समाज की स्थापना करने के लिये ब्राह्मण को अपने रक्त की एक-एक बूंद को खर्च कर संस्कृति के लिये घिसना पड़ता है। वाजश्रवस भी सतत जाग्रत रह कर अपने जीवन के एक एक क्षण को संस्कृति के प्रचार के लिये खर्च करता था। उसकी दृष्टि के समक्ष एक ही ध्येय था-ब्राह्मण का पुनरुत्थान और संस्कृति का-समाज का पुनरुद्धार!

वाजश्रवस के पैर इसी के लिये चलते थे। उसने अयाचक-वृत्ति से 'भैक्षं अन्न' का व्रत लिया। पेड़ से भी नहीं माँगना। गिराया हुआ फल भी नहीं, अपितु गिरा हुआ फल लेना। भगवान का भरोसा करने पर भगवान दाल-रोटी की व्यवस्था करेगा ही, ऐसी दुर्दम्य निष्ठा से उसने अनेक मित्र खड़े किये। जब लोग ऐसी निष्ठा से खड़े होते हैं, तभी सांस्कृतिक मूल्य फिर से स्थापित हो सकते हैं।

जो लोग अपनी बुद्धि, कला, प्रतिभा और शक्ति को समाज के लिये खर्च करते हैं, समाज को उनकी दाल-रोटी कृतज्ञता से उनके घर पहुँचानी चाहिये। जिस काल में 'ऐसी सांस्कृतिक विचारधारा स्थिर होगी, उस काल में राम-राज्य फिर से खड़ा हो जायेगा।

जीविका प्राप्त करने के कुछ प्रकार है—

(१) **भिक्षा:**-भिक्षा का अर्थ भीख मांगना नहीं है। भिक्षा यानी 'भैक्षं अन्नम्' गिरा हुआ फल लेना। अयाचक वृत्ति से समाज के लिये घिस जाने पर समाज कृतज्ञतापूर्वक जो व्यवस्था करे, उसमें संतोष रखकर जीवन-निर्वाह करना। आज भिक्षा का दिव्य स्वरूप समाप्त हो गया है और लोग भीख के ऊपर आ गये हैं। बेचारा गरीब ही भीख नहीं माँगता, बल्कि बड़े-बड़े श्रीमंत, डाक्टर्स, सॉलिसीटर्स, इन्जीनियर्स लीडर्स सभी भीख माँगते हैं। अन्तर केवल माँगने के तरीकों में है। एक हाथ फैला कर माँगता है, तो दूसरा कागज-रसीदबुक आगे रखकर माँगता है।

(२) **व्यवसाय:**-व्यवसाय (व्यापार-धन्धा) यह निंद्य नहीं, परन्तु श्रेष्ठ भी नहीं है। आज सर्वत्र व्यापारीवृत्ति आ गई है। व्यापार में प्रामाणिकता

वाजश्रवस ने सर्व-दक्षिणा-दान में अपना सारा वैभव दे डाला। एक दिन प्रातःकाल वह गोदान कर रहा था, अच्छी-अच्छी गायें तो वह दे चुका था अब शेष रही दुर्बल गायें दी जा रही थीं। उसी समय नचिकेता दौड़ता हुआ पिता के पास आया। उसने देखा कि पिता जी दुर्बल और कमजोर गायों का दान कर रहे हैं, उससे उसको बड़ा दुःख हुआ। उसने सोचा क्या ऐसी गायें दान में दी जा सकती हैं? उसने अपने पिता से सुना हुआ था कि दान अच्छी गौयों का ही करना चाहिये। इसको लगा कि इससे तो पिता की दुर्गति होगी! बाल-सुलभ मस्ती में मस्त इस बेचारे को क्या पता कि पिता तो सर्वस्व दान कर चुके हैं? इन दुर्बल गौयों के अतिरिक्त अब उसके पास कुछ भी नहीं बचा है।

गहन पितृ-प्रेम से पिता को दुर्गति से बचाने के लिये उसने कहा-"पिताजी! आप मुझे दान में किसे दोगे?" उसे पता था कि अपनी प्रिय-वस्तु का दान करना चाहिये। पिता ने एक-दो बार उसकी बात अनसुनी कर दी, परन्तु जब उसने फिर वही प्रश्न किया तो पिता ने कहा-"यम को"।" अन्त में तो हर एक का ही दान यम को दिया जाता है। इसलिये पिता ने भी शीघ्रता में ऐसा कहा। पिता के मुँह से ऐसा सुनते ही नचिकेता ने अपना देह-दान करने के लिये यम-लोक की दौड़ लगाई।

आज मानव ने चांद पर पैर ही रखा है और प्रकृति पर विजय प्राप्त करने की बड़ी-बड़ी बात करता है। परंतु उस काल में यम-लोक से भी सीधा (Direct) सम्बन्ध था। नचिकेता ने यम-लोक के लिये प्रस्थान किया। मार्ग में उसे अनेक दीन-हीन, लाचार लोग नीची गर्दन किये हुये अपने-अपने कर्मों के प्रमाण-पत्र को लिये फैसले के लिये यम-दरबार की ओर जाते हुये मिले।

परीक्षा-कक्ष ((Examination Hall) में प्रवेश करते समय विद्यार्थी को डर लगता है क्योंकि परीक्षा में सफल होने के लिये जितनी तैयारी आवश्यक थी, उतनी उसने नहीं की है। उसी प्रकार समस्त जीवन भोग-विलास में नष्ट करने वाले मानव को अन्त में भय होता है कि ऊपर जाकर क्या उत्तर दूँगा? ऐसे ही डरे हुये लोगों को नचिकेता ने देखा। वे सब अपना हिसाब चुकाने जा रहे थे।

परन्तु यह बहादुर तेजस्वी नचिकेता छाती ताने हुये, गर्दन ऊँची कर यम-लोक की ओर बढ़ा चला जा रहा था। उसने यमलोक में पहुँच कर यम-दूतों से पूछा-"यमराज कहाँ हैं? मुझे उनसे मिलना है।"

"क्या काम है?" यमदूत ने कहा।

"मुझे तुमको बताने का अवसर नहीं है, मुझे स्वयं यमराज से मिलना है, मुझे यम का पता दो।" ऐसा कहकर वह यमराज के घर की ओर बढ़ गया।

(ईमानदारी) नहीं रह गई है। मंदिर का पुजारी भी व्यापारी बन गया है, मंदिर में व्यवसाय चलता है।

(३) चोरी :—किसी की वस्तु चुरा लेना ही चोरी नहीं है। कम देकर अधिक लेना या कुछ न देकर लेना चोरी है। सात घंटे का वेतन लेकर तीन घंटे काम करना चोरी ही है। जगत में आज यह वृत्ति प्रबल हो गई है। इस वृत्ति को बदलना हो तो एक आध व्यक्ति को अवश्य खड़ा होना ही चाहिये। वाजश्रवस दृढ़ता से खड़ा हुआ और जड़वाद का तूफान उन्हें अंगुष्ट भर भी विचलित नहीं कर सका।

वाजश्रवस गृहस्थी बना। भगवान के कार्य करने वाले को गृहस्थ करना ही चाहिये। भगवान ने भी उनकी कठिन परीक्षायें ली। अनेक बार भूखों रहना पड़ा, अनेक आपत्तियों का सामना करना पड़ा, परन्तु वह अपने मार्ग से तिल भर भी डिगा नहीं। भगवान भी खरे-खोटे की जांच कर ही उसे जेब में रखते हैं। भगवान ने उसकी अटल निष्ठा को देखकर उसे अपनाया। लोग धीरे-धीरे उसके विचारों को अपनाने लगे। अब उसकी दाल-रोटी की व्यवस्था ही नहीं हुई, अपितु लोग श्रद्धा से खूब धन उसके चर्णों में रखने लगे और वाजश्रवस श्रीमंत बन गया।

वाजश्रवस की एक मात्र संतान थी—नचिकेता। वह वैभव और सुसंस्कारों में पला था। एक दिन उसने पूछा—"पिताजी! यह सारा वैभव किसलिये है?" पिता ने कहा—"बेटा! यह सारा वैभव तेरे लिये है। हम वृद्ध हो चले हैं, बड़ा होने पर तू उसका उपभोग करेगा।"

नचिकेता तेजस्वी बालक था, उसको बचपन से ही दिव्य और तेजस्वी संस्कार मिले थे। उसने पिता की तेजस्वी वाणी सुनी और उपनिषदों का तेज पिया था। उसने कहा—"पिताजी! आप तो कहते थे कि सिंह अपना भोजन स्वयँ ही ढूंढ लेता है, वह पिछले दिन का रखा हुआ नहीं खाता। आज का मारा हुआ आज ही खाता है, और जो बच जाता है, उसे दूसरों के लिये छोड़ देता है। थोड़ा खाकर बाकी को कल के लिये रखना, या संतान के लिये रख छोड़ना सिंह की वृत्ति नहीं, कुत्ते का जीवन है। आधी रोटी खाना और आधी बचाकर अंधेरे कोने में छिपा रखना श्वान-वृत्ति है। छीः छीः, मैं तो सिंह का पुत्र हूँ—सिंह हूँ। है न पिताजी!"

वाजश्रवस पुत्र का संकेत समझ गया। उसके नेत्रों से अश्रुधारा प्रवाहित होने लगी। उसने पुत्र को अपने पास खींचकर उसका आलिंगन किया और गद्गद् कंठ से भगवान से कहा—"प्रभु! तेरा मेरे ऊपर कितना महान प्रेम है, जो तूने मुझे ऐसा तेजस्वी और लोकोत्तर पुत्र प्रदान किया है!"

वाजश्रवस ने सर्व-दक्षिणा-दान में अपना सारा वैभव दे डाला ! एक दिन प्रातःकाल वह गोदान कर रहा था, अच्छी-अच्छी गायें तो वह दे चुका था अब शेष रही दुर्बल गायें दी जा रही थीं । उसी समय नचिकेता दौड़ता हुआ पिता के पास आया । उसने देखा कि पिता जी दुर्बल और कमजोर गायों का दान कर रहे हैं, उससे उसको बड़ा दुःख हुआ । उसने सोचा क्या ऐसी गायें दान में दी जा सकती हैं ? उसने अपने पिता से सुना हुआ था कि दान अच्छी गौयों का ही करना चाहिये । इसको लगा कि इससे तो पिता की दुर्गति होगी ! बाल-सुलभ मस्ती में मस्त इस बेचारे को क्या पता कि पिता तो सर्वस्व दान कर चुके हैं ? इन दुर्बल गौयों के अतिरिक्त अब उसके पास कुछ भी नहीं बचा है ।

गहन पितृ-प्रेम से पिता को दुर्गति मे बचाने के लिये उसने कहा—"पिताजी ! आप मुझे दान में किसे दोगे ? " उसे पता था कि अपनी प्रिय-वस्तु का दान करना चाहिये । पिता ने एक-दो बार उसकी बात अनसुनी कर दी, परन्तु जब उसने फिर वही प्रश्न किया तो पिता ने कहा—"यम को'। " अन्त में तो हर एक का ही दान यम को दिया जाता है । इसलिये पिता ने भी शीघ्रता में ऐसा कहा । पिता के मुँह से ऐसा सुनते ही नचिकेता ने अपना देह-दान करने के लिये यम-लोक की दौड़ लगाई ।

आज मानव ने चांद पर पैर ही रखा है और प्रकृति पर विजय प्राप्त करने की बड़ी-बड़ी बात करता है । परंतु उस काल में यम-लोक से भी सीधा (Direct) सम्बन्ध था । नचिकेता ने यम-लोक के लिये प्रस्थान किया । मार्ग में उसे अनेक दीन-हीन, लाचार लोग नीची गर्दन किये हुये अपने-अपने कर्मों के प्रमाण-पत्र को लिये फैसले के लिये यम-दरबार की ओर जाते हुये मिले ।

परीक्षा-कक्ष ((Examination Hall) में प्रवेश करते समय विद्यार्थी को डर लगता है क्योंकि परीक्षा में सफल होने के लिये जितनी तैयारी आवश्यक थी, उतनी उसने नहीं की है । उसी प्रकार समस्त जीवन भोग-विलास में नष्ट करने वाले मानव को अन्त में भय होता है कि ऊपर जाकर क्या उत्तर दूँगा ? ऐसे ही डरे हुये लोगों को नचिकेता ने देखा । वे सब अपना हिसाब चुकाने जा रहे थे ।

परन्तु यह बहादुर तेजस्वी नचिकेता छाती ताने हुये, गर्दन ऊँची कर यम-लोक की ओर बढ़ा चला जा रहा था । उसने यमलोक में पहुँच कर यम-दूतों से पूछा—"यमराज कहाँ हैं ? मुझे उनसे मिलना है ।"

'क्या काम है ? " यमदूत ने कहा ।

"मुझे तुमको बताने का अवसर नहीं है, मुझे स्वयं यमराज से मिलना है, मुझे यम का पता दो ।" ऐसा कहकर वह यमराज के घर की ओर बढ़ गया ।

यमराज के घर पर पहुँचकर उसने द्वार खटखटाये। यम-पत्नी ने द्वार खोले और एक तेजस्वी मृत्यु-मानव को गर्दन उठाये, छाती ताने द्वार पर खड़ा देखा। यम-पत्नी के जीवन में यह पहिला ही अनुभव था, जब कोई मृत्यु-मानव इस प्रकार से यम-द्वार पर आ खड़ा हुआ हो। यम-पत्नी इस बालक को देखकर पल भर मंत्र मुग्ध हो गई।

"यमराज घर में हैं क्या ?" नचिकेता ने पूछा। "नहीं, बाहर गये हैं।" "कब आवेंगे ?" "तीन दिन बाद।" इतना कहकर यम-पत्नी ने द्वार बन्द कर लिये।

नचिकेता ने यमराज के घर के बाहर अपना आसन जमा लिया। उसने बिना खाये-पिये तीन दिन गुजार दिये।

यमराज ने लौटने पर देखा कि एक तेजस्वी ब्राह्मण-बालक तीन दिन से बिना खाये-पिये उसके घर के बाहर बैठा है। यमराज ने अपनी पत्नी को डांटते हुये कहा—"तुम्हें यह तो विचार करना था कि यह बालक कितना तेजस्वी है। यहाँ सब दीन-हीन, दुर्बल और नीची गर्दन कर के आते हैं। भय से गर्दन भी ऊपर नहीं उठाते। यह बालक छाती ताने निर्भयता से यहाँ आया है। सारे जगत पर मृत्यु का साम्राज्य है, प्रत्येक मृत्यु के सामने बकरे की तरह आते हैं, मृत्यु के नाम से ही उनकी सुध-बुध खो जाती है। तुम्हें उनमें और इस वीर बालक में कुछ अन्तर ही नहीं दिखाई दिया ?"

यमराज ने नचिकेता को प्रेम से अपने पास बुलाकर पूछा—"तुम्हारा नाम क्या है ?" "मेरा नाम नचिकेता है, मैं वाजश्रवस का पुत्र हूँ।" "तुम्हारा यहाँ आने का प्रयोजन क्या है ?" "मुझे मेरे पिता ने दान में तुम्हें दिया है, इसलिये आया हूँ।"

यमराज ने कहा—"धन्य वह पिता और धन्य यह पुत्र ! मानव हो तो इनके जैसा हो। बेटा ! मैं तुम पर बहुत प्रसन्न हूँ। तुम मुझसे तीन वरदान माँग लो। मैं तुम्हारा कल्याण चाहता हूँ।"

"महाराज ! मैं कुछ लेने नहीं, बल्कि अपनी मानव-देह आपको सौंपने आया हूँ।" नचिकेता ने कहा। यमराज ने कहा—"मैं जानता हूँ कि सिंह के बच्चे सिंह ही होते हैं। वाजश्रवस का नाम तो भगवान विष्णु के दरबार में भी गाया जाता है। उसका तुम जैसा तेजस्वी लड़का किसी से कुछ भी नहीं माँगेगा, यह मैं जानता हूँ। परन्तु नचिकेता ! मेरी पत्नी से भूल हुई है, तुम जैसे तेजस्वी ब्राह्मण पुत्र को तीन

दिन तक भूखे-प्यासे मेरे घर के बाहर रहना पड़ा है, उसका मुझे दुःख है, इसलिये पत्नी की भूल के प्रायश्चित्तस्वरूप और मेरे कल्याण के हेतु तीन वरदान माँग ले।"

देने वाले की कितनी नम्र भूमिका है! यमराज जैसा सत्ताधारी, जिसके नाम मात्र से विश्व थर्राता है, जिसे प्रसन्न करना कठिन है, ऐसा यमराज प्रसन्न होकर वरदान माँगने को कहता है और नचिकेता लेने से इनकार करता है। वह कहता है- "मैं देने के लिये आया हूँ, लेने के लिये नहीं।" धन्य है यह भारत भूमि जिसकी धूलि में नचिकेता जैसी महान तेजस्वी संतानें पैदा हुई है।

एक जमाने में इस देश में दान आत्मकल्याण के लिए दिया जाता था और देने वाला नम्रता से देता था। आज यह वही देश है, जहाँ कोई देने का नाम ही नहीं लेता। सब लेने वाले ही एकत्रित हो गये हैं। यदि कभी कोई देने वाला खड़ा भी होता है, तो उसको ऐसा लगता है कि वह सारे विश्व का बादशाह है और लेने वाले सब तुच्छ, क्षुद्र, दीन और लाचार जीव हैं। अर्वाचीन और प्राचीन भारत मे इतना ही अन्तर है।

यमराज के अति आग्रह के सामने नचिकेता को झुकना पड़ा। उसने सोचा मैं पिता की आज्ञा लिये बिना ही यहाँ आ गया, मैं कदाचित् पिताजी को नहीं समझ सका और वे मुझ पर अप्रसन्न हुये हों, इसलिये वह प्रथम वरदान में माँग करता है-"मेरे पिता का क्रोध शांत हो और वे मुझे पहिले की ही तरह प्रेम से अपनायें।"

यमराज ने मुस्कराते हुये, इस पितृ-भक्त बालक को मन ही मन धन्यवाद दिया और कहा-"अरे पगले! माता-पिता कभी अपने बच्चों पर गुस्सा करते हैं? और यदि कभी करते भी होंगे, तो वह क्षणिक होगा। 'कुपुत्रो जायेत क्वचिदपि कुमाता न भवति।'

तुम चिंता न करो, मैं वर देता हूँ कि तुम्हारे पिता तुम पर गुस्सा नहीं होंगे। तुम अब दूसरा वरदान माँग कर मुझे कृतार्थ करो।" नचिकेता ने कहा-"मुझे वैश्वानर अग्नि की उपासना सिखाइये, जिससे मैं अग्नि के समान ही तेजस्वी बनूं। इसमें अग्नि के समान स्वाहा और स्वधा की शक्ति का निर्माण हो।"

स्वाहा-शक्ति अर्थात् कुछ लेना नहीं, अपितु सतत देते ही रहना। स्वधा-शक्ति अर्थात् आत्म-धारण शक्ति। अपने आपको जो खड़ा रख सके। जिसमें ये दोनो शक्तियाँ आ जाती हैं, वह अग्नि के समान तेजस्वी जीवन जी सकता है।

यमराज ने कहा, "तथास्तु! अब तीसरा वर माँग।"

नचिकेता ने कहा–" प्रभु ! आप यदि मुझ पर प्रसन्न हैं तो मुझे आत्म–ज्ञान दीजिये । मुजे ब्रह्म–विद्या, अमृत–विद्या सिखाइये ।"

नचिकेता की इस माँग को सुनकर यमराज चौंक पड़े । उन्हें लगा कि यह तो मेरे हाथ से बच निकलने का उपाय मुझसे ही पूछता है । यमराज ने कहा– " नचिकेता ! अभी तू बालक है, इस विद्या को समझना और पचाना तेरी शक्ति से बाहर है । यह अत्यन्त कठिन है, इसे देवता भी नहीं समझ सके । इसके बजाय तू संसार का वैभव और मेरु पर्वत के समान धन ले ले ।"

नचिकेता ने अस्वीकार करते हुये कहा–" मैं मेरु–तुल्य धन और वैभव को लेकर क्या करूँगा ? और फिर जो देता है, वह ले भी सकता है। इसलिये यह मुझे नहीं चाहिये ।" अरे ! रुपयों का ढेर देखकर अच्छे–भले लोग भी ढीले पड़ जाते हैं । बड़े–बड़े मिनिस्टर भी श्रीमंतों के सामने हाथ जोड़े खड़े रहते हैं, किन्तु बालक नचिकेता अचल रहा । उसने कहा–" आपको सम्पत्ति देनी ही है तो दीजिये, परन्तु आत्म–विद्या के बदले में नहीं ।"

नचिकेता की दृढ़ता को देखकर यमराज ने कहा–" तो फिर मैं तुझे सुन्दर–सुन्दर अप्सरायें प्रदान करता हूँ । वे अपने मधुर कंठ के दिव्य संगीत से तुम्हारा मनोरंजन कर, तुम्हारी सेवा करेंगी ।" नचिकेता ने कहा–" यदि ये सभी बहिने प्रभुकार्य के लिये नीचे आने वाली हैं तो उत्तम है, अन्यथा उनको लेकर मैं क्या करूँगा ?"

नचिकेता की निर्लोभिता और निश्चलता को देखकर यमराज आश्चर्य-चकित हो गये । उन्होंने कहा–" तू आत्मविद्या की हठ न कर । मैं तुझे हजार वर्ष की दीर्घ आयु दीर्घ–जीवी और शत–पुत्र प्रदान करता हूँ । तू उन्हें स्वीकार कर ।"

आज कितने ही लोग सौ–सौ रुपया लेकर संस्कृति के विरुद्ध लेख लिखकर संस्कृति–द्रोही बनते हैं । वे सौ रुपये का प्रलोभन नहीं त्याग सकते । सूर्य के समान तेजस्वी और पावन संस्कृति पर कीचड़ उछालते लज्जित नहीं होते । जबकि इसी धरती के तेजस्वी सपूत नचिकेता ने पर्वत के समान वैभव के ढेर को ठोकर मार दी । अप्सराओं के समूह, हजार वर्ष की दीर्घ आयु और पुत्र–पौत्रों को ठुकरा दिया । उसने कहा–" प्रभु ! यदि मुझे आत्मज्ञान नहीं मिलता तो इन सबको लेकर मैं क्या करूंगा ?" नचिकेता की इस नाचिकेतवृत्ति के सामने यमराज ने हार मान ली और उसे आत्म–विद्या का ज्ञान प्रदान किया ।

नचिकेता अध्यात्म–विद्या लेकर वापस आया । उसने अपने पिता के चरणों में नमस्कार कर कहा कि वह उनके आशीर्वाद से आत्म–विद्या का ज्ञान प्राप्त कर सका

है। अब वे उसको ऐसा आशीर्वाद दें कि वह घर-घर में जाकर उस विद्या को पहुँचा सके। पिता ने उसको प्रेम से आलिंगन किया और आशीर्वाद दिया।

उसने घर-घर जाकर समझाया कि लोगों की आत्म-विस्मृति हो गई है। वे बैल का जीवन जी रहे हैं। रोजी-रोटी ही जीवन का लक्ष्य नहीं है! 'मैं मानव हुँ, पशु नहीं।' यह जीवन की प्रथम सीढ़ी है। "मैं भगवान का हूँ-अहं ब्रह्मास्मि।" यह दूसरी सीढ़ी है और "मैं भगवान ही हूं," यह आत्म-ज्ञान की तीसरी सीढ़ी है। भगवान मेरे द्वारा खाते-पीते, देखते और सुनते हैं। इसलिये भगवान के प्रति कृतज्ञ होना चाहिये। इस प्रकार वह अधिकारी के अनुसार लोगों को आत्म-ज्ञान की सीढ़िया समझाने लगा। उसने अपने तेजस्वी जीवन और जीवंत आत्म-ज्ञान से पशु-तुल्य जीवन जीने वालों को मानवी-जीवन जीना सिखाया और समस्त समाज की काया पलट कर श्रेष्ठ ब्राह्मणत्व स्थापित किया और उसे प्रभु-कार्य में लगाया।

आज लोगों को रोजी-रोटी के अलावा कुछ सूझता ही नहीं है। भगवान को याद करने की भी उनको फुर्सत नहीं है, कृतज्ञता प्रकट करना और प्रभु-कार्य करना तो दूर की बातें हैं। 'ब्रह्मसूत्र शारीर-भाष्य' के चार श्लोक रटने से ब्रह्मज्ञान नहीं होता। इसके लिये नाचिकेतवृत्ति का निर्माण करना पड़ेगा। सच्चे कर्मिष्ठ ब्राह्मण खड़े करने होंगे, जो मानवता का झण्डा लेकर फिरें और नष्ट प्रायः मानव-मूल्यों को फिर से स्थापित करें। लोगों में ऐसी नाचिकेतवृत्ति का निर्माण करें कि वे कामिनी और कांचन को भी ठुकराने की हिम्मत रखते हों।

आज भारत को ऐसे नचिकेताओं की आवश्यकता है। धन्य है, नचिकेता। उसे हमारा शतशः प्रणाम।

भक्त कवि सूरदास

मथुरा से आगरा जाने वाले मार्ग पर रुनकुता नाम का एक गाँव है, प्राचीन-काल में उसे रेणुकाश्रम कहते थे। यह जमदग्नि के आत्म-बलिदान का स्थान है। यहाँ आने पर जमदग्नि, परशुराम तथा रेणुका का जीवंत चरित्र आँखों के सामने उपस्थित होता है और हृदय भर आता है। जब तक ये महान चरित्र जीवित हैं तब तक भारतीय संस्कृति का बाल बाँका करने की किसी की हिम्मत नहीं है। ये लोग अपनी अन्तिम साँस तक निष्ठापूर्वक प्रभु-कार्य से चिपके रहे। उन्होंने अपनी त्याग, तपस्या और बलिदान से भारतीय संस्कृति की भव्य परम्परा को ज्वलन्त रखा।

सहस्रार्जुन कार्तवीर्य ने वैभव, सत्ता और शक्ति से उन्मत्त होकर जमदग्नि की हत्या की। जमदग्नि की मृत्यु, मृत्यु न होकर संस्कृति-रक्षण के लिये बलिदान बन गया। सांस्कृतिक कार्यकर्ता निर्भय होता है, वह सत्ता-सम्पत्तिवानों का गुलाम बन कर उनके ताल पर नहीं नाचता, बल्कि प्रभु-भक्ति की मस्ती में प्रभु-कार्य करते हुये शान के साथ जीवन-व्यतीत करता है। संतों और प्रभु-चरणो के अतिरिक्त किसी के सामने उसका माथा नहीं झुकता।

इस रुनकुता ग्राम में एक तेजस्वी, तत्त्व-निष्ठ, बुद्धिमान और सांस्कृतिक कार्य के लिये आत्मबलिदान देने वाले ब्राह्मण की ज्वलंत गाथा है, जिसने प्रखर बुद्धि और सामर्थ्य होने पर भी कभी पैसा कमाने के लिये उनका प्रयोग नहीं किया।

जगत के किसी देश में ऐसा प्रभावशाली वर्ग खड़ा नहीं किया। भारत ही एक ऐसा देश है, जिसने समाज-शिक्षण और संस्कृति-रक्षण के लिये एक ऐसा तेजस्वी वर्ग

खड़ा किया था, जिसने हजारों वर्षों तक अपने त्याग और बलिदान से भारतीय समाज और संस्कृति को जीवंत रखा।

कहाँ परशुराम का ज्वलन्त तेज तथा जमदग्नि का दिव्य आत्म-बलिदान और कहाँ आज दीन, हीन, लाचार और बेचारा बनकर श्रीमंतों की खुशामद करने वाला निस्तेज ब्राह्मण। जब संस्कृति के लिये आत्म-बलिदान करने वाले उन महापुरुषों का चित्र सामने आता है तो गौरव से मस्तक ऊंचा हो जाता है और जब उनकी ही संतानों को दीन-हीन, लाचार, निस्तेज और भिक्षुक बने हुये दर-दर की ठोकरें खाते देखते हैं तो मस्तक शर्म से झुक जाता है। ग्लानि से आँखे बन्द हो जाती है।

इस रुनुकुता गाँव के समीप वास्तु गाँव के एक किनारे पर एक झोपड़ी थी, जिसमें खिड़की-दरवाजे भी न थे और मानो जीर्ण-शीर्ण दशा में भी वह काल को चुनौती देती हो। एक समय उधर से यमुना-प्रवाहित होती थी, परन्तु अब उसका प्रवाह बदल गया और उसके साथ-साथ झोपड़ी का सौन्दर्य भी समाप्त हो गया। कितने ही स्थान सृष्टि-सौन्दर्य से शोभित होते हैं और कितने ही जगन्नाथ पंडित के कथनानुसार भाव-सौन्दर्य से शोभित होते हैं।

अपि प्राज्यं राज्यं तृणामिव परित्यज्य सहसा।
विलोलद्वानीरं तव जननि तिरं श्रितवताम्॥

गोकुल-वृन्दावन में सृष्टि सौन्दये नहीं, परन्तु वे स्थान भाव-सौन्दर्य से भरे हैं। उसके कण-कण में 'कृष्णस्तु भगवान स्वयं' नाचे हैं। वह भगवान की लीला-स्थली है, उसका कण-कण पवित्र है, सुन्दर है। महापुरुषों के स्पर्श से ऐसी भूमि पवित्र और गंधमयी बन जाती है, उसकी सुवास और दर्शन से हृदय भर आता है!

वास्तु गाँव का सौन्दर्य भी इसी प्रकार का था। उस जीर्ण-शीर्ण झोंपड़ी का मालिक जन्मान्ध व्यक्ति था। उसका नाम था-सूरदास।

सूरदास के अन्धत्व के सम्बन्ध में इतिहासकारों में मतैक्य नहीं है, कोई उन्हें जन्मान्ध कहते हैं तो कोई कहते है कि वे तीन वर्ष की अवस्था में अन्धे हुये। परन्तु यह सत्य है कि वे अन्धे थे और आँखों के न होने से जीवन का आनन्द समाप्त हो जाता है।

भगवान को सूरदास को अन्तःचक्षु देने होंगे, इसलिये उन्होंने उसके बहिर्चक्षु ले लिये।

'नयनों की करि कोठरी, पुतरी पलंग बिछाय।
पलकों की चिक डारिके, पियको लिया रिझाय॥'

सूरदास ऐसी अनुभूति ले सके, इसलिये ही भगवान ने उसकी आँखें ली होंगी! सूरदास अपने माता-पिता की चौथी संतान थे।

सामान्यतः पहली संतान के होने पर माता-पिता के आनन्द की सीमा नहीं रहती। दूसरी संतान की थोड़ी बहुत खुशी होती है। तीसरी संतान होती है तो अपने परायों को पत्र द्वारा संतान होने की सूचना मात्र दी जाती है और चौथी संतान की तो कोई खबर भी नहीं पूछता। और जब वह अंधी भी हो, तो कहना ही क्या है! सर्वथा उपेक्षित यह बालक बड़ा हुआ और एक दिन घर छोड़कर चला गया।

इतिहासकारों का कहना है कि सूरदास के तीनों भाई और पिता मुसलमानों के द्वेष के शिकार बन गये थे, इसलिये दुःख और उद्वेग के कारण सूरदास ने घर छोड़ा।

भटकता-फिरता सूरदास एक गाँव में आया और एक पीपल के पेड़ के नीचे बैठ गया। इस चक्षु-हीन बालक को पूछने वाला कौन था? 'निर्बल के बल राम गुसाँई।' संयोग-वश उस गाँव के मुखिया की गाय खो गई थी और वह उसको ढूंढता-ढूंढता उस पीपल के वृक्ष के समीप आया। उसने इस नेत्र-हीन बालक को पूछा कि 'क्या उसने उसकी गाय देखी है?'

सूरदास के कष्टमय बुरे दिनों का अन्त होना था, उसके जन्मांतर के पुण्य उदय हुये। उसने कहा-"यहाँ से दाहिनी ओर एक खेत में तुम्हारी गाय चर रही है।" मुखिया को उसी खेत में अपनी गाय मिल गई। वह सूरदास के इस चमत्कार से बहुत प्रभावित हुआ। उसने सूरदास को नमस्कार किया। उसका भाग्योदय हुआ और अब सभी चमत्कार पसंद लोगों ने मुखिया का अनुकरण किया।

'गतानुगतिको लोकः' एक ने नमस्कार किया तो सभी नमस्कार करने लगे। मुखिया सूरदास को अपने घर ले गया। अब लोगों की भीड़ लग गई। लोग अपनी खोई हुई वस्तुओं तथा अन्य विषयों पर प्रश्न पूछते, अपना भविष्य पूछते और सत्य उत्तर मिलने पर सब बहुत प्रसन्न होते थे। लोग अब भोजन, वस्त्र आदि की अनेक भेंट लाते और भटकते रहने वाला अंधा छोकरा 'स्वामीजी' बन गये। उन की पूजा होने लगी।

इस प्रकार दस-बारह वर्ष व्यतीत हो गये। सूरदास को लगा कि यह देह-पूजा है, देव-पूजा नहीं। इसलिये इस देह-पूजा से ऊबकर सूरदास ने प्रधान का घर छोड़ दिया।

सूरदास घूमते-घामते एक दिन रुनकुता नाम के गो-घाट पर आये। बहते पानी की खल-खल आवाज को सुनकर उन्होंने पास में खड़े एक भाई से पूछा-"यह किसका पानी है?" उसने कहा-"यमुना जी का।"

'यमुनाजी' शब्द सुनते ही सूरदास का अन्तःकरण आर्द्र बन गया। उनके अन्तस्थल से आवाज आई कि 'यह वही स्थान है, जहाँ गोपाल-कृष्ण ने लीला की थी।' जिस प्रकार माँ से बिछुड़ा हुआ बालक रुदन करते हुये माँ को हाँक मारता है, उसी प्रकार सूरदास ने भी आर्त-नाद से प्रभु को मिलने के लिये हाँक मारी। उसकी आवाज में वियोग का दुःख, प्रभु-मिलन की तड़पन और अंतर-भक्ति की उछालें थी।

सूरदास अब प्रश्न करने वाला और भविष्य बताने वाला ज्योतिषी नहीं रहा, भक्त बन गया। अब वह भाव-भक्तिपूर्ण भजन बनाता और लोगों को सुनाता था। वह कहता था,-" मैं अंधा हूँ, मेरे पास देने के लिये कुछ नहीं है, केवल गोपाल-कृष्ण का नाम है, उसे याद करो।"

सूरदास नित्य नये भजन बनाता था और हाथ में तंबूरा लेकर लोगों को भजन सुनाता था। उसकी भक्ति में आर्द्रता थी, परन्तु अभी उसमे अमृत-सिञ्चन होना बाकी था। अमृत-सिञ्चन के बिना भक्ति दुर्बल रहती है। जिस प्रकार बच्चा माँ की छाती से चिपका रहता है, उसी प्रकार भक्त का मन भगवान से चिपका रहता है। सूरदास के जीवन में ऐसा क्षण आने वाला था।

एक बार महान दार्शनिक, शुद्धाद्वैत के प्रणेता परम संत श्री वल्लभाचार्य गोकुल-वृन्दावन की यात्रा करते हुये रुनकुता के गो-घाट में आये। वहाँ उन्होंने भक्ति के ऊपर प्रवचन किये। वल्लभाचार्य के पास। लोकोत्तर जीवन, मस्तिष्क में ज्ञान, हृदय में भक्ति और हाथ में कर्म था। वे 'बच्चा तेरा भला हो जायेगा' कहकर हाथ लम्बा कर बैठने वाले न थे।

उनका जीवन आदरणीय और प्रातःस्मरणीय है। लोगों का उनके प्रति अपार प्रेम था। वे अपने घर में आये हुये प्रत्येक ऋतु-अनुकूल फल या अन्न को पहिले वल्लभाचार्य के चरणों में रखते और तब स्वयं खाते थे। जिस संत ने उन्हें तथा उनके कुटुम्बों को सुसंस्कृत बनाया उसके लिये लोगों का ऐसा लोकोत्तर प्रेम का होना स्वाभाविक ही था।

भक्ति, ज्ञान और कर्म की त्रिवेणी-संगम जिस महान भक्त के जीवन में गुंथी हुई थी, ऐसे वल्लभाचार्य के प्रवचन सतत सात दिनों तक सुनकर सूरदास ने अपने आपको कृतार्थ समझा।

एक दिन सूरदास लाठी टेककर वल्लभाचार्य को मिलने उनके निवास-स्थान पर गये। भीतर से किसी ने आवाज दी, "वल्लभाचार्य अभी भोजन कर रहे हैं; उसके बाद आराम करेंगे और तीसरे पहर मिलेंगे।"

सूरदास ने कहा–"कोई बात नहीं मैं अन्धा आदमी हूँ, वापस कहाँ जाऊँगा, तब तक यहीं बैठा रहूँगा। महाप्रभु के दर्शन करके ही जाऊँगा।"

भोजन के पश्चात् वल्लभाचार्य ने पूछा–"कौन आया था?" सेवक ने कहा–"प्रभु! एक अंधा आया था, मैंने उसे शाम मिलने को कहा है।" महाप्रभु ने कहा–"कोई मुझसे मिलने आवे और मैं आराम करता रहूँ, ऐसा नहीं हो सकता। उसे बुलाओ।"

वल्लभाचार्य के निकट के दूसरे लोगों ने भी कहा–"प्रभु! वह अन्धा है, आप पहिले विश्राम कर लीजिये।" महाप्रभु ने कहा–"उस चक्षु-हीन को देखकर ही मुझे विश्राम मिलेगा।" यह कहकर उन्होंने उसे अन्दर बुलाया।

वल्लभाचार्य ने कहा–"सूरदासजी! मैं जगत को सुनाता हूँ, आज आप मुझे सुनाओ। मैं आपको सुनूंगा।"

सूरदास ने एक भक्ति-गीत गाया। गाते-गाते वे गद् गद् हो गये। 'प्रभु मैं कितना पतित हूँ, तू अनाथों का नाथ और विश्व का सर्जनहार है। प्रभु! तुम्हें कैसे देखूँ कैसे पहिचानूँ? एक बार अपनी कृपा दृष्टि डालो प्रभु!"

"सूरदासजी! आप कितना सुन्दर गाते हैं! परन्तु आपकी वाणी में दीनता क्यों है? क्या भक्त की वाणी में कभी इस प्रकार की दीनता और लाचारी हो सकती है? भगवान तो अपने हैं, जब माँगना ही हो, तो पुत्र बनकर क्यों नहीं माँगिये? भगवान-भक्त कभी भी माँगता नहीं, रोता नहीं। भावना से गद्गद् होगा, पर कभी भी दीन नहीं बनेगा।"

"प्रभु! क्या करूं? मैं जन्मान्ध हूँ, मैंने पढ़ा नहीं कोई तेजस्वी विचार सुने नहीं। कभी आप जैसे संतों का सत्संग किया नहीं। सम्पूर्ण जीवन ही लाचारी में व्यतीत किया है। फिर मेरी वाणी में तेजस्विता कहाँ से हो सकती है? मेरे जीवन में दीनता के अतिरिक्त और हो ही क्या सकता है? प्रभु! यदि आपको कोई आपत्ति न हो तो मुझे अपना शिष्य बनाइये और मेरी वाणी की दीनता को निकालकर मुझे शूर की भक्ति प्रदान कीजिये।"

वल्लभाचार्य ने सूरदास को अष्टाक्षरी मंत्र देकर उसका जप करने को कहा और उसे स्वमुख से भागवत का दशम स्कन्ध सुनाया। दशम स्कन्ध सुनाते-सुनाते महाप्रभु, प्रभु के रंग में मस्त और तल्लीन हो जाते थे। वल्लभाचार्य की वाणी का रसामृत पान कर सूरदास की भक्ति में अमृत का सिंचन हुआ।

उसके पश्चात् सूरदास के जीवन में तेजस्वी भक्ति का समावेश हुआ। अब वे कहने लगे–"भगवान! मेरा बोलना तोतला होगा, परन्तु मैं आपका पुत्र हूँ। आप मुझे दर्शन नहीं देंगे, तो किसे देंगे प्रभु!"

सूरदास की भक्ति और गीतों में वाणी का विलास और स्वर का अलाप न था, परन्तु अन्तर का भाव, हृदय की व्याकुलता और प्रेम का उद्गार था। उसके भजनों के ताल पर श्रीनाथजी नाचते थे। **'नामदेव कीर्तन करी पुढे देव नाचे पांडुरंग।'** जिस प्रकार नामदेव के कीर्तन में पांडुरंग भगवान नाचते थे, उसी प्रकार सूरदासजी के भक्ति-गीतों पर श्रीनाथजी नाचते थे। सूरदास मन में श्रीनाथ जी को आँखों के सामने लाकर तब भजन प्रारम्भ करते थे।

वल्लभाचार्यजी के स्वधाम पधारने के पश्चात् श्री विट्ठलनाथजी ने आचार-धर्म को रूप-रंग प्रदान किया। भगवान कि अष्ट-प्रहर भक्ति हो सके, इसके लिये अष्ट-भक्त कवि नियुक्त किये। सात कवि तो उन्हें मिल गये, परन्तु आठवां कवि नहीं मिला। लोगों ने कहा कि सूरदास को बुलाइये, जब तक भगवान उनके भजनों को नहीं सुनेंगे, तब तक उनके कान शीतल नहीं होंगे। विट्ठलनाथ जी ने सूरदास जी से निवेदन किया कि "आठवाँ कीर्तन क्या आप करेंगे?"

"**गुरुवत् गुरुपुत्रेषु**" आप संकोच क्यों करते हैं? आपका कहना मेरे मन से गुरु-आज्ञा है। जब सूरदासजी गाते तो श्रीनाथजी डोलने लगते-नाचने लगते थे। जन्मान्तरों के पुरुषार्थ से आया हुआ, यह महान जीव अपनी अमृत-सिंचित विशुद्ध भक्ति से भगवान को नचाता था।

एक दिन सूरदासजी कीर्तन में नहीं जा सके! उनकी तबियत बिगड़ गई। विट्ठलनाथजी स्वयं उनकी खबर लेने उनकी कुटिया पर गये और पूछा-"कीर्तन में क्यों नहीं आये?"

सूरदास जी ने कहा-"क्या करूँ? अब मैं पुष्टि-मार्ग की मर्यादा के बाहर जा पहुँचा हूँ। जीवन का अन्त नजर आता है, आँखों के सामने राधा-कृष्ण की मूर्ति दिखाई देती है। भगवान का बुलावा आता दिखाई देता है।"

सूरदास भजन गाते-गाते तल्लीन हो गये-"भगवान! मेरा अगला जन्म है या नहीं? इसका तो पता नहीं है, परन्तु यदि मेरा दूसरा जन्म हो तो अपने चरणों में ही मुझे सतत स्थान दीजिये।" इस प्रकार प्रभु से प्रार्थना कर, प्रभु की मूर्ति नेत्रों के सामने खड़ी कर कीर्तन पूरा होते ही वे प्रभु में विलीन हो गये।

सूरदासजी के तथा मृत्यु जीवन के दोनों किनारों को देखकर लगता है कि "**नर अपनी करनी करे, तो नर से नारायण होय।**'

सूरदासजी के अस्तित्वमान से वल्लभ-सम्प्रदाय की कई गुनी शान बढ़ी है।

ऐसे प्रभु-भक्त सूरदास को अनन्त प्रणाम।

वररुचि

आज से लगभग तीन सहस्त्र वर्ष पूर्व भारतीय क्षितिज पर एक अत्यन्त जाज्वल्यमान नक्षत्र चमका था! उसका कर्तृत्व तो लोकोत्तर था ही, परन्तु उसके प्रखर पाण्डित्य और विद्वत्ता के सामने बड़े बड़े पण्डित भी नत मस्तक हो जाते थे।

तेल बुद्धि वाले व्यक्ति को भी व्याकरण शास्त्र के पूर्ण अध्ययन के लिये बारह वर्ष अपेक्षित होते हैं। उसमें शब्द-शास्त्र अर्थात् शब्द किस प्रकार से निकलता और बनता है, बहुत बड़ा और जटिल है। इस गहन शब्द-शास्त्र पर वार्तायें लिखने वाले उद्भट विद्वान का नाम ही वररुचि था।

वाक्यकारं वररुचिं भाष्यकारं पतंजलिम्।
पाणिनिं सूत्रकारं च प्रणतोऽस्मि मुनित्रयम्॥

संस्कृत वाङ्मय से डॉक्टरेट की उपाधि (डिग्री) प्राप्त करने वाले अनेक लोग जर्मनी जाकर वररुचि के वार्तिकों के ऊपर महानिबन्ध (थिसिस) लिखने का प्रयास करते हैं। जर्मनी जाकर? हाँ, क्योंकि विद्या-प्रिय और ज्ञान-प्रिय जर्मनों ने विशाल भारतीय (वैदिक संस्कृत) वाङ्मय का संकलित, सुरक्षित और अपनी भाषा में अनुवाद किया है। परन्तु उस महान वाङ्मय के उत्तराधिकारी हम, उसे मात्र सुरक्षित भी नहीं रख सके।

वररुचि प्रचण्ड और आधिकारिक वैयाकरणीय के रूप में विख्यात हैं। इतनी उच्च और तेजस्वी बौद्धिक प्रतिभा के होने के बावजूद उन्होंने बहुजन हितार्थ सरल

और प्रासादिक वाणी में वार्तायें लिखी हैं। वररुचि का महान जीवन चरित्र अध्ययन करने योग्य है।

महान शिवभक्त पुष्पदन्त कवि ने ही शाप-भ्रष्ट होने पर वररुचि के रूप में दूसरा जन्म ग्रहण लिया है। कवि पुष्पदन्त की भक्ति और ज्ञान से प्रसन्न होकर शिवजी ने उसे अपने प्रिय पार्षदों में स्थान दिया था।

एक बार '**जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ**' भगवान शंकर और माता पार्वती सृष्टि--संचालन और मानव के जीवन-विकास के सम्बन्ध में एकान्तिक बात कर रहे थे। माता-पार्वती को भी सृष्टि-संचालन में उतनी ही रुचि है, जितनी शिवजी को है। शिवजी पार्वतीजी से कहते थे कि मानव किस प्रकार जीवन-विकास करते-करते ऊपर चढ़ता है और शिवरूप होने से पूर्व ही फिसल जाता है--च्युत हो जाता है। इसी सन्दर्भ में उन्होंने सप्त विद्याधरों की कथा भी सुनाई।

शिवजी ने द्वार पर नन्दी को कठोर आदेश दिया था कि वार्ता काल में किसी को भी अन्दर प्रवेश न करने दिया जाय। इसी समय पुष्पदन्त उधर से आ निकले और अन्दर जाने का आग्रह करने लगे। उन्होंने कहा--"नन्दी! तू तो जानता है कि भगवान शिवजी का मुझ पर कितना अधिक प्रेम है? मैं तो उनका लाडला पुत्र हूँ। यह आज्ञा अन्य लोगों के लिये होगी, मेरे लिये नहीं। तू मुझे अन्दर जाने दे।" नन्दी ने भगवान के कठोर आदेश को दुहराते हुये, उसे अन्दर नहीं जाने दिया।

मानव का स्वभाव है कि जिस बात के लिये उसे इनकार किया जाता है, उसके लिये उसमें और भी उत्सुकता जाग्रत होती है। इसलिये पुष्पदन्त ने शिव-पार्वती के वार्ता-कक्ष के दूसरी ओर जाकर गुप्त रूप से शिव-पार्वती के सम्वाद को सुन लिया। भगवान के स्वमुख से निकली प्रासादिक वाणी को सुनकर पुष्पदन्त अत्यन्त प्रसन्न हो गया। अपने जीवन का अलभ्यलाभ पाकर वह कृतकृत्य हो गया।

पुष्पदन्त ने हर्षोन्माद में घर जाकर सप्तविद्याधरों की वार्ता अपनी पत्नी जया को सुना दी। जया भी आल्हादित हो गई! दूसरे दिन माता पार्वती के यहाँ स्त्रियों की बैठक हुई। जया भी उसमें सम्मिलित हुई। उसने वहाँ सप्त-विद्याधरों की वार्ता सुनाई तो पार्वतीजी को आश्चर्य हुआ कि यह उसे कैसे मालूम हुई! शिवजी ने मेरे अतिरिक्त किसी दूसरे को यह वार्ता नहीं सुनाई थी। शिवजी असत्य भी नहीं कह सकते। उसने जया से पूछा--"तुझे यह वार्ता कैसे मालूम हुई?" उसने कहा--"मुझे मेरे पतिदेव ने सुनाई है।"

पार्वतीजी पुष्पदन्त पर अत्यन्त कुपित हो गईं। उन्होंने पुष्पदन्त को बुलाकर उसे शाप दिया--"तू यहाँ रहने योग्य नहीं है, इसलिये मृत्यु लोक में जाकर

जन्म ले।" जया ने पति–वियोग न होने के लिये बहुत अनुनय–विनय किया, परन्तु जगदम्बा के शब्द मिथ्या कैसे हो सकते थे? नन्दी ने जया का समाधान करते हुये/कहा–"यह तो माँ का शाप है। माँ कुपित होकर बच्चे को गाली देती है, परन्तु उसमें भी उसका कल्याण ही होता है। पुष्पदन्त को दिये गये शाप से उसका और जगत का कल्याण ही होगा। तू चिंता न कर।"

एक दिन इसी शापित पुष्पदंत ने कौशाम्बी नगर के एक दरिद्र ब्राह्मण के यहाँ वररुचि के रूप में जन्म लिया। पांच वर्ष के अल्प–वय में ही उसने पितृ–सुख खो दिया। विधवा माँ ने मेहनत–मजदूरी करके उसका लालन–पालन किया। नन्हे वररुचि का माँ के प्रति प्रगाढ़ प्रेम था। वह अपने नन्हें–नन्हें हाथों से माँ के कामों में हाथ बंटाता था। दोनों माँ–बेटे एक दूसरे के प्रेम की ऊष्मा से सूखी रोटी खाकर भी सन्तोषपूर्वक अपना काल–यापन करते थे।

विधवा और गरीब माता को एक ही दुःख सताता था कि बेटा बड़ा हो गया है, उसकी शिक्षा का क्या होगा? वह पढ़ने के लिये कहाँ जाय? उसे कौन ले जाय? परन्तु उसका भगवान पर पूर्ण विश्वास था। वह कहती थी–'मेरे बेटे के भाग्य में होगा, तो भगवान स्वयँ ही कुछ रास्ता निकालेंगे।'

सृष्टि का सर्जक, जगत–पिता जगदीश सब की चिंता करते और एक महान पिता के रूप में अपने उत्तरदायित्व को सुन्दर रीति से निभाते हैं। उन्होंने युवा वररुचि को विद्या प्राप्त करने का एक सुन्दर सुयोग प्रदान किया। एक दिन वररुचि की माँ कहीं बाहर गई थी, इसी बीच दो युवा–पथिक उनके घर पर विश्राम लेने आये। उन्होंने अपने साथ में लाया हुआ कलेवा खोला और खाना प्रारम्भ किया। उन्होंने आंगन में खेलते हुये वररुचि को भी खाने के लिये बुलाया, पर उसने कहा कि यह कैसे हो सकता है कि जो माँ मेरे लिये इतना कष्ट उठाती है, मैं उसे छोड़कर खा लूँ? जब वह आयेगी, तब हम दोनों साथ–साथ खायेंगे। तुम लोग खा लो, मैं नहीं खा सकता।

वररुचि की आँखों के तेज, चातुर्य और बुद्धिमतापूर्ण उत्तर को सुनकर आगन्तुकों को लगा कि लड़का संस्कारी है।

उस दिन उस गाँव में 'वसन्तोत्सव' नाम का संस्कृत नाटक खेला जाने वाला था, आगन्तुक युवान इन्द्रदत्त और व्याडी भी नाटक देखने गये और अपने साथ वररुचि को भी ले गये। दूसरे दिन माँ ने वररुचि को पूछा–"कौनसा नाटक देखकर आया?" वररुचि ने सम्पूर्ण नाटक शब्दशः ज्यों का त्यों कह सुनाया। इन्द्रदत्त और व्याडी यह सुनकर आश्चर्य चकित हो गये। उन्होंने भगवान को

नमस्कार कर कहा—'भगवान ! तेरी लीला विचित्र है, तू कीचड़ में कमल खिलाता है। तूने इस दरिद्र घर में यह रत्न भेजा है। इसमें भी तेरा कुछ हेतु होगा। हम ऐसे ही व्यक्ति की खोज में फिरते थे, आज हमारी साध पूरी हो गई है।'

इन्द्रदत्त ने वररुचि की माँ से कहा—"माँ ! तुम महान भाग्यशाली हो, जिसकी कोख से ऐसी सन्तान ने जन्म लिया है। तुम्हारी आज्ञा हो तो हम वररुचि को विद्याध्ययन के लिये अपने साथ ले जायें। वररुचि एकपाठी है, इसलिये वह हमें भी सिखायेगा। माँ ने सन्देह व्यक्त किया कि तुम सब समवयस्क हो, वह तुम्हें कैसे सिखायेगा ?

इन्द्रदत्त ने कहा—"माँ ! हमारे गुरु 'वर्ष' ने साक्षात् कार्तिकस्वामी से विद्या पढ़ी है। वे हमको प्रेम से पढ़ाते हैं, परन्तु हमारे मस्तिष्क मे विद्या उतरती नहीं, क्योंकि मै द्विपाठी और व्याडी त्रिपाठी है और गुरुजी केवल एक ही बार समझाते हैं, जिससे हम उसे हृदयंगम नहीं कर सकते। वररुचि एक पाठी है, इसलिये वह गुरु की पढाई हुई विद्या को एकबार में ही हृदयंगम कर लेगा। अब एक बार गुरु-मुख से और दूसरी बार वररुचि के मुख से सुनकर मैं भी विद्या ग्रहण कर लूँगा। व्याडी त्रिपाठी है, इसलिये गुरु-मुख, वररुचि के मुँह और मेरे मुख से सुनने पर वह भी विद्या प्राप्त कर लेगा।

वररुचि की माँ जिस क्षण की आतुरता से प्रतीक्षा कर रही थी, वह अनायास ही आ गया। उसने मन में भगवान को नमस्कार किया। उसके नेत्रों से भावाश्रु प्रवाहित होने लगे। भावी की गहराई को कौन नाप सकता है ? मानव-जीवन में कब अनुकूल और कब प्रतिकूल प्रसंग निर्माण हो जाँय ? इसे भगवान ही जानते और निर्मित करते हैं ! मानव अनुकूल प्रसंग में हँसता और प्रतिकूल में रोता है।

वररुचि की माँ ने हृदय पर पत्थर रखकर, दिल से मूक आशीष देकर तथा लाड़ले बेटे का मस्तक सूंघकर गुरु-गृह जाने के लिये उसे भाव-भीनी विदा दी।

वररुचि की तीव्र ग्रहणशक्ति से गुरु, प्रसन्न हो गये। उन्होंने हार्दिक-प्रेम से उसे अपनी सम्पूर्ण विद्या पढ़ाई और वररुचि ने मसि-शोषक की तरह सब आत्मसात कर ली।

एक दिन तीनों मित्र घूमने निकले। एक ने कहा—"अब हमारा अध्ययन समाप्त होने चला है, इसलिये हमें निश्चित कर लेना चाहिए कि यहाँ से जाने के पश्चात् किस राजा के यहाँ जायेंगे ! हमने इतना पढ़ा है, तब उसी प्रमाण में धन-संचय भी तो करना चाहिये न !"

" अरे भाई ! विद्या और धन का क्या सम्बन्ध ? विद्या तो जीवन को विकसित और प्रकाशित करने के लिये होती है। विद्या के प्रकाश में जीवन की प्रत्येक वस्तु का स्पष्ट दर्शन होता है। " वररुचि ने कहा।

" वररुचि तू पढ़ा है, गुणा नहीं है। अरे मूर्ख ! धन कमाने के लिये ही तो हमने इतना पढ़ा है। यदि धन ही नहीं कमाना होता तो इतना पढ़ते ही क्यों ? इन्द्रदत्त ने व्यावहारि शिक्षा देते हुये कहा।

वररुचि ने कहा—" इन्द्रदत्त ! शिक्षा पैसा प्राप्त करने के लिये नहीं सीखी जाती। विद्या तो विद्या के लिये ही पढ़ी जाती है। पढ़ते समय यह विचार भी नहीं आना चाहिये कि मैं किसलिये पढ़ रहा हूँ ? विद्या से जीवन-दर्शन करना होता है, स्पष्ट जीवन-दर्शन मिलने पर जीवन में सुख, शांति और समाधान आता है और मानव ईशतत्त्व के पास पहुँचता है।

व्याडी ने अपने व्यवहार-कौशल का प्रदर्शन करते हुये कहा—" वररुचि ! तू कोरा पोथा पंडित ही रहा ! तुझे व्यावहारिक ज्ञान नहीं है, इसलिये ये सभी बाते तेरी समझ में नहीं आती। हम जैसा कहते हैं, तू वैसा कर। "

वररुचि ने कहा—" भाई ! हमने दो योग (हठ-योग और राज-योग) सीखे हैं। हम हठ-योग से चमत्कार करके तथा पार्थिव शक्ति पर विजय प्राप्त कर लोगों को चमत्कृत कर सकते हैं, परन्तु उससे कुछ प्रभु के पास नहीं पहुँचा जा सकता। परन्तु राज विद्या सच्चे अर्थ में राजा बनाने वाली है। उससे चित्त शुद्ध होता है, विकार क्षीण होते हैं, भावमय जीवन बनता है, जीवन का उदात्तीकरण होता है और एक दिन प्रभु का प्यारा बेटा बना जा सकता है। यही जीवन का वास्तविक और अंतिम ध्येय है। "

" अच्छा, अच्छा, यह तो अध्ययन समाप्त हो जाने के पश्चात् देखा जायेगा। अभी तो गुरु का दिया हुआ पाठ तैयार करना चाहिये। " ऐसा कहकर इन्द्रदत्त ने बात को आगे बढ़ने से रोका !

अध्ययन समाप्त होने पर तीनों ने भावभीने अंतःकरण से गुरु से विदा ली। आज अपनी तेजस्विता, बौद्धिक प्रतिभा और विनम्र सेवा से गुरु के हृदय को जीत लेने वाला, गुरु का अंतेवासी गुरु से विदा लेता था। गुरु का हृदय भर आया, उन्होंने वररुचि का आलिंगन किया और कहा—" बेटा ! तेरा और मेरा जन्म-जन्मान्तरों का सम्बन्ध है। मैं अपनी लाडली भतीजी उपकोषा को तुझे सौंपता हूँ, तू उसका पाणि-ग्रहण कर। " वररुचि गुरु-आज्ञा को नहीं टाल सका। वह उपकोषा के साथ विवाह-बंधन से जुड़ गया।

उपकोष सुन्दर, चतुर, बुद्धिमान, विदुषी और वररुचि के मनोनुकूल थी। ऐसी सुयोग्य पत्नी के मिलने पर उसने भगवान का उपकार माना और गुरु आज्ञा प्राप्त कर पत्नी और दोनों मित्रो के साथ आश्रम से विदा ली।

तीनों मित्र साथ-साथ चले जा रहे थे। वररुचि को चिंता थी कि आश्रम का ऋण कैसे चुकाया जाय। इन्द्रदत्त और व्याडी की उलझन थी कि पैसा कैसे जमा किया जाय? चलते-चलते इन्द्रदत्त ने प्रस्ताव किया कि हमको आश्रम का ऋण अदा करने के लिये कम से कम एक एक लाख रुपया तो देना चाहिये! व्याडी ने इस सुअवसर का लाभ उठाते हुये कहा-"बहुत सुन्दर विचार है। हमें राजदरबार में जाकर अपनी विद्या को आजमाना चाहिये।"

राज्याश्रय लेना वररुचि की तेजस्वी बुद्धि को नहीं रुचा। उसने अपना विरोध प्रदर्शित करते हुये कहा-"व्याडी! किसी का आश्रय लेना उचित नहीं है। हम पण्डितों को भला आश्रय कैसा? हमारा एक ही आश्रय है और वह है प्रभु का!"

वररुचि इन्द्रदत्त और व्याली के आग्रह को नहीं टाल सका। क्योंकि वे दोनों ही उसे गुरु-गृह ले गये थे। इतने वर्षों उनके साथ-साथ रहा और विद्याध्ययन किया था। इसलिये इस समय उनको छोड़ना उसे उचित नहीं लगा। इसलिये उपकोषा सहित तीनों नंद राजा की राजधानी की ओर चले।

तीनों गुरु-भाई राजा नन्द के नगर में पहुँचे। उनको नगर में प्रवेश करते ही समाचार मिला कि अभी-अभी राजा का देहावसान हो गया है। धन प्राप्त करने की आशा पर पानी फिर गया।

वररुचि ने कहा-"मैं पहिले ही कहता था कि किसी का आश्रय लेना उचित नहीं। प्रभु की भी यही इच्छा थी, इसलिये उसने उसे उठा लिया है।" "अब अपने अध्यात्म को रहने दे और कुछ रास्ता निकाल।" इन्द्रदत्त ने अकुला कर कहा। उसने आगे कहा-"मैं हठयोग द्वारा राजा के मृत-देह के अन्दर प्रवेश करता हूँ, इस से राजा जी जावेगा। तू दरबार में मेरे (राजा के) सामने आकर तीन लाख स्वर्ण-मुद्रा की माँग करना। मैं प्रधान को आज्ञा दूँगा कि वह तुम्हें तीन लाख स्वर्ण-मुद्रा दे दे। हमारा काम हो जावेगा। फिर मैं अपने शरीर में आ जाऊंगा। परन्तु इस बीच उसकी रक्षा और सम्भाल होनी चाहिये।" देह सम्भालने की जिम्मेदारी व्याडी ने ले ली।

राजा की श्मशान यात्रा निकल रही थी। नगर के सभी लोग शोकाकुल थे। परन्तु श्मशान में पहुँचते ही नंद का मृत-शरीर [illegible] होने लगा। इसके

आश्चर्य के बीच राजा उठ बैठा। अघटित घटना हुई थी, इसलिये कोई उसे भूत समझकर डरने लगे। कोई अपने पैरों पर चकोटी काटने लगे कि वे स्वप्न में तो नहीं है? परंतु अंत में सबको विश्वास हो गया कि राजा को पुनर्जीवन मिल गया है। इसलिये श्मशान यात्रा एक उल्लासपूर्ण जुलूस में परिवर्तित हो गया। राजधानी में आनन्दोत्सव मनाया जाने लगा। इस रहस्य का पता केवल वररुचि, उपकोषा, व्याडी और इन्द्रदत्त को ही था।

पूर्व निर्धारित योजना के अनुसार वररुचि दरबार में आया। उसने राजा (इन्द्रदत्त) की प्रशस्ति गाई। दोनों के चार नजरें हुई और दोनों मन में हँसे। राजा बने इन्द्रदत्त ने प्रधान मंत्री को आज्ञा दी कि वह वररुचि को तीन लाख स्वर्ण-मोहरें प्रदान करे। वररुचि स्वर्ण-मुहरें लेकर चला गया।

राजा नन्द का प्रधान मंत्री अत्यन्त बुद्धिमान और चतुर था। राजा के श्मशान से जीवित होकर लौटने तथा बिना किसी प्रसंग के वररुचि को तीन लाख स्वर्ण-मुहरें देने के कारण उसके मन में सन्देह का निर्माण हुआ। उसने अन्य मंत्रियों को बुलाकर अपना सन्देह व्यक्त किया और उन्हें आदेश किया की नगर के आसपास कहीं कोई शव दिखाई दे, तो उसे तुरन्त जला दिया जाय।

मंत्री के आदेश से सैनिक शव की ढूंढ़ करते-करते वहाँ जा पहुंचे जहाँ व्याडी इन्द्रदत्त के शव की रक्षा कर रहा था। सैनिकों ने इन्द्रदत्त के शव को अपने अधिकार में कर उसे जला दिया। व्याडी बेचारा सैनिकों के सामने विरोध भी कैसे करता था। ऐसा करने से पोल खुल जाने का भय था। इसलिये उसने गूंगे मुँह शव सैनिकों को सौंप दिया।

अपने शव के जल जाने पर इन्द्रदत्त को अत्यन्त व्याकुलता हुई। अब उसके सामने दो ही विकल्प थे। या तो राजा बनकर रहना और या मर जाना। राजा बने रहने पर तीनों मित्र एक साथ नहीं रह सकते थे और वररुचि को उसके आश्रित बनकर रहना पड़े, यह बात भी उसको नहीं रुचती थी। परन्तु अब वह लाचार था, समस्या के समाधान का कोई उपाय नहीं था।

इन्द्रदत्त को मालूम था कि शाक्यल (प्रधान मंत्री) ने ही उसके शव को जलाने का आदेश दिया था और वह उसकी ओर सशंक दृष्टि से भी देखता है। इसलिये उसने उसे मंत्रि-पद से पृथक कर वररुचि को अपना प्रधान मंत्री बना दिया।

लोगों ने शाक्यल को पदच्युत करने पर विरोध किया किन्तु इन्द्रदत्त ने कहा कि वह राजा हैं, उसे जो उचित लगेगा वह वैसा करेगा। राजा के इस व्यवहार से लोग अप्रसन्न हो गये। राज्य के प्रमुख लोगों, आमात्यों और पंडितों को लगा की

कल का छोकरा (वररुचि) और हमारा महा-आमात्य बने ? हम उसका आज्ञा-पालन करेंगे ? परन्तु समय देखकर वे चुप रहे और वररुचि को गिराने के अवसर की ताक में रहे।

इन्द्रदत्त राजा बना, वररुचि मन्त्री बना परन्तु वररुचि के अन्तःकरण में यह बात चुभती रहती थी कि उसके स्वार्थ के लिये शाक्यल के ऊपर अन्याय किया गया है। परन्तु यदि ऐसा न होता, तो पोल खुलने का और फिर दोनों को राजद्रोह के अपराध में दण्ड मिलने का भय था। इसीलिये उसने महा-आमात्य का पद स्वीकार किया था। परन्तु उसने राजा से तिरस्कृत हुये शाक्यल का दूसरे स्थान पर सम्मान-पूर्ण व्यवस्था कर उसका हृदय जीत लिया।

वररुचि ने अत्यन्त सुन्दर रीति से अपने पद का कार्य-भार सभाला और राज्य की सुव्यवस्था की। उसे विदित था कि लोक-गीतों और स्त्री-गीतों के माध्यम से वेदान्त के कठिन सिद्धान्त सरल रीति से लोक-मानस में पहुँचाये जा सकते है। इसलिये उसने लोक-गीतों और स्त्री-गीतों का संकलन किया तथा स्वयँ भी नये-नये गीतों की रचना कर गाँवों-गाँवों में घूमना प्रारम्भ किया।

इतना उच्च सत्ताधिकारी होने पर भी उसमें इतनी सादगी, सरलता और निराभिमानिता थी। उसमें प्रधान-मंत्री की अकड़, पंडिताई का अहँकार, शिष्टाचार का बाह्याडंबर तथा राजसी ठाठ कुछ भी नहीं था। किसी के प्रति मत्सर और द्वेष भी नहीं था। वह गांवों में जाता, लोगों को सरल रीति से लोक-भाषा में वेदान्त के सिद्धान्त समझाता था। उसके सिद्धान्त लोक-ग्राह्य हुये। लोक-मानस धीरे-धीरे संस्कारी बनने लगा। लोग उसे प्रेम करने लगे और वह धीरे-धीरे लोक-प्रिय बन गया।

परन्तु पंडितों और अधिकारियों को वररुचि की लोक-प्रियता खलने लगी। वे उससे असूया (ईर्ष्या) करने लगे। उनकी आँखों में वह तिनके की तरह खटकने लगा और वे उसे किसी भी प्रकार से गिराने और हलका करने की युक्ति सोचने लगे। मानव-मन कितना संकीर्ण होता है ! वह किसी के सुख, उत्कर्ष और यश को सहन नहीं कर सकता। इसलिये राज्य के पंडित और [illegible] लोग मिलकर पाणिनि के पास गये।

इन सब लोगों ने वररुचि के विरुद्ध [illegible] बातें कहकर उनसे कहा कि वे शास्त्रार्थ कर वररुचि का पराभव करें। पाणिनि ने कहा—" ऐसे [illegible], [illegible], निराभिमानी वररुचि को जिसे अपने पांडित्य का घमण्ड नहीं, [illegible]

नहीं, जो अधःपतित समाज का मार्ग-दर्शन करता है, वैदिक वाङ्मय को लोक-भाषा में लोगों के पास ले जाता है, उसके साथ वाक्-युद्ध करने और उसका पराभव करने का कारण क्या है ? मैं ऐसा नहीं कर सकता।

मत्सर और द्वेष की अग्नि में झुलसने वाले इन पण्डितों ने पाणिनि से कहा-"परन्तु प्रभु ! वररुचि जितना सरल दिखाई देता है, उतना सरल नहीं है। आपको उसके सम्बन्ध में पूरी जानकारी नहीं है। वह अपनी ख्याति, नाम और यश के लिये शास्त्रों का विरोध करता है, उनकी टीका-टिप्पणी करता है। यदि ऐसा ही चलता रहेगा तो शास्त्र-विद्या कैसे टिकेगी ? लोग उसको कैसे अपनायेंगे ? धीरे-धीरे शास्त्र और संस्कृति नष्ट हो जायेगी। चाहे कुछ हो, परन्तु शास्त्रों की रक्षा और संस्कृति को टिकाने के लिये वररुचि का पराभव कीजिये और उसे ऐसे निंद्यकर्म करने से रोकिये। तभी लोगों की आँखें खुलेंगी और उन्हें खरे-खोटे का भान होगा।" वररुचि पर इस प्रकार के अनर्गल और मिथ्या आरोपों को लगाकर उन्होंने पाणिनि को उकसाया और उन्हें वररुचि के पराभव करने के लिये तैयार किया।

दो दिन तक वररुचि और पाणिनि का शास्त्रार्थ चला। पाणिनि वररुचि की बौद्धिक-प्रतिभा से चकित हो गये। परन्तु तीसरे दिन पाणिनि की प्रासादिक वाणी यशस्वी हो गई।

वररुचि को लगा की उसकी विद्या और बुद्धि प्रासादिक नहीं है। बौद्धिक चर्चाओं से प्राप्त विद्या शुष्क है-नीरस है। इसलिये अपनी विद्या को प्रासादिक बनाना चाहिये।

एक दिन प्रभात-वेला में वररुचि महाआमात्य-पद तथा अपनी पत्नी और माता को भी छोड़कर चला गया। इन्द्रदत्त ने शाक्यल को बुलाकर पुनः प्रधान-मंत्रित्व का पद सौंप दिया।

वररुचि की पत्नी उपकोषा अकेली रह गई। उसने सोचा-जब पति प्रधान मंत्री का पद त्यागकर चले गये हैं, तो फिर वह राज्य का पैसा कैसे ले सकती है ? उसने तेजस्विता के साथ राज्य का पैसा लेना अस्वीकार कर दिया। अब वह अपनी विधवा सास को लेकर उसकी सेवा में अपने दिन व्यतीत करने लगी।

परन्तु सौन्दर्य के भूखे भेड़िये मुँह फाड़कर बैठे ही थे। असहाय बनी सुन्दरी की सहायता करने के बहाने कौन उसके पीछे न दौड़ता ? राज्य के प्रतिष्ठित सत्ताधिकारी उसके पीछे लग गये।

मुख्य न्यायाधीश ललचाई कामुक दृष्टी से उसकी ओर देखकर कहता है-

"कब तक बाबा (साधु) की राह देखती रहोगी ? अपने इस खिलते यौवन पर तो तरस खाओ।"

नगर-सेठ आकर कहता है—"एक समय के मुख्य आमात्य की पत्नी ऐसी स्थिति में रहे, यह हमसे कैसे देखा जा सकता है ! मेरा घर आपका ही घर है। मेरे घर में आकर सुख-पूर्वक रहिये न !"

राज्य-पुरोहित की विकारी दृष्टि भी उपकोषा के अधरामृत का पान करने के लिये उपयुक्त अवसर की ढूँढ में थी। परन्तु सूर्य के समान तेजस्वी और प्रभावी तथा वररुचि जैसे महापुरुष की अर्धांगिनी उपकोषा इन सूअरों को थोड़े ही मुँह लगाने वाली थी !

चतुर उपकोषा ने बुद्धिमतापूर्वक मधुर-जाल बिछाकर इन तीनों महापुरुषों (!) की अंगूठिया उतरा की और उन्हें प्रमुख आमात्य शाक्यल के पास पहुँचाकर उन बुर्काधारियों के पापों को प्रकाशित कर उन्हें नग्न कर डाला।

वररुचि प्रासादिक विद्या प्राप्त कर पुनः वापस लौट आया। शाक्यल ने उससे पुनः प्रधान मंत्री-पद ग्रहण करने की प्रार्थना की, परन्तु उसने अस्वीकार करते हुये कहा कि 'मैं प्रभु का कार्य करूँगा और अपना योगक्षेम स्वयं सँभालूँगा। उपकोषा को साथ लेकर वह प्रभु-कार्य करने लगा।

वररुचि के अलग हो जाने के पश्चात् नंद की देह को धारण किया हुआ इन्द्रदत्त सुखोपभोग में डूब गया। वररुचि से अपने मित्र का अधःपतन सहन नहीं होता था, इसलिये उसने अनेक बार उसे भान कराया कि 'तू खोटे और पतित मार्ग पर जा रहा है। राजा बनकर ऐसा भोग-विलासी जीवन तेरे लिये शोभनीय नहीं है। अभी समय है, इसलिये विषय-भोगों का त्याग कर। यदि भोगों में ही लोटता रहेगा, तो याद रख मानव-जीवन मिलने वाला नहीं है, अभी मानव होकर पशु-जीवन जी रहा है, फिर श्वान और सूकर का ही जीवन मिलने वाला है।" राजा को इस प्रकार से कहने की हिम्मत निःस्पृही वररुचि ही कर सकता था।

वररुचि के बार बार टोकने से राजा बने और भोग विलास में डूबे इन्द्रदत्त के अहम् पर तीव्र आघात पहुँचा। उसका राज-मद जागृत हुआ और उसने वररुचि को प्राण-दण्ड की सजा सुना दी और शाक्यल को आज्ञा दी कि वह उसे मृत्यु-दण्ड दे दे।

शाक्यल का मानव हृदय धड़कने लगा। पर अपने ऊपर किये गये वररुचि के उपकार को नहीं भूला था। उसने वररुचि को जंगल में ले जाकर मुक्त कर दिया।

उपकोषा अपने पति को दिये गये मृत्यु-दण्ड को सहन नहीं कर सकी। दूसरी बार भी मुझे अपने पति का वियोग सहन करना पड़ेगा। इस विचार से ही पतिव्रता उपकोषा के नाजुक हृदय की धड़कन बन्द हो गई, वररुचि का गृहस्थ समाप्त हो गया।

वररुचि ने अपने हृदय के अंतराल से निकली हुई प्रासादिक भाषा में विपुल वाङ्मय का सृजन किया है। उन्होंने प्राकृत और संस्कृत भाषा में सामान्य लोगों को रुचिकर लगने वाला साहित्य लिखा है। वररुचि ने विन्ध्य पर्वत में रहने वाली वन्य जातियां-पिशाचों में बहुत बड़ा कार्य कर उनका उद्धार किया है।

जीवन के सन्ध्या काल में उन्होंने हिमालय में बद्रिकाश्रम की ओर प्रयाण किया। उनकी मृत्यु के सम्बन्ध में कहीं कोई उल्लेख नहीं मिलता।

इस अमर कर्मयोगी और ध्येयनिष्ठ भक्त हृदय को हमारा शतशः प्रणाम।

आत्म-बलिदान

आज से लगभग पन्द्रह सौ वर्ष पूर्व की बात है। शीतकालीन रात्रि का समय था, चारों ओर निःस्तब्धता छाई हुई थी। समस्त कौशाम्बी नगरी प्रगाढ़ निद्रा में सोई हुई थी। ब्राह्म-मुहूर्त की चांदनी में एक तेजस्वी ब्राह्मण युवक नदी में स्नान करने जा रहा था।

यह तेजस्वी युवक उद्भट विद्वान था। अपनी विद्या के कारण उसे समस्त संसार तुच्छ लगता था। रात्रि के गहन अंधकार में भी उसके मुख-मण्डल से विद्या का तेज फूट पड़ता था। उसकी तेजस्विता और प्रतिभा के कारण उसके सामने स्वभावतः प्रत्येक का मस्तक झुक जाता था। इस तत्त्वनिष्ठ और विद्या-प्रेमी तेजस्वी ब्राह्मण का नाम कुमारिल भट्ट था।

ज्यों ही उसने पतितपावनी सुरसरि के शांत गंभीर जल में डुबकी लगाई, त्यों ही दूर से उसके कान में किसी स्त्री का करुण क्रन्दन सुनाई पड़ा। सुनसान रात्रि में यह विलाप अत्यन्त कारुणिक और हृदय-विदारक लगता था। वह स्त्री रुदन करते हुये कह रही थी—" किं करोमि ? क्व गच्छामि ?" मैं क्या करूँ, कहाँ जाऊँ ?

कुमारिल भट्ट पानी से बाहर निकले और उस करुण-विलाप की दिशा में बढ़े। उन्होंने देखा कि जीर्ण-शीर्ण वस्त्रों में लिपटी हुई वैदिक संस्कृति ही स्त्री के रूप में विलाप कर रही थी—" मेरे वैभव-वेद के दिन भी छूट गये, यौवन के दिन चले गये और उनके साथ मेरे सुख-वैभव के दिन भी चले गये हैं। जिस संस्कृति और परंपरा को टिकाने के लिये सैकड़ों ऋषिमुनियों ने अपने खून का पानी बनाया था, अपना बलिदान दिया था, वही आज दीन-दरिद्र दशा में दर-दर की ठोकर

खा रही है। किसीको उसकी पीड़ा नहीं है। किसीको उसकी चिंता नहीं। है कोई माई का लाल! जो वेदों को फिर से खड़ा करे और वैदिक–जीवन का पुनरुत्थान कर उस दिव्य–संस्कृति को टिकावे ?"

वह ऐसा काल था, जब सामान्य प्रजा ने ही नहीं, राजाओं ने भी बुद्ध–धर्म अपना लिया था। एक सहस्र वर्ष तक भारत में बौद्धों का साम्राज्य रहा। बुद्ध–धर्म की नींव काफी गहरी पड़ चुकी थी। भारतेत्तर देशों मे भी बौद्ध–धर्म की पताका फहराती थी। भगवान बुद्ध ने समाज से सामाप्त हो गये नैतिक–मूल्यों को फिर से स्थापित कर लोगों को नैतिक जीवन जीना सिखाया था। परन्तु उनके पश्चात् उनके अनुयाइयों ने बुद्ध के जीवन–दर्शन को ठीक–ठीक न समझकर वेदों की उपेक्षा की और मूर्ति-पूजा को उड़ा दिया। फलतः वैदिक–धर्म और संस्कृति का ह्रास हुआ। बौद्ध–धर्म ने वेद–निष्ठा और मूर्ति–पूजा, जो वैदिक–धर्म और संस्कृति की दो पाँखे हैं, तोड़ डाली। पंखहीन पक्षी की तरह वैदिक–संस्कृति तड़फने लगी। हजारों वर्ष की परंपरा देखते–देखते नष्ट हो गई।

बौद्ध–धर्म को स्वीकार करने वाले राजाओं के साथ–साथ '**विनाश्रया न शोभन्ते पंडितावनिता लताः**' की उक्ति को बनाने और मानने वाले पंडितों ने राजाओं का विरोध करने के बजाय स्वयँ भी बौद्ध–धर्म को ग्रहण कर लिया। अंधानुकरण करने वाले समाज को तो यह भी खयाल नहीं रहा कि वह कब और कैसे बौद्ध–धर्मावलम्बी बन गया ?

आज लोगों को 'वेद' शब्द का भी पता नहीं है। कुछ लोगों का नाम और जाति वेद होती है, इसलिये शायद 'वेद' शब्द उनके कानों में पड़े। लोग दो भजन गाने और दो श्लोक बोलने वाले को वेदज्ञ और भक्त समझते हैं। फिर वेदों की खटपट में पड़ने से क्या लाभ ? आज भी पुनः वैदिक संस्कृति का मूक रुदन चल रहा है। समाज से उपेक्षित संस्कृति किसी माई के लाल को ढूंढ रही है, परन्तु कोई उनका पुनरुत्थान करने के लिये तैयार नहीं है।

वैदिक–संस्कृति के करुण–क्रंदन को सुनकर कुमारिल भट्ट ने दृढ़ता से कहा– "माँ! मैं तेरी रक्षा करूँगा, वैदिक संस्कृति को फिर से खड़ी करूँगा और यदि नहीं करसकूँगा, तो अपना देह–त्याग कर दूँगा।" स्त्री रूप धारी वैदिक संस्कृति आश्वस्त हो कर चली गई।

तत्कालीन सभी पंडित बौद्ध–विचार पद्धति को मानने लगे थे। राज्य–कोष का बहुत बड़ा अंग बौद्ध–धर्म के प्रचार में व्यय होता था। सामान्य प्रजा दीन और

यद्यपि पौराणिक कथाओं में बहुत गहरा अर्थ होता है, परन्तु सामान्यतः लोग उन्हें मनोरंजक कहानियों के रूप में ही अधिक जानते है। इन्द्र के पास सत्ता और सम्पत्ति है, उसे उसके जाने का सदा भय रहता हैं, इसलिये उसे सतत जाग्रत रहना पड़ता है। कोई ऋषि यदि तप करता है तो इन्द्र को डर लगता है कि वह मेरी सत्ता (इन्द्रासन) को छीनने के लिये ही तो तप नहीं कर रहा है? वह उसके तप को भंग करने के लिये एक आध अप्सरा भेज देता है। इसी प्रकार बौद्ध-धर्मावलम्बी राजाओं के आश्रयी पंडित भी कुमारिल भट्ट का विरोध करते थे। शंकराचार्य कहते हैं-'पुत्रादपि धनभाजाम् भीतिः।'

एक समय माघ मास में प्रयाग में एक बहुत बड़ा बौद्ध-सम्मेलन था। उसमें भारत भर के धर्माचार्यों, पंडितों और आचार्यों को बुलाया गया था। बौद्ध-धर्म के अतिरिक्त अन्य धर्मावलम्बियों को भी सम्मेलन में सम्मिलित होने की छूट दी गई थी। भारतवर्ष का मक्खन (Cream) ही उसमें एकत्रित हुआ था। कुमारिल भट्ट भी इस सम्मेलन में उपस्थित हुये थे।

कुमारिल भट्ट ने खड़े होकर इन धर्माचार्यों और पंडितों को ललकारते हुये पूछा-"आप हजारों वर्ष से चली आने वाली तेजस्वी वैदिक-संस्कृति की परंपरा को तोड़कर समाज को छिन्न-भिन्न क्यों करते हैं? समाज को क्यों बिगाड़ते है?" उन्होंने बौद्ध-पंडितों और आचार्यों के साथ शास्त्रार्थ कर उन्हें पराजित कर दिया। बौद्ध विद्वानों के तर्क समाप्त हो गये। पराजित बौद्ध-पंडितों ने शोर-गुल और हल्ला मचाकर धांधल शुरू कर दी, ताकि कोई कुमारिल भट्ट की विजय-घोषणा न सुन सके। इस प्रकार धांधल मचाकर उन्होंने कुमारिल भट्ट के आत्म-विश्वास को विचलित कर दिया। वैदिक-संस्कृति के समर्थक पंडित लोग डर से छिपे रहे। वे एकत्र और संगठित नहीं हुये। हताश और निराश कुमारिल भट्ट के सामने प्रश्न हुआ "किं करोमि = क्या करूँ?"

कुमारिल भट्ट को लगा-जब मैं इस शरीर से वैदिक-संस्कृति को पुनर्स्थापित करने का कार्य नहीं कर सकता, तो मुझे अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार अपना देह-त्याग कर देना चाहिये। संभव है उससे लोगों को कुछ प्रेरणा भी मिले। धर्म और संस्कृति का पौधा बलिदान से ही पनपता है।

कुमारिल भट्ट ने देह-त्याग के लिये जहर नहीं पिया, जल-समाधि नहीं ली और न लकड़ियों की चिता ही लगाई। उन्होंने धान के भूसे का एक बहुत बड़ा ढेर लगाया और उसमें आग लगाकर उसके ऊपर बैठ गये। इस क्रिया से दो-चार घंटों में शरीर के भस्म होने का प्रश्न नहीं था। भूसे की आग बहुत धीरे-धीरे उनके

शरीर को जलाने लगी। यह कल्पना ही कितनी भयावह है। उसका प्रत्यक्ष दृश्य कितना हृदय-विदारक रहा होगा? नदी में डूबकर या जहर पीकर प्राणान्त करना सरल है। कुमारिल भट्ट के देह-त्याग के दृश्य का वर्णन करना भी शक्य नहीं है। वह वर्णनातीत है, कल्पनातीत है।

कुमारिल भट्ट ने दिव्य और भव्य-वैदिक संस्कृति के लिये भगवद्-स्मरण करते हुये अग्नि-स्नान किया और आशा की कि अवश्य कोई नरवीर उसके आरम्भ किये हुये कार्य को पूर्ण करेगा।

कुमारिल भट्ट के आत्म-बलिदान को देखने के लिये लोगों की भीड़ जमा थी। कितनों को ही उसमें भव्यता, किसी को कायरता, किसी को उपहास और किसी को भयानकता दृष्टिगोचर होती थी। परन्तु किसी की भी यह हिम्मत न थी कि कुमारिल भट्ट को कह सके कि अपनी इस कंचन की काया को इस कठिन कसौटी पर मत चढ़ाओ, हम तुम्हारे साथ हैं, तुम्हारे साथ हम भी संस्कृति का कार्य करेंगे। इस प्रकार कई दिनों तक लोग इस अमर बलिदान को देखने आते और जाते रहते थे। सर्वत्र इस आत्म-बलिदान की चर्चा चलती थी।

एक दिन लोगों की इस भीड़ में एक तेजस्वी युवा सन्यासी आया। लोगों से पूछने पर जब उसे ज्ञात हुआ कि वैदिक-संस्कृति की पुनर्स्थापना हेतु एक पंडित अग्नि-स्नान कर अपना आत्म-बलिदान दे रहा है तो वह भीड़ को चीरते हुए कुमारिल भट्ट के सामने चला गया।

तेजस्वी और दृढ़ निष्ठावान कुमारिल भट्ट के आत्म-बलिदान को देखकर इस वीतराग सन्यासी का हृदय द्रवित हो गया। उसने मनो-मन कुमारिल भट्ट का वंदन किया। कुमारिल भट्ट के आत्म-बलिदान के पीछे की भावना को देखकर इस सन्यासी का मन आंदोलित हो गया। उसने कुमारिल भट्ट से जलते हुये भूसे के ढेर से नीचे उतरने के लिये प्रार्थना की।

कुमारिल भट्ट ने सगर्व कहा–" यतिवर! आप अभी नवयुवक हैं, मेरी समस्या बहुत बड़ी है, उसमें माथा-पच्ची करने की आपको आवश्यकता नहीं है। आप मुझे मेरे दिव्य कार्य से विरत करने का प्रयास न करें।"

"परन्तु मैं अपने सामने ऐसा नहीं होने दूँगा।" सन्यासी ने कहा।
" नहीं-नहीं, मुझे यह बलिदान देना ही होगा। तुम्हारा नाम क्या है? सन्यासी!"
कुमारिल भट्ट के मन में सन्तोष हुआ कि एक व्यक्ति तो सहानुभूति प्रकट करने वाला निकला!

"मुझे शंकराचार्य कहते हैं।" यह कहते–कहते शंकराचाय की आँखों में अश्रु प्रवाहित होने लगे।

कुमारिल भट्ट ने कहा– "यतिवर! यदि आँसू बहाना है तो मेरे लिये आँसू बहाने की आवश्यकता नहीं है। उस संस्कृति के लिये आँसू बहाओ जिसके लिये मैं आत्म–बलिदान दे रहा हूँ। जिस संस्कृति की छाया के नीचे मानवता खड़ी हुई, समाज में सैकड़ों गुणों का उद्भव हुआ और जिसके लिये हमारे पूर्वजों और ऋषियों ने अपना खून दिया है, आज वह तेजस्वी सांस्कृतिक परम्परा समाप्त हो गई है। तेजस्वी भक्ति, जीवन का उदात्त दृष्टिकोण और शास्त्रीय मूर्तिपूजा का लोप हो गया है। कहीं वेद–घोष नहीं सुनाई पड़ता। इसलिये वैदिक संस्कृति रो रही है। उसको आश्वस्त कर उसके पुनरुत्थान की आवश्यकता है।

मैं वैदिक संस्कृति के झंडे को लेकर गाँव–गाँव फिरा परन्तु पंडित लोग राज्याश्रित हो गये और बौद्धधर्मावलम्बी राजसत्ता के अधीन लोग मेरी बात को समझते हुये भी मानने को तैयार नहीं थे। वैभव–संपन्न लोगों को संस्कृति की चिंता नहीं। मैंने इस संस्कृति के उत्थान का बीड़ा उठाया था। बौद्ध–पंडितों और धर्माचार्यों को शास्त्रार्थ में पराजित भी किया, फिर भी लोगों ने वैदिक संस्कृति के विचारों की अवहेलना की है। इसलिये यदि तुम्हें उसके लिये सहानुभूति है, तो उसके विचारों को भारत के कोने कोने में पहुँचाकर मेरे अधूरे कार्य की पूर्ति करो।"

शंकराचार्य ने देखा कि कुमारिल भट्ट जिस बाह्य अग्नि में बैठा है, उससे सहस्त्रगुनी प्रचण्ड अग्नि उसके अन्तस्थल में जल रही है। इसलिये बाहर की अग्नि उसे तुच्छ लगती होगी।

श्रीमदाद्यशंकराचार्य जिस कार्य के लिये पैदा हुये थे, उसका श्रीगणेश हो गया। वे नीचे झुके, कुमारिल भट्ट को नमस्कार किया, जलती हुई चिता–भस्म लेकर अपने माथे पर लगाई और कहा–"तुम्हारा यह बलिदान सफल होगा, वैदिक–संस्कृति फिर से खड़ी होगी, मूर्ति–पूजा फिर से स्थापित होगी और 'सर्वं क्षणिकं सर्वं दुःखं' के विचार भारत में नहीं पनपने पायेंगे, उन्हें निर्वासन लेन पड़ेगा।

वेदों ने शरीर तथा सृष्टि को कभी खराब नहीं बताया है। निराशावादी बौद्ध–तत्वज्ञान ने 'सर्वं क्षणिकं, सर्वं दुःखं' की भ्रांत विचारधारा खड़ीकर मानव–जीवन और उसके सौन्दर्य को समाप्त किया है। आप विश्वास करें कि मैं

दिव्यता समझाई और बौद्ध-पंडितों और भिक्षुओं को शास्त्रीय पद्धति से वैदिक विचारों को समझाकर बदल डाला।

उन्होंने कहा-'सर्वं क्षणिकं सर्वं दुःखं' कहना सत्य से परे है। ऐसा कहने वाले बौद्ध-पंडित महान लगते हैं, पर ऐसा कहना सर्वथा मिथ्या है-अव्यावहारिक है। जीवन से विमुख तथा पराभूत करने वाली संस्कृति, मानव-संस्कृति नहीं हो सकती। भगवान श्रीकृष्ण ने तो गीता में कहा है- 'धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ।' जीवों में धर्मानुकूल काम भी मैं ही हूँ।" काम को भी जीवन में प्राधान्य दिया गया है। जगत को खराब, क्षणिक और दुःखमय कह कर भगवान के पास नहीं पहुँचा जा सकता। भगवान की बनाई हुई सृष्टि खराब कैसे हो सकती है? वह आनन्दमय है। उसका आनन्द लेते हुये ही भगवान तक पहुँचा जा सकता है। जिस प्रभु ने मानव-जीवन दिया है, उसी ने विषय-भोग भी दिये हैं। भोगों का त्याग करने की आवश्यकता नहीं है, बल्कि अनासक्त होकर उनको भोगना है। उनका उदात्तीकरण (Sublimation) करना चाहिये। भोग और त्याग का समन्वय ही वैदिक संस्कृति है।

श्रीमदाद्य शंकराचार्य ने अविरत अविश्रांत परिश्रम कर, अपने खून का पानी बनाकर भारत के एक छोर से दूसरे छोर तक घर-घर, गाँव-गाँव, झोंपड़ी-झोंपड़ी में व्यक्ति-व्यक्ति तक वैदिक संस्कृति को पहुँचा कर उसे पुनर्जीवित और पुनर्स्थापित किया। इसके लिये उन्होंने न तो राज्याश्रय लिया, न वैभव-सम्पन्न लोगों के पैर पकड़े और न राज्याधिकारियों की ही खुशामद की। उन्होंने नव युवकों को जीवंत प्रेरणा प्रदान कर इस कार्य के लिये तैयार किया।

आज हम 'साहबों' (अंग्रेजी) के डेढ़ सौ वर्षों के विचारों को निकालने में समर्थ नहीं हैं। जबकि शंकराचार्य ने एक हजार वर्षों से स्थापित बौद्ध-विचारों को हिमालय के उस पार मार भगाया था। उन्होंने हिमालय की चोटी पर खड़े होकर गर्जना की थी कि 'यह भारतीय संस्कृति का सीमा शिखर है। मैं इस पर वैदिक संस्कृति की पताका फहरा रहा हूँ, यदि किसी में शक्ति है तो झंडे को उखाड़कर दिखाये!

जिस समय मूर्तिपूजा की अवमानता हो रही थी, उस समय मूर्तिपूजा का ध्वज लहराकर यह ललकारने वाले की कितनी हिम्मत होगी कि "यदि किसी में शक्ति है, तो उसे उखाड़ कर दिखावे!" इस कार्य के लिये वे सुदूर दक्षिण (केरल-मद्रास) से बद्रीनाथ गये, बद्रीनाथ का शंकर मठ श्रीमदाद्य शकराचार्य द्वारा स्थापित वैदिक संस्कृति की विजय का ज्वलंत प्रतीक है। इसी प्रकार उन्होंने

भारत की चारों दिशाओं में चार मठ स्थापित कर कुमारिल भट्ट को दिये हुये अपने वचन को पूरा किया।

शंकराचार्य ने सोलह वर्ष की किशोर वय में ही इतना महान पुरुषार्थ किया था, परन्तु आज डेढ़ हजार वर्ष में ही पुनः आसुरी विचार पनपने लगे हैं, वैदिक-निष्ठा समाप्त होकर समाज का अधःपतन हो गया है। और किसी के भी मन में पीड़ा नहीं होती, किसी का हृदय नहीं जलता।

आचार्य के समय में वैदिक संस्कृति की जो विकट स्थिति थी, वह आज नहीं है। आचार्य को रहने के लिये ठिकाना, खाने के लिये दाना, चलने के लिये वाहन और प्रचार के साधन नहीं थे। राज-सत्ता विरोध में खड़ी थी, समाज सत्तानुगामी था, तथा पंडित राज्याश्रित थे। फिर भी समस्त भारत की पदयात्रा कर वे घर-घर में वेद, उपनिषद और गीता ले गये और उन्होंने भारतीय, वैदिक संस्कृति को जीवित किया।

आज चारों मठों के शंकराचार्यों के पास धन, अन्न, साधन-सामग्री और साधुवों की सेना है। धर्म और संस्कृति के सम्बंध में वैसी अति विपरीत स्थिति नहीं है। परन्तु खेद की बात है कि, ये आचार्य, ये धर्मगुरु अपनी आँखों से संस्कृति का पतन देखते और कानों से सुनते हुये भी कुछ करने के लिये तैयार नहीं हैं। मानों उनका सम्बन्ध केवल मठों, उनकी सम्पत्ति और जागीरों तक ही सीमित हैं, संस्कृति के उत्थान-पतन से उनका कोई सम्बन्ध ही नहीं है।

बहुत से लोगों का विचार है कि शंकराचार्य, भगवान का साक्षात्कार करने के लिये हिमालय में आये थे और बद्रीनाथ में उनको भगवान का साक्षात्कार हुआ था। यदि केवलाद्वैतवादी शंकराचार्य को भगवान के साक्षात्कार के लिये ठेठ दक्षिण (मद्रास) से हिमालय में जाना पड़ा, तो फिर वे शंकराचार्य ही काहे के? और केवलाद्वैती कैसे? वास्तव में उन्हें भगवान का साक्षात्कार पहिले ही हो चुका था और वे भगवद् कार्य के लिये निकले थे। वे हिमालय तक वैदिक धर्म की ध्वजा फहराते और बौद्ध-धर्म को हिमालय से बाहर करने के लिये ही वहाँ गये थे। उनके इस लोकोत्तर कर्तृत्व और पुरुषार्थ के कारण ही भारतीय ही नहीं विश्व के लोग उनके सामने नत-मस्तक होते हैं। उनकी कृपा से ही हमें पुनः वैदिक धर्म और संस्कृति मिली है।

आद्यशंकराचार्य ने कुमारिल भट्ट के अमर-बलिदान की पावन-स्मृति में जो धर्म-सभा आयोजित की थी, उसमें उन्होंने घोषणा की कि जब मकर राशि पर गुरु आवेंगे तब प्रति बारह वर्ष में यहाँ कुम्भ-मेला लगेगा। यहाँ वैदिक विचार के

लोगों का स्नेह–सम्मेलन होगा और वे वैदिक विचारों की चर्चा–विचारणा कर उसके प्रति लोगों की आस्था को दृढ़ करेंगे और उन विचारों को नये उत्साह और उमंग के साथ वापस जनता में ले जायेंगे।

दुर्भाग्य की बात है कि आज का कुम्भ केवल मेला मात्र रह गया है। जहाँ साधुओं के अखाड़े एकत्र होते हैं, भेड़–बकरियों की तरह लोगों की भीड़ जमा होती है। लाखों रुपयों के भंडारे कर अपने बड़प्पन और वैभव का प्रदर्शन किया जाता है। करोड़ों रुपया स्वाहा होता है और जिस पवित्र हेतु से कुम्भ–मेले की रचना और स्थापना की गई थी, उसका तथा उसके स्थापक शंकराचार्य का नाम भी नहीं लिया जाता।

वस्तुतः वैभव–सम्पन्न लोगों और सत्ताधिकारियों के पीछे श्वान की तरह पूँछ हिलाकर फिरने वाले लोगों के लिये वेद और संस्कृति नहीं है। जिसके हृदय में यह खुमारी है कि मैं ईश्वर का बेटा हूँ, मैं दीन–हीन, लाचार और क्षुद्र नहीं हूँ। जिसमें तेजस्विता और निर्भयता है। वही वेद और वैदिक–संस्कृति का उचित अधिकारी है और वही उसके दिव्य विचारों को घर–घर पहुँचा सकता है।

जहाँ प्रभु का कार्य करने वाले लोगों की चरण रज पड़ी, वही तीर्थ–स्थान बन गया। जिस स्थल पर कुमारिल भट्ट ने अपना अमर आत्म–बलिदान दिया, जहाँ भारत भर के संतो का चरण–स्पर्श हुआ और जहाँ पर श्रीमदाद्य शंकराचार्य ने वैदिक–धर्म और संस्कृति की विजय–घोषणा की, विजय पताका फहराई वही पवित्र त्रिवेणी संगम प्रयागराज है। यहीं पर आज भी प्रतीक स्वरूप ही सही प्रति बारह वर्ष में कुम्भ–मेला लगता है, जो महान आचार्य के महान पुरुषार्थ का स्मरण कराता है।

हम भगवान से प्रार्थना करेंगे कि वह हमें ऐसी शक्ति प्रदान करे कि हम भी कुमारिल भट्ट और श्रीमदाद्य शंकराचार्य के वैदिक विचारों को आत्मसात् कर घर–घर में पहुँचा सके। धन्य है यह भारतभूमि और उसकी संस्कृति!

संस्कृति–माता के सिंह–सपूत कुमारिल भट्ट और शंकराचार्य को कोटि कोटि प्रणाम!

— ० —

नील माधव

भारतवर्ष के पूर्व में समुद्र के किनारे जगन्नाथपुरी है। हजारों लोग इस मोक्षदायी पुरी के दर्शनार्थ जाकर अपना जीवन कृतार्थ करते हैं।

अयोध्या मथुरा माया काशी कांची अवंतिका।
पुरी द्वारावती चैव सप्तैता मोक्षदायिकाः॥

कितने ही लोग किसी कामना से और कितने ही निःसंग होकर जगन्नाथपुरी जाकर भगवान के दर्शन कर पावन होते हैं।

मन्दिर की बनावट सजावट अति सुन्दर और भव्य है, परन्तु उसके अन्दर हाथ-पैर विहीन लकड़ी की मूर्ति को देखकर मन को एक धक्का सा लगता है कि ऐसा क्यों हुआ होगा? मन्दिर में हाथ-पैर विहीन विचित्र मूर्ति क्यों और कैसे आई होगी? क्या इसका कोई इतिहास होगा?

आज से हजारों वर्ष पूर्व इस पुरी में इन्द्रद्युम्न नाम का राजा राज्य करता था। उसने सुनियोजित ढंग से इस सुन्दर और मनोहर पुरी को बसाया था। इस नगर के भव्य भवन, प्रासाद और महल उस काल की उत्कृष्ट वास्तु-कला के जीवंत नमूने हैं।

राजा ने विचार किया कि इतना सुन्दर योजना-बद्ध नगर तो निर्मित हो गया है, परंतु उसमें एक भव्य मन्दिर भी होना चाहिये, जो शिल्प-कला का सर्वोत्तम नमूना हो। उसने उत्कृष्ट कोटि के शिल्पियों को बुलाकर कहा कि इस प्रकार का सुन्दर आकर्षक और अद्भुत मन्दिर बनाओ जिसे देखकर दर्शक थोड़ी देर स्तब्ध होकर देखता ही रह जाय। लाखों रुपया व्यय कर अद्भुत कलाकृतियों द्वारा सुन्दर

तैयार हो गया, जिसे सुवर्ण–पुष्प और हीरा, माणिक, मुक्ता आदि रत्नों से जड़ित किया गया। दर्शक देखकर मुग्ध हो जाता और मन्दिर के साथ साथ राजा के कला–प्रेम की प्रशंसा भी करता था। अपना वर्णन सुनकर राजा प्रसन्न होता था।

एक दिन एक ब्राह्मण घूमते हुये वहाँ आया। मंदिर की भव्यता को देखकर वह आश्चर्यचकित हो गया। उसने राजा के कला–प्रेम की प्रशंसा की और कहा— "राजन्! इस भव्य मंदिर में किस (भगवान) की मूर्ति प्रतिष्ठित करोगे?"

राजा कुछ झेंप सा गया। उसने कहा—"मैंने एक उत्कृष्ट कलाकृतिमय मंदिर बनाने का ही विचार किया था। उसमें कौनसी मूर्ति रखी जाय, इसका तो मैंने विचार ही नहीं किया है! मेरे मन में तो एक ही लगन थी कि ऐसा सुन्दर मन्दिर बनाया जाय, जिसमें बसने की किसी भी देवता की इच्छा हो जाय।"

ब्राह्मण ने कहा–"महाराज! मैंने बहुत भ्रमण किया है, परन्तु इतना सुन्दर मन्दिर मैंने कहीं नहीं देखा! इस भव्य मंदिर में प्रतिष्ठित करने योग्य एक ही मूर्ति है और वह है–नील माधव की मूर्ति। आप इस मन्दिर में उसी मूर्ति की प्राण–प्रतिष्ठा करें।"

"परन्तु वह मूर्ति कहाँ मिलेगी?" राजा ने पूछा। ब्राह्मण ने कहा–"यहाँ से दूर नीलाचल पर्वत पर नील माधव की मूर्ति मिलेगी। यदि इस मंदिर मे वह मूर्ति आ जाय तो फिर कहना ही क्या है–'रत्नं समागच्छतु कांचनेन।' जिस प्रकार सोने के समागम से रत्न चमकता है, वैसे ही यह मंदिर भी चमक उठेगा।"

राजा ने चारों ओर अपने सैनिकों, दूतों और गुप्तचरों को भेजा, परन्तु कहीं नील माधव की मूर्ति का पता नहीं लगा। राजा थक गया। उसकी बुद्धि काम नहीं करती थी कि किस प्रकार से नील माधव की मूर्ति ढूंढी जाय? राजा ने आम सूचना प्रसारित की कि जो नील माधव की मूर्ति को ढूँढ लायेगा, उसका भव्य राजसी सम्मान होगा और वह पुरस्कृत किया जायेगा।

विद्यापति नाम के एक प्रखर बुद्धिशाली और चतुर युवा जासूस ने मूर्ति ढूंढ लाने का बीड़ा उठाया। वह भ्रमण करते–करते नीलाचल पर्वत क्षेत्र में पहुँचा। वहाँ भीलों की बस्ती थी। वे लोग परस्पर बड़े प्रेम से रहते थे। विद्यापति ने भीलों के प्रमुख को पूछा कि तुम लोग इतने प्रेम और शांति से किस प्रकार रहते हो।

शबर नेता ने संक्षिप्त उत्तर दिया–"नील माधव की कृपा से।" विद्यापति ने पूछा–"तुम्हारा वह नील माधव कहाँ रहता है?" "इसका तो किसी को पता नहीं।" भील ने उत्तर दिया।

विद्यापति ने सोचा—"क्या हाथ में आया हुआ शिकार छूट तो नहीं जाता? वह कुछ गहराई में उतरा और उसने कहा—"भाई! आखीर नील माधव की पूजा तो होती होगी? और यदि पूजा न होती हो तो उसकी कृपा कैसे होती है?"

उसने कहा—"केवल हमारा राजा विश्वावसु ही नील माधव की पूजा करता है। उसके अतिरिक्त उस स्थल का पता अन्य किसी को नहीं है।"

विद्यापति विश्वावसु के घर पर गया। विश्वावसु उस समय कहीं बाहर गया हुआ था। केवल उसकी इकलौती लड़की ही घर पर थी जो आंगन में बैठी हुई थी। लड़की यद्यपि श्याम वर्ण की थी परन्तु उसकी आँखों से सौन्दर्य टपकता था और खिले पुष्प के समान उसके मुख-मण्डल से यौवन का सौरभ निखर रहा था, जिससे उसके चतुर्दिक का वातावर मधुमय बना हुआ था। विद्यापति उसके आकर्षक स्वरूप और सौन्दर्य को देखकर मुग्ध हो गया।

शबर-कन्या भी विद्यापति के नागरी शिष्टाचार, भाषा तथा वाणी-कौशल को देखकर प्रसन्न होकर उसके प्रति आकर्षित हो गई। उसने विद्यापति का स्वागत किया, उसके मन में उसे अपने घर में टिकाने की इच्छा हुई।

पिता के आते ही पुत्री ने आगन्तुक की प्रशंसा करते हुये कहा—"पिताजी! ये बहुत अच्छे आदमी हैं, इन्हें अपने पास रख लीजिये, ये आपके बहुत काम आयेंगे।" विश्वावसु ने पुत्री की प्रार्थना को स्वीकार कर विद्यापति को अपने यहाँ रहने की अनुमति प्रदान कर दी।

विद्यापति नौजवान था, लड़की का यौवन भी खिलकर सौरभ बिखेर रहा था। दोनों का एक दूसरे के प्रति आकर्षण हुआ। विद्यापति को लगा कि ऐसी सौन्दर्यवान चतुर युवती यदि जीवन-संगिनी बने, तो इससे बढ़कर जीवन का दूसरा लाभ भी क्या है? इसी प्रकार उस लड़की को भी लगता था कि यदि ऐसा मन्द-सुन्दर नागरिक युवक जीवन-साथी मिले तो इससे बड़ा सौभाग्य क्या हो सकता है? प्रेमांकुर फूटे, खिले, पुष्पित और पल्लवित हुये और दोनों ने प्रेम-पाश में बंधने का निश्चय किया।

एक दिन विद्यापति ने लड़की को पूछा—"तेरे पिताजी नित्य सुबह-सुबह उठकर कहाँ जाते है?" उसने उत्तर दिया कि वे नील माधव की पूजा करने के लिये जाते हैं। विद्यापति ने प्रेम से कहा—"कितना अच्छा होता कि मैं भी नील माधव के दर्शन कर पाता!" शबर कन्या ने कहा—"नील माधव के दर्शन अभी तक किसी ने नहीं किये, मेरे पिताजी ही समस्त प्रजा की ओर से पूजन करते हैं।"

विद्यापति ने कहा—"जिसके प्रति संपूर्ण भील प्रजा का इतना भाव है और जिसकी कृपा से समस्त शबर जाति शांत और सुखी है, क्या तुम मुझे उसका दर्शन नहीं कराओगी ? यदि नहीं, तो फिर तुम्हारा मेरे प्रति सच्चा प्रेम नहीं है। मेरी नील माधव के दर्शन की बड़ी तीव्र इच्छा है। क्या शबर-राज की कन्या होकर भी तुम इतना नहीं कर सकती। तो मैं समझूँगा कि तुम्हारा मुझसे सच्चा प्रेम नहीं, बल्कि प्रेम का नाटक है।"

"परंतु मेरे पिताजी कैसे मानेंगे ?" लड़की ने कहा।

"अरे पगली! यदि हम दोनों विवाह-बन्धन में बंधकर एक हो जायेंगे, तो तुम्हारे पिता मेरे पिता भी हो जायेंगे। फिर तेरे पिता मुझसे भेद-भाव ही क्यों करेंगे ?"

दूसरे दिन लड़की ने पिता से हठ किया कि विद्यापति को नील माधव के दर्शन कराओ। पिता ने लड़की को बहुत समझाया और कहा—"बेटी! ये नगर के रहने वाले नागरिक लोग हैं, इनका क्या भरोसा करना ? उन पर विश्वास भी नहीं करना चाहिये।"

परन्तु लड़की ने हठाग्रह पकड़ लिया। वह किसी प्रकार मानने के लिये तैयार न थी। भील राज की वह अकेली लाड़की बेटी थी, उसके जीवन का सर्वस्व थी। बचपन से ही उसने माँ का प्यार नहीं पाया था, इसलिये पिता से ही उसको माँ का प्रेम मिला था। पिता को वह प्राणों से भी प्रिय थी। इसलिये वह लड़की के आग्रह के सामने झुक गया।

परन्तु अनुभवी विश्वावसु विद्यापति पर विश्वास करने के लिये तैयार न था। इसलिये उसने कहा—"मेरी एक शर्त मानने के लिये यदि वह तैयार हो तो मैं उसे नील माधव के दर्शन कराने के लिये तैयार हूँ। शर्त यह है कि उसे संपूर्ण मार्ग में आँखों पर पट्टी बांधकर वहाँ ले जाया जायेगा।"

लड़की ने जब विद्यापति को यह बात बताई, तो उसने कहा कि उसे तो मात्र नील माधव के दर्शन करने हैं, इसलिये उसे इसमें कोई आपत्ति नहीं है।

विश्वावसु दूसरे दिन विद्यापति की आँखों में पट्टी बांधकर अपने साथ ले गया। चतुर जासूस विद्यापति अपनी जेब में सरसों के बीज ले गया था। वह विश्वावसु के पीछे चलते हुये सारे मार्ग में सरसों के बीज बिखेरता गया। विश्वावसु ने एक गुफा के अन्दर ले जाकर उसके आँखों की पट्टी खोल दी। विद्यापति ने नील

माधव के दर्शन किये। अनेक सूर्यों के प्रकाश से भी अधिक प्रकाशमय मूर्ति के दर्शन कर वह दिग्मूढ़ हो गया और एकटक उसे ही देखता रह गया।

विश्वावसु और विद्यापति दोनों ने मूर्ति के दर्शन किये, परन्तु विद्यापति की आँखों का भाव कुछ भिन्न ही था। उसमें भक्तिभाव के स्थान पर लोभ था। वस्तुतः वह भगवान के दर्शन कर कृतार्थ होने नहीं आया था, उसका हेतु कुछ और ही था।

विश्वावसु ने विद्यापति की आँखों के भावों को पढ़ा और उसके कान पकड़ कर कहा—"तू भगवान के दर्शन करने नहीं, किसी अन्य हेतु से आया है, इसलिये तुझे यहाँ से वापस नहीं जाने दिया जायेगा।" ऐसा कह उसे एक गुफा में बन्द कर दिया।

शबर कन्या को इस समाचार से भारी धक्का लगा। बहुत ढूँढ-खोज करने पर तीन दिन के पश्चात् उसे विद्यापति का सुराग मिला और वह गुप्त रीति से उसके लिये खाना ले जाने लगी।

एक दिन भील-कन्या ने गुफा में बन्दी बने हुये विद्यापति से कहा कि वह उसके साथ शादी क्यों नहीं करता? विद्यापति ने उत्तर दिया कि मैं बन्दी अवस्था में शादी किस प्रकार से कर सकता हूँ? और एक बात कहूँ कि मेरे राजा मेरा बहुत बड़ा सम्मान करने और मुझे पुरस्कार देने वाले हैं। उसके पश्चात् मैं बाजे-गाजों के साथ आकर तुमसे विवाह कर तुझे ले जाऊँगा।"

शबर-कन्या ने विद्यापति की बात पर विश्वास करके तथा अपने रंगीन शृंगार के सुनहरे स्वप्नों की कल्पना करके विद्यापति को गुफा से मुक्त कर भारी हृदय से विदा दी। विद्यापति ने भी उसको विश्वास दिलाया कि वह अवश्य वापस आकर उसका पाणिग्रहण कर उसे ले जायेगा।

जगन्नाथपुरी में राजा इन्द्रद्युम्न विद्यापति की उत्सुकतापूर्वक प्रतीक्षा कर रहा था। विद्यापति के वापस आते ही उसने पूछा—"इतने समय तक कहाँ रहे? क्या नील माधव की मूर्ति मिली? कैसी है? अपने मंदिर में उसकी शोभा कैसी रहेगी?"

विद्यापति ने कहा—"महाराज! मूर्ति तो मिली है, अत्यन्त सुन्दर, अद्भुत, दैदीप्यमान और तेजोमय है, अनेकों सूर्यों के समान उसका तेज चमकता है, मैंने ऐसी मूर्ति कभी देखी नहीं। परन्तु उसका उपलब्ध होना बहुत कठिन और असम्भव है।" ऐसा कहकर उसने सारा हाल कह सुनाया।

"अति कठिन ! असम्भव !! इन्द्रद्युम्न के लिये कुछ भी कठिन या असम्भव नहीं है । तुम मेरी सारी सेना को ले जाकर शबरों को पराजित कर मूर्ति को ले आओ।"

विद्यापति ने शाही सेना की सहायता से शबर-राज को पराजित कर दिया। उसने पहिले जो सरसों के बीज बिखेरे हुये थे, अब वे उग आये थे। उन पौधों के चिन्हों को देखते हुये, वह सेना सहित गुफा के द्वार पर पहुँचा। गुफा के अन्दर प्रवेश करने पर उसने देखा की मूर्ति वहाँ से अन्तर्धान हो गई है। विद्यापति निराश होकर लौट पड़ा और उसने राजा को बतलाया कि मूर्ति गुफा से अदृश्य हो गई है।

इस समाचार को सुनकर राजा उद्विग्न हो गया। इन्द्र के वैभव को भी लज्जित करने वाला तथा अमरावती में भी जैसा मंदिर नहीं होगा, ऐसे मंदिर में भगवान की मूर्ति नहीं है, इस विचार में डूबा हुआ इन्द्रद्युम्न सागर-तट पर चिन्ता-मग्न बैठा था। इसी समय भगवान ने उसे दर्शन देकर कहा-"राजा! तू अहंकार से बलपूर्वक नीलमाधव की मूर्ति लेना चाहता था। शबरों का जैसा भाव तुझमें नहीं था। इसीलिये मूर्ति अदृश्य हुई है। तू उस मूर्ति को उसी प्रकार मंदिर की सजावट के लिये रखना चाहता था, जैसे कोई अपने संग्रहालय को उत्कृष्ट कला-कृतियों से सजाकर रखना चाहता है। परन्तु इस बात को ध्यान में रखना कि यदि तू अहंकार और अभिमान से मुझे ले जाना चाहता हो तो मैं कभी भी तेरे मन्दिर में नहीं आ सकता।"

"तो प्रभु! आप किस प्रकार से आयेंगे?"

"राजा! भगवान जिस प्रकार रोने से नहीं मिलते उसी प्रकार अहंकार से भी नहीं मिलते। यदि तुझे भगवान जगन्नाथ को अपने मंदिर में लाना हो तो अपने वैभव का उपयोग इस प्रकार से कर जिससे भक्ति और श्रद्धा-हीन दुर्बल और लाचार लोगों में श्रद्धा, भक्ति और तेजस्विता का निर्माण हो। निस्तेज और दीन-हीन लोगों के शरीर के अन्दर रहकर भगवान को कितनी व्यथा होती होगी, इसकी तनिक कल्पना तो कर! अस्तु-तू यज्ञ कर।"

इन्द्रद्युम्न अपनी भूल को समझ गया कि भगवान उन्मत्त, अहंकारी अथवा रुदन करते रहने वाले के यहाँ नहीं आते। भगवान को निमंत्रण देने की भी आवश्यकता नहीं, निमंत्रण देने पर आने वाला मनुष्य और बिना निमंत्रण के आने वाला भगवान है। मानव यदि भगवान का कार्य करने लगे, तो भगवान को आये बिना छुटकारा ही नहीं है। यह चिरंतन सत्य वह समझ गया।

थे, फलतः लोक-जीवन सुसंस्कृत, दिव्य, भव्य, तेजस्वी, शांत, सुखी और समाधानी बनता था।

आज यज्ञों का रूप विकृत हो गया है। साढ़े आठ-नौ बजे ब्राह्मण एकत्रित होते हैं। नौ-दस बजे जरा जोश लाने के लिये चाय-पानी पीते हैं। उन बेचारों को अग्नि से तो जोश मिलता ही नहीं है, इसलिये वे भी क्या करें? दोन-तीन बजे तक यज्ञ चलता है। फिर ब्राह्मण थककर सो जाता है। तब ऐसे यज्ञों से तेजस्वी जीवन कहाँ से और कैसे मिलेगा?

राजा ने विधि-विधान से पाँच-पाँच सौ निष्ठावान सुयोग्य ब्राह्मणों के द्वारा एक सौ यज्ञ किये। परिणामस्वरूप लोगों का जीवन भक्तिमय और तेजस्वी बना। उनका भाव-जीवन पुष्ट हुआ और वे दिव्य, भव्य और तेजस्वी मानव-जीवन जीने लगे।

राजा ने निश्चय कर लिया था कि भगवान को बुलाना नहीं है, वे निमंत्रण देने से नहीं आते। उसने भगवान की इस विशिष्टता को समझ लिया था। इतना महान कर्मयोग करने पर भी जब राजा ने यह भी इच्छा नहीं की कि भगवान कब आयेंगे उसके भगवान तब कर्मयोग तथा जीवन की पवित्रता से प्रसन्न हो गये। एक दिन रात्रि को जब वह सो रहा था, भगवान ने उसके स्वप्न में आकर कहा कि इस सप्ताह के अन्दर तेरे सागर-तट पर एक मोटी लकड़ी (पेड़ का तना) बहती हुई आयेगी, जिस पर शंख, चक्र, गदा, पद्म के चिन्ह अंकित होंगे। तू उस लकड़ी से मूर्ति बनाना।

दो-तीन दिनों के पश्चात् शबर-द्वीप से एक पेड़ का तना बहता हुआ सागर तट पर आ लगा। राजा के सेवकों ने जो इसके लिये नियुक्त किये गये थे, राजा को इसकी सूचना दी। भगवान स्वयँ पधारे हैं, यह देखकर राजा प्रसन्न हो गया। उसने भाव-पूर्वक इस तने को स्पर्श कर नमस्कार किया।

धन्य है इस कर्मयोगी राजा को जिसने इस निष्ठा के साथ उतने भव्य मंदिर को खाली रखना पसन्द किया कि जब भगवान स्वयँ पधारेंगे तभी मूर्ति की स्थापना करूँगा। जहाँ प्रभु की स्वीकृति (Sanction) होती है, वही वास्तविक तीर्थ बनता है।

राजा ने इस लकड़ी से मूर्ति गढ़ने के लिये कलाकारों और मूर्तिकारों को नियुक्त किया, परन्तु आश्चर्य की बात यह थी कि उनके हथियार उस पर चलते ही नहीं थे। इतनी तपश्चर्या करने पर मूर्ति निर्माण करने के लिये लकड़ी प्राप्त हुई, पर उस पर हथियार ही नहीं चलते, यह देखकर राजा को बहुत बड़ी निराशा हुई। फिर भी

इस दृढ़ आत्म-विश्वास के साथ वह अपने कर्मयोग पर जुटा रहा कि प्रभु को मेरा कर्मयोग अच्छा लगेगा तो वे अवश्य ही पधारेंगे।

कुछ दिनों के पश्चात् वहाँ एक वृद्ध कारीगर आया। वह अच्छी तरह आँख भी नहीं देख सकता था। उसने राजा से कहा कि वह उस लकड़ी से मूर्ति बना सकता है, परन्तु उसकी एक शर्त है कि वह मंदिर के गर्भागार में ही मूर्ति बनायेगा और इक्कीस दिन तक गर्भ-गृह के खिड़की-दरवाजे बन्द रखने पड़ेंगे। तीन सप्ताह में वह मूर्ति तैयार कर देगा।

लोगों को लगा कि इतने सारे चतुर कलाकार कुछ नहीं कर सके तो यह बूढ़ा कारीगर जो आँखें भी अच्छी तरह से नहीं देख सकता, क्या कर सकता है? इस अद्भुत कारीगर की इस शर्त से कि मंदिर के गर्भ-स्थल के खिड़की-दरवाजे बन्द रखे जाँय। लोग शंकाशील हुये कि कहीं वह मंदिर के मूल्यवान जवाहरात और स्वर्ण-पुष्पों को तो न निकाल ले? परन्तु राजा का इस वृद्ध कारीगर पर विश्वास बैठ गया और उसने लकड़ी उसके सुपुर्द कर दी। इस विश्व-ब्रह्माण्ड का कारीगर भी वृद्ध ही तो है न! 'कविं पुराणमनुशासितारम्।'

इस वृद्ध कारीगर का नाम अनन्त था। उसको लकड़ी के सहित मंदिर में बन्द कर बाहर से ताला लगा दिया गया। सभी खिड़की-दरवाजे भी बन्द कर दिये गये। अनन्त नामी कारीगर ने अपने हथियारों से मूर्ति गढ़ने का कार्य प्रारम्भ कर दिया

लोगों को कारीगर की शर्त को स्वीकार करना राजा की [illegible] राजा के मुँह के सामने कौन कहे? गली-मुहल्लों में राजा की [illegible] और मजाक उड़ाई जाती थी। घर में रानी भी [illegible] वाले सारा करती थी। मानव इसके सामने [illegible] सामने ठंडा पड़ जाता है और तब यह जानना [illegible] कठिन है।

रानी की रात-दिन की टक-टक से राजा की दृढ़ता शिथिल पड़ गई। सातवें दिन उसने कहा-"हो सकता है कि तेरी बात सत्य हो।"

सातवें दिन राजा ने मंदिर को खोलने की आज्ञा दी। मंदिर के खुलने पर देखा गया कि उसके जवाहरात यथावत् थे। मंदिर के गर्भ से अनन्त कारीगर अदृश्य था। वहाँ पड़ी हुई लकड़ी बिना हाथ-पैर की मूर्ति के रूप में पड़ी थी, जिसका मात्र सिर और मुँह ही बना था।

यह देखकर राजा को तीव्र व्यथा हुई। उसने कहा-"प्रभु! मेरे मंदिर के लिये मूर्ति गढ़ने के लिये आप स्वयँ ही आये थे, परन्तु मैं अकर्मी आप पर विश्वास नहीं कर सका। प्रारम्भ में मैं अहंकारी बना और अब अविश्वासी!" राजा की आँखों से अश्रुप्रवाहित होने लगे। वह गद्गद् और आर्त स्वर में भगवान को स्मरण करने लगा। इसी समय आकाशवाणी हुई—

"यह एक महान कर्मयोगी का मंदिर है। उसमें इस मूर्ति की प्राणप्रतिष्ठा कर। यह मूर्ति कर्मयोगी लोगों को आशीर्वाद, आश्वासन और मार्ग-दर्शन प्रदान करेगी। मुझे किसी से कुछ लेना और किसी को कुछ देना नहीं है, इसलिये उसके हाथ नहीं। यहाँ से कहीं जाना नहीं है, इसलिये पैर नहीं है। मात्र देखना है, इसलिये आँखें हैं।"

हजारों वर्षों से जगन्नाथपुरी में अवस्थित प्रभु की मूर्ति कर्मयोगियों को आशीर्वाद, आश्वासन और मार्ग-दर्शन प्रदान कर रही है। वह उपदेशात्मक मूर्ति है। वह समझाती है कि जिसे प्रभु-कार्य करना है, ऐसे कर्मयोगियों को अहँकार नहीं करना चाहिये तथा भगवान पर पूर्ण विश्वास रखना चाहिये। प्रभु-कार्य करते समय लोग, घरवाली, यार-दोस्त और मित्र तुमको प्रभु-कार्य से विरत करने का प्रयत्न करेंगे, परन्तु तुमको प्रभु-कार्य से च्युत नहीं होना चाहिये।

जगन्नाथपुरी में भगवान की मूर्ति के दर्शन करने पर यह मार्ग-दर्शन लेना चाहिये कि भगवान अहंकार, अभिमान, रोने से या खुशामद करने से नहीं आते।

सामान्य मानव भी किसी स्वस्थ, स्वच्छ, सुन्दर और हसते हुये बालक को गोद में उठाकर प्यार करने लगता है। परंतु किसी गंदे, दुर्बल और रोते हुये बच्चे को गोद में नहीं उठाता। अधिक से अधिक लम्बा हाथ कर उसे एक आध चाकलेट या बिस्कुट थमा देता है। जगन्नाथपुरी की मूर्ति यह आश्वासन प्रदान करती है कि ऐसा स्वस्थ, सुंदर, स्वच्छ और विश्वात्मक जीवन जीओ कि भगवान को उसमें आकर अपनी थकान उतारने का प्रलोभन हो।

पुरी में मूर्ति के दर्शन करते समय गरजते हुये सागर के दर्शन भी करने चाहिये तथा उन दोनों के पीछे खड़े रहने वाले इन्द्रद्युम्न को भी नहीं भूलना चाहिये। जिस महान कर्मयोगी के कर्तृत्व से भगवान को पुरी में आना पड़ा उसे कैसे भूला जा सकता है। जो जगत को मार्ग-दर्शन देने वाले चरित्र के उस कर्मयोगी को विस्मरण करेगा तो उसे यात्रा का सुफल तो क्या पर पाप ही लगेगा।

जिस कर्मयोगी के अन्तःकरण में प्रभु-कार्य के लिये उत्कटता होगी तथा जो भावपूर्ण तेजस्वी जीवन जीता होगा, उसके भाव-भीने हृदय को देखकर भगवान दौड़ते हुये आयेंगे और उन्हें मुक्ति प्रदान करेंगे।

हम भगवान से प्रार्थना करेंगे कि जिस युक्ति और शक्ति से इन्द्रद्युम्न ने भगवान जगन्नाथ को बुलाया है, वही युक्ति और शक्ति वे हमको भी दें और हम भी कर्मयोग द्वारा प्रभु के प्यारे पुत्र बन सकें।

— o —

सत्याग्रही प्रल्हाद

मानव-जीवन पर दृष्टिपात करने से ज्ञात होता है कि किसी काल में मानव ऊर्ध्वगामी बनकर उत्कर्ष के शिखर पर पहुँच गया, तो कभी अधःपतन के गहन गर्त में भी चला गया था।

आज से लगभग ग्यारह हजार वर्ष पूर्व ऐसा ही एक समय था, जब कि मानव का जीवन-लक्ष्य एक मात्र भोग ही बन गया था। भोग के अतिरिक्त दूसरा विचार ही नहीं था। पढ़ना किसलिये? भोग के लिये। धनार्जन क्यों करना? अधिकतम भोग प्राप्त करने के लिये। 'यावज्जीवेत् सुखं जीवेत्' जब तक जीवन है, तब तक खूब आनन्द लूट लो, मानव इस भ्रांत विचारधारा में डूबा हुआ था। इस भोगी विचार-धारा का सूत्रधार एक बीस वर्षीय सम्राट था। वह शूर तथा कर्तृत्ववान था किन्तु सत्ता-सम्पत्ति के नशे में उन्मत्त और भोगवादी बन गया था। उसका नाम हिरण्यकश्यपु था।

हिरण्यकश्यपु ने धर्म और नीति के बन्धनों को अमान्य कर दिया था। वह ऋषि-मुनियों की श्रेष्ठता को मानने के लिये तैयार न था, क्योंकि उससे उसकी कनिष्ठता सिद्ध होती थी। सत्ता-सम्पत्ति के नशे में चूर हिरण्यकश्यपु कहता था- "दुनियाँ में मैं ही सर्वश्रेष्ठ और पूजनीय हूँ। मै तुम्हारा सम्राट हूँ, तुम्हारा रक्षण और पोषण करता हूँ। मैं तुम्हारी सम्पूर्ण आवश्यकताओं को पूर्ण कर तुमको सुखी रखता हूँ। मैं यदि चाहूँ तो तुम्हें दुःख में डुबो सकता हूँ।"

'हम अपना रक्षण स्वयं कर लेंगे,' ऐसा कहने वाले राक्षस होते हैं। हिरण्यकश्यपु ऐसा ही राक्षस था। वह कहता था-" हम खाना खाते हैं और हम ही पचाते हैं। भगवान कहाँ है? वह दिखाई देता है क्या? भगवान को मानना

दुर्बलों का तत्त्वज्ञान है। हम समर्थ हैं, बलवान हैं, हमें किसी शक्ति के रक्षण की अपेक्षा नहीं है।" राक्षस कुछ भयानक शक्ल वाला नहीं होता, वह सुन्दर चेहरे वाला, अप–टु–डेट सूट पहिनकर घूमता है।

हिरण्यकश्यपु की आँखों में सोना ही दिखाई देता था, इसलिये वह 'हिरण्याक्ष' था। आज भी बहुत से व्यक्ति ऐसे होते हैं जिनकी आँखों में सोना ही सोना दिखाई देता है। वे मंदिर में जाते हैं तो वहाँ भी उनको सोना ही दिखाई देता है। उनकी दृष्टि भगवान के आभूषणों पर ही पड़ती है।

हिरण्यकश्यपु ने समस्त समाज में ऐसा ही जहर फैला दिया था। वह कहता था कि ईश्वर को मानना तथा परम्परा पर चलना गुलामी मनोवृत्ति है। उसके राज्य में इसी प्रकार की शिक्षा दी जाती थी। उसके खुशामद खोर लोग सामान्य प्रजाजन मे प्रचार करते थे कि तुमको हल, बैल, बीज, सुख–सुविधा तथा समस्त जीवनोपयोगी वस्तुयें हिरण्यकश्यपु देता है और वही रक्षा करता है, इसलिये वही हमारा भगवान है, उसी का नाम स्मरण और पूजन करना चाहिये। विद्यालयों मे उसी की मूर्ति होती थी। लोग उसके चरणों में नत–मस्तक होते और उसे भगवान मानते थे। उसने पच्चीस वर्ष की अवधि में अपनी सम्पूर्ण प्रजा को भोगवादी और ईश्वर–विमुख बना दिया था। उसका राज्य भौतिक दृष्टि से सुखी था, परन्तु संस्कारी और दैवी नहीं था।

भोगवादी, असंस्कारी और ईश्वर–विमुख शिक्षण के फलस्वरूप प्रजाजन कृतघ्नी बनने लगे थे। पुत्र पिता की अवज्ञा कर उसकी उपेक्षा और विरोध करने लगे थे। पुत्र पिता के लिये कहने लगे–"तुम अपने पिता की आज्ञा का उल्लंघन करते हो, तो मै क्यों तुम्हारी आज्ञा का पालन करूँ?"

इस असंस्कारी समाज रूपी कीचड़ से एक सुन्दर कमल उत्पन्न हुआ। राक्षस–राज हिरण्यकश्यपु का एक पुत्र–रत्न पैदा हुआ। यह बालक अत्यन्त सुन्दर था और शशि–कला की भांति दिन–दिन बढ़ने लगा। जब वह तीन वर्ष का हुआ तो भगवान का नाम लेने लगा। उसने भगवान का नाम सुना भी न था। इस चमत्कार को देखकर हिरण्यकश्यपु किंकर्तव्य विमूढ़ हो गया। मेरा पुत्र और उसके मुँह से भगवान का नाम! दुनियाँ मेरा नाम लेती है, उसने भगवान का नाम कहाँ से सीखा? खैर! अभी शिशु है, दो–चार वर्षों में भूल जायेगा। ऐसा मानकर उसने अपने को आश्वस्त किया।

इस बालक का नाम प्रल्हाद था। अब वह सात वर्ष का हो गया, परन्तु उसका पागलपन जारी था। हिरण्यकश्यपु को लगा कि ऐसा कुपुत्र मेरे घर में कहाँ से आ

सत्याग्रही प्रल्हाद

मानव-जीवन पर दृष्टिपात करने से ज्ञात होता है कि किसी काल में मानव ऊर्ध्वगामी बनकर उत्कर्ष के शिखर पर पहुँच गया, तो कभी अधःपतन के गहन गर्त में भी चला गया था।

आज से लगभग ग्यारह हजार वर्ष पूर्व ऐसा ही एक समय था, जब कि मानव का जीवन-लक्ष्य एक मात्र भोग ही बन गया था। भोग के अतिरिक्त दूसरा विचार ही नहीं था। पढ़ना किसलिये? भोग के लिये। धनार्जन क्यों करना? अधिकतम भोग प्राप्त करने के लिये। 'यावज्जीवेत् सुखं जीवेत्' जब तक जीवन है, तब तक खूब आनन्द लूट लो, मानव इस भ्रांत विचारधारा में डूबा हुआ था। इस भोगी विचार-धारा का सूत्रधार एक बीस वर्षीय सम्राट था। वह शूर तथा कर्तृत्ववान था किन्तु सत्ता-सम्पत्ति के नशे में उन्मत्त और भोगवादी बन गया था। उसका नाम हिरण्यकश्यपु था।

हिरण्यकश्यपु ने धर्म और नीति के बन्धनों को अमान्य कर दिया था। वह ऋषि-मुनियों की श्रेष्ठता को मानने के लिये तैयार न था, क्योंकि उससे उसकी कनिष्ठता सिद्ध होती थी। सत्ता-सम्पत्ति के नशे में चूर हिरण्यकश्यपु कहता था- "दुनियाँ में मै ही सर्वश्रेष्ठ और पूजनीय हूँ। मैं तुम्हारा सम्राट हूँ, तुम्हारा रक्षण और पोषण करता हूँ। मैं तुम्हारी सम्पूर्ण आवश्यकताओं को पूर्ण कर तुमको सुखी रखता हूँ। मैं यदि चाहूँ तो तुम्हें दुःख में डुबो सकता हूँ।"

'हम अपना रक्षण स्वयँ कर लेंगे,' ऐसा कहने वाले राक्षस होते हैं। हिरण्यकश्यपु ऐसा ही राक्षस था। वह कहता था-" हम खाना खाते हैं और हम ही पचाते हैं। भगवान कहाँ है? वह दिखाई देता है क्या? भगवान को मानना

दुर्बलों का तत्त्वज्ञान है। हम समर्थ हैं, बलवान हैं, हमें किसी शक्ति के रक्षण की अपेक्षा नहीं है।" राक्षस कुछ भयानक शक्ल वाला नहीं होता, वह सुन्दर चेहरे वाला, अप-टु-डेट सूट पहिनकर घूमता है।

हिरण्यकश्यपु की आँखों में सोना ही दिखाई देता था, इसलिये वह 'हिरण्याक्ष' था। आज भी बहुत से व्यक्ति ऐसे होते हैं जिनकी आँखों मे सोना ही सोना दिखाई देता है। वे मंदिर मे जाते हैं तो वहाँ भी उनको सोना ही दिखाई देता है। उनकी दृष्टि भगवान के आभूषणों पर ही पड़ती है।

हिरण्यकश्यपु ने समस्त समाज मे ऐसा ही जहर फैला दिया था। वह कहता था कि ईश्वर को मानना तथा परम्परा पर चलना गुलामी मनोवृत्ति है। उसके राज्य में इसी प्रकार की शिक्षा दी जाती थी। उसके खुशामद खोर लोग सामान्य प्रजाजन में प्रचार करते थे कि तुमको हल, बैल, बीज, सुख-सुविधा तथा समस्त जीवनोपयोगी वस्तुयें हिरण्यकश्यपु देता है और वही रक्षा करता है, इसलिये वही हमारा भगवान है, उसी का नाम स्मरण और पूजन करना चाहिये। विद्यालयों मे उसी की मूर्ति होती थी। लोग उसके चरणों मे नत-मस्तक होते और उसे भगवान मानते थे। उसने पच्चीस वर्ष की अवधि मे अपनी सम्पूर्ण प्रजा को भोगवादी और ईश्वर-विमुख बना दिया था। उसका राज्य भौतिक दृष्टि से सुखी था, परन्तु संस्कारी और दैवी नहीं था।

भोगवादी, असंस्कारी और ईश्वर-विमुख शिक्षण के फलस्वरूप प्रजाजन कृतघ्नी बनने लगे थे। पुत्र पिता की अवज्ञा कर उसकी उपेक्षा और विरोध करने लगे थे। पुत्र पिता के लिये कहने लगे-"तुम अपने पिता की आज्ञा का उल्लंघन करते हो, तो मै क्यों तुम्हारी आज्ञा का पालन करूँ?"

इस असंस्कारी समाज रूपी कीचड़ से एक सुन्दर कमल उत्पन्न हुआ। राक्षस-राज हिरण्यकश्यपु का एक पुत्र-रत्न पैदा हुआ। यह बालक अत्यन्त सुन्दर था और शशि-कला की भांति दिन-दिन बढ़ने लगा। जब वह तीन वर्ष का हुआ तो भगवान का नाम लेने लगा। उसने भगवान का नाम सुना भी न था। इस चमत्कार को देखकर हिरण्यकश्यपु किंकर्तव्य विमूढ़ हो गया। मेरा पुत्र और उसके मुँह से भगवान का नाम! दुनियां मेरा नाम लेती है, उसने भगवान का नाम कहाँ से सीखा? खैर! अभी शिशु है, दो-चार वर्षों में भूल जायेगा। ऐसा मानकर उसने अपने को आश्वस्त किया।

इस बालक का नाम प्रह्लाद था। अब वह सात वर्ष का हो गया, परन्तु उसका पागलपन जारी था। हिरण्यकश्यपु को लगा कि ऐसा कुपुत्र मेरे घर में कहाँ से आ

गया ? मैंने पच्चीस वर्ष राज्य किया, पर भगवान के बिना मेरी रोटी नहीं रुकी, मेरी नींद नहीं उड़ी और ऐसा नहीं कि मेरा खाना न पचा हो। उसने प्रल्हाद से कहा—" यह भगवान–भगवान का पागलपन छोड़ दे। खबरदार! जो आगे से भगवान का नाम लिया।"

भौतिक–शासन करने वालों को खुश रखना पड़ता है। यदि लोगों को खुश नहीं रखेंगे तो उनकी शासन–नैय्या डगमगाने लगती है। हिरण्यकश्यपु ने लोगों को खुश रखने के लिये कल्याणकारी राज्य (Welfare state) स्थापित करने का प्रयत्न किया था। परन्तु इसके पीछे उसकी बहुत बड़ी महत्त्वाकांक्षा यह थी कि लोग उसको ही भगवान समझें और उसी का पूजा करें। इसके लिये वह कठोरतम मार्ग भी अपनाता था।

हिरण्यकश्यपु को जब यह ज्ञात हो गया कि उसका पुत्र प्रल्हाद भगवान का नाम लेना नहीं छोड़ता तथा उसके ही विरुद्ध क्रांति कर रहा है, तो उसने शुन्डा और अमर्क नाम के दो आसुरी विचार–धारा के विद्वान शिक्षकों के हाथ में प्रल्हाद को सौंपकर कहा कि उसे ऐसी शिक्षा दें कि भगवान के नाम का पागलपन उसके मस्तिष्क से निकल जाय और वह उसको भगवान समझे। यदि आवश्यकता समझें तो उसे कठोर दण्ड भी दें। परन्तु इस बात को ध्यान में रखें कि यदि वह आकाश के झूठे भगवान को नहीं भूलेगा तो उन्हें मौत की सजा दी जायेगी।

प्रल्हाद राज्याश्रित महाविद्यालय में शुन्डामर्क के पास विद्याध्ययन के लिये भेज दिया गया। प्राचीन काल में विद्यालय या तपोवन राज्याश्रित नहीं होते थे। तपःस्वाध्याय निरत, तेजस्वी, विद्वान और ज्ञानी ऋषि उन्हें चलाते थे। हजारों विद्यार्थी वहाँ पर अर्थकरी विद्या के साथ–साथ मानव–जीवन की शिक्षा भी प्राप्त करते थे। जीव, जगत और जगदीश के सम्बन्धों को पहिचाते और उसकी अनुभूति लेते थे। जीवन–विकास की परमोच्च साधना का मार्ग–दर्शन प्राप्त करते और उन सिद्धान्तों को अपने जीवन में उतार कर लोक–कल्याण भी करते थे। परन्तु हिरण्यकश्यपु के राज्याश्रित विद्यालयों में उसकी इच्छा के अनुसार ही जड़वादी शिक्षण दिया जाता था। परन्तु प्रल्हाद और उसके साथी विद्यार्थियों ने केवल भौतिकवादी नहीं, अपितु आध्यात्मिक और नैतिक–जीवन के विचारों को अपनाया।

शुन्डामर्क के प्रल्हाद को सुधारने के सम्पूर्ण प्रयत्न निष्फल हो गये। वे ज्यों–ज्यों उसे समझाने का प्रयत्न करते थे, वह उतना ही उत्तेजित होता जाता था। उसने विद्यालय के सम्पूर्ण बालकों को अपनी ओर था। अन्त में निराश होकर उन्होंने हिरण्यकश्यपु प्रल्हाद की

"महाराज! अविनय के लिये क्षमा कीजिये। युवराज को शिक्षा देना हमारी शक्ति के बाहर है। जो अपने आप को होशियार और गुरु को मूर्ख समझता हो, उसे कैसे पढ़ाया जाय? उसका सुधरना तो क्या पर वह अन्य बालकों को भी भड़काता है, सभी उसी की ओर चले गये हैं। कठोर दण्ड देने पर भी वह टस से मस नहीं होता। अब तो आप ही उसे उचित दण्ड देकर उसकी अक्ल को ठिकाने लगावें। हिरण्यकश्यपु ने प्रल्हाद को कठोर दंड देने का निश्चय किया।

दूसरी ओर प्रल्हाद ने भी अपने सभी साथियों को निष्ठा और धैर्य के साथ प्रभु के उन्मुख करने के लिये अपनी शक्ति केन्द्रित कर ली। पिता-पुत्र की शक्ति का परीक्षण था। प्रल्हाद नौजवानों को इकठा कर उनसे कहता था-"गुरूजी हमको बहुत कुछ पढ़ाते हैं, परन्तु सफेद रंग के चावल और रोटी खाने पर उससे लाल रंग का खून कौन बनाता है, वे यह क्यों नहीं पढ़ाते? हम अनेक रंग के भोजन करते हैं, सबका लाल रंग का ही खून क्यों बनता है? क्या यह मेरे पिताजी करते हैं? हम खेत में बीज डाल देते हैं, तब एक दाने से चार सौ दाने कौन करता है? मिर्चे, करेला, धनिया, अदरक आदि में भिन्न-भिन्न स्वाद क्या मेरे पिताजी भरते हैं, या गुरूजी निर्माण करते है? यह सब कौन करता? गुरुजी हमको इसका ज्ञान क्यों नहीं देते?'

"भाइयो! मेरे पिताजी से बढ़कर एक महान पिता और है जो हम सबका, सम्पूर्ण सृष्टि का जगत-पिता है। उसको भगवान मानने, स्मरण करने, मस्तक झुकाने और पूजने के बजाय आप मेरे पिता को भगवान क्यों मान बैठे हैं? सूर्य-चन्द्र और समस्त संसार को बनाने, जिलाने और चलाने वाला वही जगत-पिता है, मेरा पिता नहीं।" उसने इस प्रकार के प्रभावी-भाषणों से नवयुवकों को तैयार कर अपने पिता के निरीश्वरवादी और भोगवादी-जड़वादी साम्राज्य के विरुद्ध एक महान क्रांति का सृजन किया।

कभी-कभी दुर्बल हृदय के युवक कहते थे-"भैय्या! तुम्हारी सब बातें सत्य हैं, परन्तु 'जल में रह कर मगर से बैर' कैसे हो? कहाँ हिमालय के समान शक्तिमान राजा और कहाँ हम? वह हमें घुन की तरह पीस डालेगा।"

प्रल्हाद कहता था-"भाइयो! मेरे पिता से डरने का कोई कारण नहीं है। हमको ज्ञात नहीं कि शतरंज के खेल में छोटा सा प्यादा वजीर को मार डालता है, यही नहीं बादशाह को भी मात दे देता है। आप सब भगवान के प्यादे (सैनिक) हैं, आप बड़े से बड़े वजीर और बादशाह को भी परास्त कर सकते हैं। फिर डरने

की आवश्यकता क्या है ? चलो सभी गुरूजी के पास चलें और कहें कि हमें ऐसा ज्ञान दीजिये, जिससे भगवान कि सृष्टि का पता चले। हमें भगवान विषयक स्तोत्र पढ़ाइये, वैदिक वाङ्मय का अध्ययन कराइये।"

"भाइयो ! यदि समाज से प्रभु–भक्ति समाप्त हो जायेगी तो पूर्वजों, ऋषियों और गुरूओं के प्रति की भक्ति भी समाप्त हो जायेगी। फिर समाज भाव–शून्य, निष्ठा–शून्य, ममत्वहीन, कृतघ्न और मनुष्य रूप में पशु समान ही बन जायेगा। जो शिक्षा हमको मानव से पशु बनाती है, ऐसी शिक्षा हमको नहीं चाहिये।"

संपूर्ण विश्वविद्यालय के विद्यार्थियों के रग--रग में प्रल्हाद के विचार उछालें लेने लगे। उन्होंने अपनी–अपनी कक्षाओं में प्रल्हाद के दिव्य विचारों को प्रस्तुत कर प्रचलित शिक्षा का विरोध किया। उन्होंने शुन्डामर्क आदि अपने गुरुजनों से नम्रतापूर्वक स्पष्ट कह दिया कि हमको यह शिक्षा नहीं चाहिये। हम कक्षा में बैठेंगे और प्रल्हाद के नेतृत्व में सत्याग्रह करेंगे। शायद जगत के इतिहास में विद्यार्थियों का यह प्रथम सत्याग्रह होगा !

विद्यार्थियों का यह सत्याग्रह आंदोलन धीरे--धीरे विद्यालय से बाहर फैलने लगा और विद्यालय के अधिकारियों के नियंत्रण से बाहर हो गया। दूसरे विद्यालयों के छात्र और ग्रामीण नौजवान भी प्रल्हाद के सत्याग्रह–संग्राम में संमिलित होने लगे।

शुन्डामर्क ने हिरण्यकश्यपु को बताया कि प्रल्हाद का सत्याग्रह राज्य-व्यापी बन गया है, राज्य में अराजकता फैलने का भय खड़ा हो गया है तथा यह संभावना बढ़ गई है कि लोग भगवान को पूजने लगें और आपका महत्त्व समाप्त हो जाय। यदि ऐसा हुआ तो राज्य में ऋषि-मुनियों के आश्रम और तपोवन शुरु हो जायेंगे, भौतिक–विचारों का प्रभाव घट जायेगा, राज्य के नौजवान बिगड़ जायेंगे और कोई हमको पूछने वाले नही रहेगा।

हिरण्यकश्यपु ने विचार किया कि यदि नौजवान बिगड़ गये, तो राज्य के अस्तित्व को ही खतरा पैदा हो जायेगा। इसलिये विद्रोही नौजवानों और उनके आन्दालन को कुचलना होगा, खत्म करना होगा। प्रल्हाद उनका नेता है, इसलिये उसको कठोर दण्ड देना चाहिये। क्रोध के आवेश मे मुट्ठियाँ बन्द कर वह जोर से चिल्लाया "कहाँ है प्रल्हाद ? उसे गिरफ्तार कर मेरे सामने हाजिर करो।"

प्रल्हाद को हिरण्यकश्यपु के सामने उपस्थित किया गया। प्रल्हाद ने नम्रता-पूर्वक प्रणाम कर विनयपूर्वक कहा–"पिताजी ! आपने मुझे बुलाया है, मैं उपस्थित हूँ, क्या आज्ञा है ?"

"तूने यह क्या तूफान मचा रखा है ? तू भगवान के नाम का पागलपन राज्य के सभी नौजवानों में फैलाकर अराजकता पैदाकर रहा है। आसमान में रहने वाला तेरा भगवान कहाँ है ? वह यदि होता तो अवश्य दिखाई देता। इस पागलपन को छोड़, मुझे भगवान समझकर अपने सहयोगियों सहित मेरी पूजा कर। तू इतना भी नहीं समझता कि समस्त राज्य मे मेरी पूजा होती है। कल तू भी राजा बनेगा तो इसी प्रकार तेरी भी पूजा होगी। अपनी पूजा करवाने के बजाय तू किस चक्कर में पड़ा है ?'

"पिताजी आप कहते हैं कि सृष्टि का अधिपति और भगवान मै ही हूँ, तो सूर्य-चन्द्र आपके इशारे पर चलने चाहिये। क्या सूर्योदय और सूर्यास्त आप करते हैं ? समुद्र में ज्वार-भाटा आपकी इच्छा से आता है ? "

"चुप रह नालायक ! मेरे सामने जबान चलाता है ? तू अभी नादान है, तुझे इन बातों का ज्ञान नहीं है।'

प्रत्येक पिता की यही दशा होती है। पुत्र, पिता को अनेक प्रश्न पूछता है और पिता जब उत्तर नहीं दे पाता तो कहता है-'चुप रह। तू क्या जाने, मैंने पचास वर्ष ऐसे ही नहीं गँवाये। तू मुझे ज्ञान देने चला है," आदि। इसी प्रकार हिरण्यकश्यपु भी प्रल्हाद को डॉटता है। वह क्रोध से कॉपने लगा। उसने मंत्री को बुलाकर कहा-" प्रल्हाद विद्रोही हो गया है। खुल्लमखुला मेरी उपेक्षा, अपमान और आज्ञा भंग करता है, उसे जहर देकर मार डाला जाय।"

पुराणों में उल्लेख है कि प्रल्हाद को जहर दिया गया। इसके पीछे मात्र पिता-पुत्र का मतभेद नहीं, अपितु गहन राजनैतिक प्रश्न था। प्रल्हाद ने भावी पीढ़ी के नौजवानों में आध्यात्मिक विचारों को दृढ़ कर भौतिकवाद की जड़वादी विचार-धारा की नींव को हिला डाला था और राज्य की स्थिति डांवाडोल हो गई थी। पाँच वर्ष के बाद ये ही बालक राज्य के नागरिक होंगे और उस समय उनके परिपक्व विचारों को बदलना होगा, इसलिये इन उगते हुये विचार अंकुरों को प्रारंभ में ही कुचल डालने के विचार से ही हिरण्यकश्यपु ने प्रल्हाद को मृत्यु-दण्ड दे दिया।"

मंत्री चतुर था। उसने कहा—" प्रल्हाद को इस प्रकार खुल्लमखुल्ला जहर देकर मारने से राज्य के हजारों नौजवान विद्रोह कर बैठेंगे और सारे राष्ट्र में अराजकता फैल जायेगी।"

इतिहास इस बात को बताता है कि राज्याधिकारी सदैव लोक-मत के सामने लाचार बनते हैं। परंतु प्रत्यक्षतः वे अपने को निर्बल नहीं बताते, वे प्रजा को ही दुर्बल समझते हैं। इसी मूर्खता का नाम राजनीति है।

हिरण्यकश्यपु ने इसी राजनीति का आश्रय लेकर निश्चय किया कि प्रल्हाद को स्वयँ जहर न देकर किसी सामान्य प्रजाजन से दिलाया जाय तो उत्तम रहेगा। फिर किसी प्रकार से प्रमाणित कर प्रचार कर देंगे कि हृदय की गति रुक जाने से उसकी मृत्यु हुई है।

प्रल्हाद की जीवन–लीला को समाप्त करने के लिये मंत्री ने एक योग्य व्यक्ति को चुन लिया। वह एक कंगाल ब्राह्मण था। इस ब्राह्मण के द्वारा आध्यात्मिक विचारों को लेकर उदय होने वाली पीढ़ी का अंत करने और समाज में जड़वादी नास्तिकता की नींव को सुदृढ़ करने की योजना बनाई गई।

प्रल्हाद अक्सर इस गरीब ब्राह्मण के घर आता–जाता था। ब्राह्मण सदैव उसका स्वागत करता था। मंत्री को यह बात मालूम थी, इसलिये उसने उस ब्राह्मण को बुलाकर कहा कि तुमको राजा का कुछ काम करना है। यदि तुमने वह कार्य पूर्ण कर डाला तो राजा तुमको हीरा–मोतियों से निहालकर देगा। तुमको इतना वैभव देगा कि तुम्हारी सात पीढ़ियों ने भी न देखा होगी। कंगाल–ब्राह्मण स्वभाव से लोभी था। यह सुनकर वह फूला नहीं समाया। उसने सोचा जब राजा स्वयँ अपने लड़के को मारने के लिये तत्पर है तो मैं क्यों न मार डालूं और कदाचित मैं न भी मारूँ तो राजा किसी दूसरे से तो उसे मरायेगा ही और सारा धन उसे मिलेगा, तो मैं ही उसे मार कर इतना धन प्राप्त क्यों न करूँ? मै यदि राजाज्ञा का पालन नहीं करूँगा तो राजा और मंत्री की आँखों में भी खटकता रहूँगा। इसलिये उसने धन के लोभ में प्रल्हाद को जहर देकर मारने के लिये अपनी स्वीकृति प्रदान कर दी।

"अरी ओ! सुन रही हो?" ब्राह्मण ने आँगन से ही ब्राह्मणी को पुकारना शुरू कर दिया। धन पाने की खुशी के मारे उसका चेहरा लाल हो गया था।

"अपने गीले हाथों को फटे–पुराने वस्त्रों पर पोंछती हुई ब्राह्मण–पत्नी रसोई घर से बाहर निकली। ब्राह्मण की परिवर्तित मुख–मुद्रा को देखकर बोली—"ओ–हो–हो! आज तो फूले नहीं समा रहे हो!"

"हाँ–हाँ, क्यों नहीं?" ऐसा कहकर अपनी भौंवे नचाकर ब्राह्मण बोला–"अरी! देख तो सही! तेरे लिये क्या लाया हूँ?" उसने सूर्य की किरणों में चमचमाती हुई हीरे की अंगूठी और चूड़ियाँ निकालकर ब्राह्मणी की ओर बढ़ाई। कंगाल ब्राह्मण का घर हीरे–मोतियों की चमक से जगमगाने लगा। ब्राह्मणी आँख फाड़–फाड़कर उन्हें देखने लगी।

ब्राह्मण बोला—"अरी पगली! तेरे लिये है–तेरे लिये।"

ब्राह्मणी सोचने लगी कि गृहस्थी के इन पच्चीस वर्षों में किसी ने ब्राह्मण को सोने की एक मुहर तक नहीं दी, आज कौन उन्हें हीरे की चूड़ियाँ देने वाला निकला है ? उनके चेहरे का हास्य, आँखों की मस्ती और अन्य सब लक्षण अच्छे नहीं हैं। कहीं नशा तो नहीं खा लिया है ? उसने ब्राह्मण के समीप आकार उसका मुँह सूंघा।

ब्राह्मण ने चिढ़कर कहा—"तू मुझे शराबी समझती है ?" परन्तु वास्तव में उसे सम्पत्ति का नशा चढ़ा हुआ था। वह कहने लगा—"मेरी तिजोरी में हजारों हीरे मोती होंगे। मै राज्य का सबसे बड़ा श्रीमंत कहलाऊँगा, राज दरबार में मेरा सम्मान होगा, पहरेदार जो अब तक मुझे दरबार में घुसने नहीं देते थे, मुझे झुक-झुक कर सलाम करेंगे।" ऐसा कहकर वह हा-हा कर हँसने लगा।

सम्पत्ति के नशे में चूर हुआ ब्राह्मण यह भूल गया कि मैं निस्वार्थ, निर्लोभी, निर्मोही तथा समाज का कल्याण और प्रभु का कार्य करने वाला ब्राह्मण हूँ। '**पीत्वा मोहमयी प्रमाद मदिरा उन्मत्त भूतं जगत**' स्वप्नों के संसार में डूबे हुये ब्राह्मण को जगाते हुये उसकी पत्नी ने कहा—"आप इतने नशे में चूर क्यों हो रहे हैं ? आखिर बात क्या है ? कुछ कहोगे भी या नहीं ? आपके लक्षणों को देखकर मेरा दिमाग झल्ला रहा है।"

"अरी पगली ! यह देख, तेरे लिये हीरों के झुमके लाया हूँ। बोल तेरे लिये क्या क्या लाऊँ ? तेरे लिये ऐसे हजारों आभूषण ला सकता हूँ। आज से हमारा दारिद्र्य चला गया है। अब हम राजमान्य हो गये हैं। आज से सारी ब्राह्मण जाति हमारे लिये नमस्कार करेगी।" इतना कहकर वह आनन्द विभोर होकर नाचने लगा।

ब्राह्मणी ने उसका हाथ पकड़कर नीचे बिठाते हुये कहा—"परन्तु कैसे ? कुछ कहो तो सही।"

"हमारा राजा आपत्ति में है और एक मात्र व्यक्ति मैं ही हूँ, जो उसे इस संकट से छुड़ा सकता हूँ। प्रजा-जन के नाते आपत्ति काल में राजा की सहायता करना हमारा कर्त्तव्य है।"

"आज राज-सत्ता की नींव हिल गई है और उसका कारण प्रल्हाद है। राज-मंत्री ने प्रल्हाद के लिये यह पुड़िया दी है।" यह कहकर उसने पुड़िया खोलकर बताई।

चतुर ब्राह्मणी क्षण भर में सारा खेल समझ गई। उसका खून खौलने लगा। उसने ब्राह्मण के हाथ से पुड़िया छीनकर फेंक डाली और बोली—"तुम इतने कसाई हो गये हो कि मेरे लिये एक निर्दोष बालक को जहर दिलाना चाहते हो ? मैं इन

रक्त-रंजित हीरों के आभूषणों को पहन कर घूमूँगी ? धिक्कार है आपके इस घृणित विचार के लिये ! मैं स्वप्न में भी ऐसी आशा नहीं करती थी कि धन के लोभ में आकर आप इतना अधःपतित और नीच कर्म करेंगे ।"

ब्राह्मणी के अन्दर की सुपुप्त स्त्री शक्ति जाग्रत हो गई । उसने कहा—"आपको भगवान ने ब्राह्मण देह प्रदान की है, क्या उससे आप कसाई का कार्य करेंगे ? अरे ! कसाई भी ऐसा कुकृत्य नहीं कर सकता ! आपकी बुद्धि क्यों इतनी भ्रष्ट हो गई ? इस जन्म में हम क्या कम भोग रहे हैं ? और आगे के लिये भी पाप की गठरी बांधकर ले जाना चाहते हो ? वह भी प्रल्हाद जैसे निर्दोष, निष्कलंक और तेजस्वी सुकुमार को जहर देकर ! जिस प्रल्हाद ने जीवन-पथ से भटके हुये नौजवानों को जीवन-दर्शन दिया, उनको भगवान का नाम लेना सिखाया, लोगों को तेजस्वी और ध्येय-निष्ठ बनाया । जिसने मानव को प्रभु-भक्ति का अमृत-पान कराया, उसको तुम हलाहल पिलाओगे ? इन कॉच के टुकड़ों के बदले में !" इतना कहकर उसने उन हीरे के आभूषणों को भूमि पर पटक दिया ।

स्त्री के अन्दर प्रबल शक्ति है । वह जब जाग्रत होती है तो कैसे-कैसे पतिदेवों को प्रकम्पित कर देती है । पत्थर-हृदयों को भी द्रवित कर देती है । ब्राह्मण-पत्नी की स्त्री-शक्ति के जागरण से ब्राह्मण का नशा उतर गया । उसको चेतना आई और वह सोचने लगा कि सम्पत्ति के क्षणिक मोह में वह कितना भयंकर पाप करने के लिये उद्यत हो गया था ? उस कुकृत्य के दृश्य का स्मरण कर वह कांपने लगा । उसने अपनी पत्नी से क्षमा माँगी और मन ही मन उसको वंदन किया ।

मंत्री महोदय की योजना असफल हो गई । मंत्री तथा राजा दोनों ब्राह्मण पर अत्यन्त कुपित हुये परन्तु उसे दण्ड भी कैसे दें । इससे राज के खुल जाने का ही खतरा नहीं था, बल्कि विद्रोह हो जाने का भी भय था । उन्होंने प्रल्हाद की हत्या करने की दूसरी युक्ति शोध निकाली । राजा ने कहा "राज्य में ऐसी घोषणा कर दी जाय कि "—राजा न्यायाधीश है, जो राजा द्वारा प्रस्थापित मूल्यों और मान्यताओं का खंडन करेगा, शासन की नींव को कमजोर करेगा या राजा का अपमान करेगा, उसको हाथी के नीचे कुचलवा कर मृत्यु-दण्ड दिया जायेगा ।" राजा के इस अध्यादेश (Ordinance) की राज्यव्यापी घोषणा कर दी गई ।

प्रल्हाद ने मन ही मन में भगवान का स्मरण किया, और भगवान के स्तोत्र गाने लगा । उसने सब लड़कों को भी स्तोत्र गाने के लिये उत्तेजित कर उस अध्यादेश का प्रत्यक्ष विरोध कर राजाज्ञा को भंग किया । समस्त राज्य में इसकी प्रतिक्रिया

'पिता तज्यो प्रह्लाद, न तज्यो हरिनाम रे।'

आसुरी वृत्ति और आसुरी सम्पदा के विरुद्ध दैवी वृत्ति और दैवी सम्पदा के रक्षण के लिये प्रह्लाद ने कमर कस ली थी। उसने अपने राक्षस पिता, उसकी राक्षसी सम्पत्ति और साम्राज्य का त्याग किया। हिरण्यकश्यपु ने प्रह्लाद को मृत्युदण्ड की सजा सुना दी और आज्ञा की कि उसे हाथी के पैरों के नीचे कुचलकर मार डाला जाय।

दूसरे दिन प्रातःकाल ही उसे हाथी के पैरों से कुचल कर मार डालने की आज्ञा हुई थी, इसलिये हाथी और महावत को इसके लिये तैयार करना था। पशुओं को भी अक्ल होती है। बिना मदोन्मत्त हुये वे भी निर्दोष प्राणी को अकारण ही नहीं मारते। इसलिये हाथी को शराब पिलाकर मदोन्मत्त करना था।

महावत ने राजाज्ञा के अनुसार रात्रि को दो बजे उठकर हाथी को मद्यपान कराया और भूखा रखा ताकि वह अधिक क्रोधित और क्रूर बन जाय। आखिर महावत भी मानव-हृदय रखता था। घर आने पर वह विचार करने लगा कि ऐसे तेजस्वी कुमार को मारने के लिये मैं निमित्त बन रहा हूँ, जिस पर हजारों [illegible] प्रेम और अपना जीवन निछावर करते हैं। परन्तु विरोध करता हूँ तो नौकरी [illegible] है, यही नहीं प्राण भी जा सकते हैं। यह विचार कर वह अत्यन्त उदास हो गया। वह स्नान कर वस्त्र पहिन रहा था उसी समय उसकी एक मात्र [illegible] आई और पूछने लगी—

'पिताजी! आज आप इतने उदास क्यों हैं? मैं [illegible] रही हूँ, आपका मन शांत नहीं है। तबियत तो [illegible]?'

रक्त-रंजित हीरों के आभूषणों को पहन कर घूमूंगी ? धिक्कार है आपके इस घृणित विचार के लिये ! मैं स्वप्न में भी ऐसी आशा नहीं करती थी कि धन के लोभ में आकर आप इतना अधःपतित और नीच कर्म करेंगे।"

ब्राह्मणी के अन्दर की सुषुप्त स्त्री शक्ति जाग्रत हो गई। उसने कहा— "आपको भगवान ने ब्राह्मण देह प्रदान की है, क्या उससे आप कसाई का कार्य करेंगे ? अरे ! कसाई भी ऐसा कुकृत्य नहीं कर सकता ! आपकी बुद्धि क्यों इतनी भ्रष्ट हो गई ? इस जन्म में हम क्या कम भोग रहे हैं ? और आगे के लिये भी पाप की गठरी बांधकर ले जाना चाहते हो ? वह भी प्रल्हाद जैसे निर्दोष, निष्कलंक और तेजस्वी सुकुमार को जहर देकर ! जिस प्रल्हाद ने जीवन-पथ से भटके हुये नौजवानों को जीवन-दर्शन दिया, उनको भगवान का नाम लेना सिखाया, लोगों को तेजस्वी और ध्येय-निष्ठ बनाया। जिसने मानव को प्रभु-भक्ति का अमृत-पान कराया, उसको तुम हलाहल पिलाओगे ? इन कॉंच के टुकड़ों के बदले में !" इतना कहकर उसने उन हीरे के आभूषणों को भूमि पर पटक दिया।

स्त्री के अन्दर प्रबल शक्ति है। वह जब जाग्रत होती है तो कैसे-कैसे पतिदेवों को प्रकम्पित कर देती है। पत्थर-हृदयों को भी द्रवित कर देती है। ब्राह्मण-पत्नी की स्त्री-शक्ति के जागरण से ब्राह्मण का नशा उतर गया। उसको चेतना आई और वह सोचने लगा कि सम्पत्ति के क्षणिक मोह में वह कितना भयंकर पाप करने के लिये उद्यत हो गया था ? उस कुकृत्य के दृश्य का स्मरण कर वह कांपने लगा। उसने अपनी पत्नी से क्षमा मॉंगी और मन ही मन उसको वंदन किया।

मंत्री महोदय की योजना असफल हो गई। मंत्री तथा राजा दोनों ब्राह्मण पर अत्यन्त कुपित हुये परन्तु उसे दण्ड भी कैसे दें। इससे राज के खुल जाने का ही खतरा नहीं था, बल्कि विद्रोह हो जाने का भी भय था। उन्होंने प्रल्हाद की हत्या करने की दूसरी युक्ति शोध निकाली। राजा ने कहा "राज्य में ऐसी घोषणा कर दी जाय कि "—राजा न्यायाधीश है, जो राजा द्वारा प्रस्थापित मूल्यों और मान्यताओं का खंडन करेगा, शासन की नींव को कमजोर करेगा या राजा का अपमान करेगा, उसको हाथी के नीचे कुचलावा कर मृत्यु-दण्ड दिया जायेगा।" राजा के इस अध्यादेश (Ordinance) की राज्यव्यापी घोषणा कर दी गई।

प्रल्हाद ने मन ही मन में भगवान का स्मरण किया, और भगवान के स्तोत्र गाने लगा। उसने सब लड़कों को भी स्तोत्र गाने के लिये उत्तेजित कर उस अध्यादेश का प्रत्यक्ष विरोध कर राजाज्ञा को भंग किया। समस्त राज्य में इसकी प्रतिक्रिया

हुई और शीघ्र ही गाँवों और नगरों में भी यह आन्दोलन फैल गया। राज्य में अराजकता की स्थिति उत्पन्न हो गई। क्रान्तिकारी युवक-नेता प्रल्हाद को गिरफ्तार कर कैद कर लिया गया।

धन्य है प्रल्हाद! तुम्हारी निष्ठा और भक्ति के लिये धन्य है!! एक राज-पुत्र युवक सत्याग्रही सत्य की रक्षा के लिये अपना बलिदान देने और फाँसी के तख्ते पर चढ़ने के लिये तैयार हो गया। राजमहल में कोमल गद्दों की शैय्या पर सोने वाले राजकुमार के लिये जेलखाना ही राज-प्रासाद और कड़े पत्थरों का बिछौना ही सुख-शैय्या थी। भावी सम्राट ने भोग को लात मारकर त्याग का जीवन अपनाया और भगवान का स्मरण कर हँसते-हँसते जेल की चहार दीवारी के अन्दर चला गया।

'पिता तज्यो प्रल्हाद, न तज्यो हरिनाम रे।'

आसुरी वृत्ति और आसुरी सम्पदा के विरुद्ध दैवी वृत्ति और दैवी सम्पदा के रक्षण के लिये प्रल्हाद ने कमर कस ली थी। उसने अपने राक्षस पिता, उसकी राक्षसी सम्पत्ति और साम्राज्य का त्याग किया। हिरण्यकश्यपु ने प्रल्हाद को मृत्युदण्ड की सजा सुना दी और आज्ञा की कि उसे हाथी के पैरों के नीचे कुचलकर मार डाला जाय।

दूसरे दिन प्रातःकाल ही उसे हाथी के पैरों से कुचल कर मार डालने की आज्ञा हुई थी, इसलिये हाथी और महावत को इसके लिये तैयार करना था। पशुओं को भी अक्ल होती है। बिना मदोन्मत्त हुये वे भी निर्दोष प्राणी को अकारण ही नहीं मारते। इसलिये हाथी को शराब पिलाकर मदोन्मत्त करना था।

महावत ने राजाज्ञा के अनुसार रात्रि को दो बजे उठकर हाथी को मद्य-पान कराया और भूखा रखा ताकि वह अधिक क्रोधित और क्रूर बन जाय। आखिर महावत भी मानव-हृदय रखता था। घर आने पर वह विचार करने लगा कि ऐसे तेजस्वी कुमार को मारने के लिये मैं निमित्त बन रहा हूँ, जिस पर हजारों नवयुवक प्रेम और अपना जीवन निछावर करते हैं। परन्तु विरोध करता हूँ तो नौकरी जाती है, यही नहीं प्राण भी जा सकते हैं। यह विचार कर वह अत्यन्त उदास हो गया। वह स्नान कर वस्त्र पहिन रहा था इसी समय उसकी एक मात्र लाड़ली पुत्री सामने आई और पूछने लगी—

'पिताजी! आज आप इतने उदास क्यों हैं? मैं आपको बड़ी देर से देख रही हूँ, आपका मन शांत नहीं है। तबियत तो ठीक है न?"

" नहीं, नहीं...बेटी ! ऐसी कोई विशेष बात नहीं है । परन्तु दुष्ट राजा ने अपने पुत्र प्रल्हाद को मृत्यु-दण्ड की सजा दी है और दुर्भाग्य से उसके लिये निमित्त मुझको बनना पड़ रहा है । मैं उसे हाथी के द्वारा कुचलूँगा । अभी-अभी हाथी को शराब पिला कर आया हूँ । परन्तु बेटी ! मेरी अन्तरात्मा इस महान कुकृत्य करने के लिये मना कर रही है । क्या करूँ ? इसी चिंता से बेचैन हूँ । खैर ! तू चिंता न कर । मुझे अभी राजा के पास जाकर हाजिरी देनी है । मेरे लिये दो रोटी बना दे । "

महावत अनिमेष नेत्रों से अपनी एकलौती पुत्री की ओर देख रहा था । उसका मन अतीत के गर्भ में जा पहूँचा । उसकी पत्नी लड़की के बाल्यावस्था में ही स्वर्ग सिधार गई थी । पति-पत्नी में प्रगाढ़ प्रेम था । जीवन सुखमय था । तब तीन वर्ष का यह नन्हा पुष्प अपनी तोतली वाणी और मधुर हास्य से घर में सौरभ बिखेर देता था । आज वह नन्हा पुष्प पूरणमासी के चन्द्र की तरह पूर्ण विकसित होकर यौवन की देहरी पर खड़ा था । अब उसका सौंदर्य और सौरभ इस छोटे से घर में कहाँ शोभा पाता है ? उसके हाथ यदि पीले हो जाते तो मेरे सर का भार हल्का हो जाता । सगाई तो हो गई है, अब यदि राजा प्रसन्न हो गया, तो फिर क्या चाहिये ? ऐसा सोचकर महावत ने एक लम्बी साँस ली !

महावत के लिये अपनी लड़की ही जीवन धन, संसार का वैभव, हृदय की निधि और सर्वस्व था । परंतु वह महावत के पास नहीं आती । दूर बैठकर सिसक-सिसककर रो रही थी ।

" बेटी ! मेरे लिये देर हो रही है, जल्दी दही और रोटी ला न ? ' परन्तु बेटी रसोई-घर से बाहर नहीं आई । वह दोनों घुटनों के अंदर सिर छिपाये रो रही थी । पिता ने जाकर देखा और पुचकारते हुये उसे अपनी गोद में खींचते हुये पूछा—
" क्या हुआ बेटी ? मुझसे नाराज है क्या ? " उसने सिर हिलाकर कहा—" हाँ । "

" मेरा क्या दोष है, यह तो बताओ । "

" पिताजी ! आप ऐसा पाप क्यों करते हैं ? "

" अरी पगली ! मैं क्या पाप करता हूँ ? पाप तो राजा को लगेगा । मैं तो नौकरी करता हूँ । मुझे तो राजाज्ञा का पालन करना ही पड़ेगा । मुझे यह अच्छा तो नहीं लगता, परंतु पेट के लिये सब कुछ करना पड़ता है । "

" तो ऐसी नौकरी छोड़ दो न पिताजी ! "

" फिर जीवन-निर्वाह कैसे होगा ? इतनी मेहनत करते हैं, तब कहीं दो मुट्ठी अनाज मिलता है । "

"पिताजी! अच्छा होगा कि हम भूखों मर जायँ, पर इस पापी राजा का अन्न खाकर अपना भव क्यों बिगाड़ें? हमने न जाने उस जन्म में क्या पाप किये होंगे कि इस निर्दयी राजा के यहाँ नोकरी करनी पड़ रही है।"

"बेटी! नौकरी कुछ रास्ते में पड़ी नहीं होती कि इसको छोड़ते ही हमें दूसरी मिल जाय? फिर जान भी खतरे मे है और हम ठहरे महावत, हमें राज-दरबार के अतिरिक्त दूसरी जगह नौकरी मिलने वाली नहीं है।"

"यह सब मैं नहीं जानती, पर यदि आपने प्रल्हाद को कुचला तो मैं इस घर से चली जाऊँगी। आप मुझको प्यार करते हैं, मेरा विवाह भी करना चाहते हैं..." ऐसा कहते-कहते शर्म और गुस्से से उसका चेहरा तमतमा गया। उसने आगे कहा—"पिताजी! मैंने प्रतिज्ञा की है कि प्रल्हाद मरेगा तो मैं भी मर जाऊँगी। शहर के सभी नौजवानों ने भी ऐसी ही प्रतिज्ञा की है। फिर मैं ही जी कर क्या करूँगी? आप भले ही दरबार में मान्यवर बनें, पर मैं तो यह चली..." और वह आवेश में आकर उठकर चली गई।

महावत ने उसे रोकते हुये कहा—"बेटी! तू तो मेरा प्राण है, तुझे देखकर ही मेरे दिन कटते है। तू कहती है तो मै नौकरी छोड़ देता हूँ। बस! राजी है अब न! यह हाथी मैंने पाला-पोषा है, मेरे अतिरिक्त वह दूसरे से नहीं चलेगा। इसलिये प्रल्हाद नहीं कुचला जायेगा और राज दरबार मे राजा को अपमानित होना पड़ेगा। अब तो खुश है न?" लड़की के उद्बोधन से महावत का आत्म सम्मान जाग्रत हो गया। उसने कहा—

"बेटी! अब हमें इस अत्याचारी राजा के राज्य में नहीं रहना चाहिये। चलो कहीं दूर चल दें। अन्यथा राजा के सैनिक पौ फटते ही हमें गिरफ्तार कर लेंगे।" बेटी ने स्वीकृति दी और पिता-पुत्री रात्रि को ही राज्य छोड़कर भाग निकले।

प्रातः दरबार खचाखच भरा था। सामने मैदान में प्रल्हाद एक खम्भे से बंधा था। राजा ने राज सिंहासन पर आसन ग्रहण किया। महामंत्री ने आज्ञा दी कि प्रल्हाद को खोल दिया जाय और उसके ऊपर हाथी को छोड़ दिया जाय। परन्तु महावत कहाँ था? पूछताछ करने पर ज्ञात हुआ कि वह कहीं चला गया है। राजा और मंत्री दोनों क्रोध से लाल-पीले हो गये। मदोन्मत्त हाथी दूसरे महावतों को अपने पास नहीं आने देता था। राजा को लज्जित और अपमानित होकर कार्य-क्रम को स्थगित करना पड़ा। लोगों की प्रसन्नता की सीमा न रही। सबने मन ही मन महावत को धन्यवाद दिया। लोगों के चेहरों पर दौड़ने वाली खुशी की लहरों

को देखकर राजा को यह समझने में देर नहीं लगी कि लोकमत उसने
वह घबरा गया।

उसने शुंडामर्क से कहा—" प्रल्हाद को प्रेम से पूछो कि यदि
है तो अपने ही पिता का विरोध क्यों करता है? प्रेम से क्यों नहीं

शुंडामर्क ने कहा—" यह भी हम पूछ चुके हैं। वह तो
पर उसका आत्यन्तिक प्रेम है, इसीलिये वह आपका विरोध
आने वाला जन्म न बिगड़े, इसके लिये ही उसका प्रयत्न चलता
सुधारना? यही समझ में नहीं आता है। उसको कुछ भी कहो
आदर से हँस कर बोलता है। वह ऐसा उत्तर देता है कि हमारी
है, उसका जवाब ही नहीं सूझता। [illegible] आता ही
पूर्ण बातों से हम तो पानी-पानी हो

" शुण्डामर्क! वह नहीं सुधारता
विचारों को मत फैलने दो।" कम से
पराजित की भाषा में नम्रतापूर्वक कहा।

" परन्तु महाराज! उसने तो भगव
करो! कह-कह कर सारे राज्य में आग
डालेंगे।" मंत्री ने कहा।

" मंत्री जी! मैंने प्रल्हाद के विचारों
उसे मारने का यत्न भी किया परन्तु असफल
हो रहा है कि मैं हार गया हूँ। समाज
हिरण्यकश्यपु मर गया है।"

हिरण्यकश्यपु ने प्रल्हाद को बुलाकर प्रे
भूल मालूम हो गई है। आज तुम्हारा पिता मर ग
प्रत्येक व्यक्ति को खंभे की तरह जड़ समझता था।
को खड़ा किया है, जिनके द्वारा मेरा पराभव हो गया
' नर-सिंह ' ही हैं।

प्रल्हाद ने अत्यन्त प्रेम से भगवान की प्रार्थना की—
बचाइये। उनके दुष्कृत्यों की ओर क्षमादृष्टि से देखिये प्रभु!..

" नहीं-नहीं, बेटा प्रल्हाद! अब मुझे मरने दो। मेरा
और कुकार्यों से भरा पड़ा है। मुझे इस देह का नाश करने दो।"

हिरण्यकश्यपु को इच्छा-मृत्यु का वरदान था। उसने अपने पेट से आँतों की माला निकाली और वहाँ पर खड़े 'नर-सिंह' के गले में पहिनाई। उसने अपने कुकृत्यों पर पश्चाताप करते हुये प्रल्हाद से क्षमा याचना की और कहा—"मैंने अब तक लोगों को पेट भरने को ही शिक्षा दी और ईश्वर विमुख रखा। तुम अब इस राष्ट्र का शासन-सूत्र संभालो, दैवी विचारों का प्रचार करो और मानव जीवन को पुष्ट करो।" ऐसा कहते हुये हिरण्यकश्यपु ने अपना शरीर त्याग दिया।

प्रल्हाद ने ईश्वर-विमुख समाज को ईश्वराभिमुख किया। दैवी सम्पति का प्रचार कर समाज में तेजस्विता और सांसकृतिक निष्ठा खड़ी कर स्वस्थ और सात्विक राष्ट्र की प्रस्थापना कि।

ईश्वरवाद और जड़वाद का झगड़ा अनादि काल से चला आया है। यह लड़ाई सदैव रहने ही वाली है। इसलिये हमें कौन से पक्ष का सैनिक बनना है? मनुष्य को यही निर्णय करना है। यदि ईश्वर का सैनिक बनना हो तो प्रल्हाद के जैसी निष्ठा निर्माण करनी होगी। वैसा ही सत्याग्रही बनना होगा। आज तो लोग दुराग्रह कर सत्याग्रही बनते हैं।

हम भगवान से प्रार्थना करेंगे की प्रभु! हमें प्रल्हाद के जैसी निष्ठा, संकल्प और शक्ति प्रदान कर ताकि हम भी तेरा काम कर सकें।

प्रभु-निष्ठ बाल-सत्याग्रही प्रल्हाद को हमारा नमस्कार!

— ० —

को देखकर राजा को यह समझने में देर नहीं लगी कि लोकमत उसके विरुद्ध है। वह घबड़ा गया।

उसने शुंडामर्क से कहा–"प्रल्हाद को प्रेम से पूछो कि यदि वह सदाचारी है तो अपने ही पिता का विरोध क्यों करता है? प्रेम से क्यों नहीं रहता?"

शुंडामर्क ने कहा–"यह भी हम पूछ चुके हैं। वह तो कहता है कि 'आप पर उसका आत्यन्तिक प्रेम है, इसीलिये वह आपका विरोध करता है। पिता का आने वाला जन्म न बिगड़े, इसके लिये ही उसका प्रयत्न चलता है।' तब उसको कैसे सुधारना? यही समझ में नहीं आता है। उसको कुछ भी कहो तो वह प्रेम और आदर से हँस कर बोलता है। वह ऐसा उत्तर देता है कि हमारी जबान बन्द हो जाती है, उसका जवाब ही नहीं सूझता। उसको क्रोध तो आता ही नहीं है। उसकी विवेक-पूर्ण बातों से हम तो पानी–पानी हो जाते हैं।"

"शुण्डामर्क! वह नहीं सुधारता तो न सही, लेकिन उसके आध्यात्मिक विचारों को मत फैलने दो।" कम से कम इतना तो कर दो। हिरण्यकश्यपु ने पराजित की भाषा में नम्रतापूर्वक कहा।

"परन्तु महाराज! उसने तो भगवान को नमस्कार करो–भगवान को नमस्कार करो! कह–कह कर सारे राज्य में आग फैला दी है। शुण्डामर्क कहाँ–कहाँ हाथ डालेंगे।" मंत्री ने कहा।

"मंत्री जी! मैंने प्रल्हाद के विचारों को समाप्त करने के सम्पूर्ण प्रयत्न किये हैं, उसे मारने का यत्न भी किया परन्तु असफलता ही हाथ आई है। आज मुझे महसूस हो रहा है कि मैं हार गया हूँ। समाज में 'नर–सिंह' पैदा हो गये हैं और हिरण्यकश्यपु मर गया है।"

हिरण्यकश्यपु ने प्रल्हाद को बुलाकर प्रेमपूर्वक कहा—"बेटा! मुझे अपनी भूल मालूम हो गई है। आज तुम्हारा पिता मर गया है। आज तक मैं समाज के प्रत्येक व्यक्ति को खंभे की तरह जड़ समझता था। उनमें से तूने इन 'नर–सिंहों' को खड़ा किया है, जिनके द्वारा मेरा पराभव हो गया है। मेरी मृत्यु का कारण ये 'नर–सिंह' ही हैं।

प्रल्हाद ने अत्यन्त प्रेम से भगवान की प्रार्थना की—"प्रभो! मेरे पिता को बचाइये। उनके दुष्कृत्यों की ओर क्षमादृष्टि से देखिये प्रभु!...'

"नहीं–नहीं, बेटा प्रल्हाद! अब मुझे मरने दो। मेरा जीवन अनेक पापों और कुकृत्यों से भरा पड़ा है। मुझे इस देह का नाश करने दो।"

हिरण्यकश्यपु को इच्छा-मृत्यु का वरदान था। उसने अपने पेट से आँतों की माला निकाली और वहाँ पर खड़े 'नर-सिंह' के गले में पहिनाई। उसने अपने कुकृत्यों पर पश्चाताप करते हुये प्रल्हाद से क्षमा याचना की और कहा—"मैंने अब तक लोगों को पेट भरने की ही शिक्षा दी और ईश्वर विमुख रखा। तुम अब इस राष्ट्र का शासन-सूत्र संभालो, दैवी विचारों का प्रचार करो और मानव जीवन को पुष्ट करो।" ऐसा कहते हुये हिण्यकश्यपु ने अपना शरीर त्याग दिया।

प्रल्हाद ने ईश्वर-विमुख समाज को ईश्वराभिमुख किया। दैवी सम्पति का प्रसार कर समाज में तेजस्विता और सांसकृतिक निष्ठा खड़ी कर स्वस्थ और सात्विक राष्ट्र की प्रस्थापना कि।

ईश्वरवाद और जड़वाद का झगड़ा अनादि काल से चला आया है। यह लड़ाई सदैव रहने ही वाली है। इसलिये हमें कौन से पक्ष का सैनिक बनना है? मनुष्य को यही निर्णय करना है। यदि ईश्वर का सैनिक बनना हो तो प्रल्हाद के जैसी निष्ठा निर्माण करनी होगी। वैसा ही सत्याग्रही बनना होगा। आज तो लोग दुराग्रह कर सत्याग्रही बनते हैं।

हम भगवान से प्रार्थना करेंगे की प्रभु! हमें प्रल्हाद के जैसी निष्ठा, संकल्प और शक्ति प्रदान कर ताकि हम भी तेरा काम कर सकें।

प्रभु-निष्ठ बाल-सत्याग्रही प्रल्हाद को हमारा नमस्कार।

— ० —

अनजान देव-दूत

मानव जीवन का चक्र इस प्रकार से घूमता रहता है कि प्रत्येक मनुष्य के साथ दुःख लगा ही रहता है। किसी को धनाभाव का दुःख है, किसी को संतान का दुःख है, तो किसी के जीवन में यश ही नहीं; उसे कीर्ति का दुःख है। भगवान ने मानव के जीवन में दुःख का निर्माण क्यों किया होगा, उसका किसीको पता है? शायद भगवान ने सोचा हो कि चलो मनुष्य को दुःख का स्वाद भी चखा दूँ, ताकि उसे सुख की मीठास लगे। यह भी हो सकता है कि मानव को अपना जीवन विकास करना है; इसलिये सुख के साथ यदि दुःख होगा तो मानव दुःख को भी सुख समझकर अपनी दृष्टि को व्यापक बना सकेगा और सुख में भूला नहीं रहेगा। कुछ भी हो उसकी लीला वही समझ सकता है। परन्तु उसकी प्रत्येक क्रिया के पीछे मानव-कल्याण निहित है, यह सत्य है।

किसी काल में अग्निदत्त नाम का एक ब्राह्मण था। उसने पुरुषार्थ से धन भी कमाया था, उसके लड़के भी थे, परंतु उसको एक ही दुःख था कि उसके लड़के संस्कारी नहीं थे। सामान्य माता-पिताओं को तो इसका विचार भी नहीं होता कि उनके लड़के संस्कारी होने चाहिये। परंतु अग्निदत्त को यह विचार रात-दिन सताया करता था। संस्कार-हीन जीवन पशु-जीवन के तुल्य है। वह सोचता था 'तनये तनयोत्पत्ति' इस शरीर से नये शरीर पैदा हुये हैं, परंतु वे सूअर का सा जीवन व्यतीत करते हैं उसके हृदय में भगवान के लिए प्रेम नहीं, संस्कृति का विचार नहीं। उनका प्रभु-प्रदत्त मानव-जीवन व्यर्थ जा रहा है। अग्निदत्त को इसका महान दुःख था।

एक दिन अग्निदत्त पड़ोस के किसी गाँव में गया हुआ था। उसी दिन एक तपस्वी अतिथि के रूप में उनके घर आये। अग्निदत्त के चारों पुत्र

खा-पीकर मस्त होकर बैठे थे। एक लड़का गद्दी में लम्बे पैर किये हुये था। उसने सामान्य शिष्टता और सौजन्यता के दो शब्द भी अतिथि से नहीं कहे। उल्टे उपेक्षा की दृष्टि से देखता था। तपस्वी ने दूसरे लड़के को पूछा—"भाई! अग्निदत्त कहाँ हैं?" उसने उत्तर दिया—"मैं नहीं जानता। मैं उनका नौकर थोड़े ही हूँ, जो देखता रहूँ कि वे कहा जा रहे हैं?"

तपस्वी को पहले लड़के की अशिष्टता और दूसरे के अविवेकी तथा धृष्टता-पूर्ण उत्तर से बहुत दुःख हुआ। उसके मन में आया कि जो पुत्र पिता के ध्येय के साथ समरस नहीं होता, उसे पिता की सम्पत्ति नहीं मिलनी चाहिये। सन्तान का अर्थ है-'सम्यक्तनोति' अर्थात् जो पिता के ध्येय को आगे बढ़ावे और सफल बनावे वही सन्तान कही जाती है। भेड़-बकरी की संतान नहीं होती। संतान केवल मानव जाति की ही होती है। क्योंकि उसके पास जीवन का ध्येय होता है। ध्येय-प्राप्ति के लिये वह प्रयत्नशील रहता है।

तपस्वी ने तीसरे लड़के से पूछा तो उसने उत्तर दिया—"देखते नहीं कि मैं खेल रहा हूँ? मेरे खेल में बाधा मत डालो।" इतना सुनकर तपस्वी ने निश्चय किया कि इस घर में मानव नहीं पिशाच रहते हैं। ये सब सम्पत्ति के नशे में उन्मत्त हैं। वे वहाँ से लौट पड़े।

तपस्वी को मार्ग में अग्निदत्त मिल गये। उन्होंने उनको नमस्कार करके पूछा—"कहाँसे चले आये? इतनी कड़ी धूप में बिना प्रसाद लिये जाना उचित नहीं।" तपस्वी ने उत्तर दिया—"मैं मनुष्यों के और सद्गृहस्थों के घर का भोजन करता हूँ। आपके यहाँ मुझे गृहस्थाश्रम नजर नहीं आता, वहाँ सब राक्षस हैं। जिस घर में संस्कृति और संस्कार नहीं, मैं वहाँ भोजन नहीं करता।" तपस्वी ने गुस्से में कहा और वे चले गये।

अग्निदत्त अपने असंस्कारी पुत्रों के कारण दुःखी तो थे ही, पर इस घटनासे तो वे मर्माहत हो गये। तपस्वी ने उनके घर को पिशाचों का घर कहा और वे भूखे ही चले गये। यह शर्मनाक बात थी। मैं गृहस्थ हूँ और गृहस्थ के घर से तपस्वी अतिथि बिना भोजन किये ही लौट गये! अग्निदत्त उद्विग्न हो गये। उन्होंने कुपित होकर अपने लड़कों को घर छोड़ने की आज्ञा दी और कहा कि मैं ऐसे नालायक और अहंकारी लड़कों को अपनी धन-सम्पत्ति नहीं देना चाहता।

लड़कों ने धन तो कमाया नहीं था। पिता के अनुकूल भी वे नहीं थे, इसलिये घरों घर छोड़कर चले गये। आज के युग की बात होती तो वे अदालत में दावा

करते। उनमें से तीन लड़कों पर तो पिता की बात का कोई प्रभाव नहीं हुआ, परन्तु चौथा लड़का सोमदत्त संस्कारी था, किन्तु संग-दोष के कारण बिगड़ गया था।

सोमदत्त विचार करने लगा कि पिता ने जो कुछ किया, वह ठीक ही किया है। पिता ने रात-दिन परिश्रम करके धन कमाया और हमने रात-दिन सुअर की तरह उदरपूर्ति कर उनके अनुकूल बर्ताव भी नहीं किया, उनके विचारों को नहीं अपनाया। यह हमारा अक्षम्य अपराध है। मैं अपराधी हूँ, इसलिये मुझे प्रायश्चित करना चाहिये, भगवान से क्षमा-याचना करनी चाहिये। ऐसा विचार कर वह हिमालय की ओर चला गया।

एक निर्जन स्थान में जाकर उसने शकर भगवान का पूजन करना प्रारम्भ कर दिया। उसने अपनी झोंपडी के चारों ओर एक सुन्दर बगीचा बना लिया। उसकी भावना थी कि अपने तैयार किये हुये पुष्पों से ही वह भगवान शंकर की पूजा करेगा। वह लता-वनस्पतियों और वृक्षों पर प्रेम करने लगा, इससे उसकी दृष्टि बदलने लगी। वह प्रातः उठकर लता-पुष्पों को देखता, उनको स्पर्श करता और अपने उगाये हुये पुष्पों को भगवान शंकर को चढ़ाकर उनकी उपासना में रत रहता था। नित्य निःसर्ग के सानिध्य में रहने से उसका जीवन बदलने लगा।

निःसर्ग के पास मानव-जीवन को बदलने की अद्भुत शक्ति है। इसलिये मानव नित्य पेड़-पौधों, लता-पुष्पों, झरनों, नदी-सरोवरों तथा गिरि-श्रृंखलाओं के पास जाना तथा सूर्योदय-सूर्यास्त के मनोरम दृश्यों का दर्शन करना चाहिये। हमारे ऋषि-मुनि इसीलिये वनों में रहते थे। समाज में मनुष्य के अहंकार का पोषण होता है।— "मैं अधिकारी हूँ, मंत्री हूँ, श्रीमंत हूँ, मुझे कीर्ति और आदर मिलना चाहिये।" यह वृत्ति पुष्ट होती है। समाज में यह स्वाभाविक ही है।

परन्तु वृक्ष के नीचे मंत्री और किसान, राजा और रंक एक साथ बैठे हों तो वृक्ष में भेद वृत्ति नहीं है—समान भाव है, न हर्ष है न शोक। यदि जंगल में राजा भी मर जाय तो वन का जीवन उसी प्रकार शांत और स्वस्थ रहता है। चिड़ियों का चहकना, पवन का चलना, सरिता का बहना, झरनों का झरना अनवरत रूप से यथावत् चलता रहता है। सूर्योदय-सूर्यास्त की रंगीनियों का आनन्द सर्वत्र समान रूप से रहता है।

हमारे ऋषियों और हमारी संस्कृति ने वृक्षों को बहुत ऊँचा स्थान दिया है। वृक्षों का देव-तुल्य पूजन होता है। वृक्ष जैसा महापुरुष होना कठिन है। वृक्ष स्वयं भूमि से अपना जीवन-रस ग्रहण करता, धूप-शीत और वर्षा सहन कर हारे-थके

मानव को छाँह, विश्रांति और फल-फूल देता है और बदले में धन्यवाद (Thank you) की अपेक्षा भी नहीं करता। वस्तुतः वृक्ष स्थितप्रज्ञ के जीवन का जीता जागता उदाहरण है।

पर्वत श्रृंखलाओं में बैठने से स्थैर्य और सागर के पास बैठने से गाम्भीर्य और औदार्य मिलता है। नदी-नालों से सतत प्रवाही, पवित्र जीवन मिलता है। पुष्प अपनी मादकता से सौरभमय जीवन का पाठ पढ़ाते हैं। प्रकृति मानव जीवन का सच्चा दृष्टिकोण प्रदान कर जीवन को पुष्ट करती है। जीवन में प्रभुभक्ति लानी हो और आध्यात्मिक जीवन जीना हो तो जीवन पुष्ट करना ही पड़ेगा और यह सब निःसर्ग के सानिध्य से होता है। इसीलिये तपोवनों की रचना की गई थी। हमारी संस्कृति का जन्म वनों में ही हुआ है, वह वन्य संस्कृति-निःसर्ग-संस्कृति है। आज हम चाहे कितना ही वृक्षारोपण करें और वन महोत्सव मनावें, परंतु हममें वृक्ष-प्रेम नहीं है। आज के वृक्षारोपण के पीछे उपयोगिता और फैशन का दृष्टिकोण है।

निःसर्ग के सानिध्य में रहकर पत्थर जैसा सोमदत्त भावपूर्ण बन गया। वह प्रातः शंकर भगवान की पूजा करता, बागवानी करता और दोपहर को आसपास के असांस्कृतिक लोगों को एकत्र कर उन्हें संस्कृति की ओर मोड़ता, प्रभु के विचार और जीवन-दर्शन देता तथा संध्या को वृक्षों के समीप बैठता था।

एक दिन प्रातः सोमदत्त चित्तेकाग्र कर भगवान के ध्यान में बैठा था। भगवान शंकर ने प्रसन्न होकर उसको दर्शन दिये। उसने आनंद-विभोर होकर अपने नेत्र-जल से भगवान के चरण प्रक्षालन किये। भगवान ने उसे आश्वासन दिया- "बेटा! मानव भूल करता ही है परंतु तेरे जैसा कोई विरला ही प्रायश्चित करता है। मैं तेरी भक्ति से प्रसन्न हूँ, मुझसे वर माँग।"

"प्रभु! ज्ञानी आप से मुक्ति माँगते हैं, पर मेरे पास इतना ज्ञान कहाँ है। भक्ति समर्थ व्यक्तियों के लिए है, मेरा स्थान भक्तों में भी नहीं है। इसलिए प्रभु! मुझे और कुछ नहीं चाहिये, मेरी केवल एक ही आकांक्षा है कि मैं जीवन पर्यंत आप के सानिध्य में रहूँ, आप का श्वासोच्छ्वास और दृष्टि सतत मेरे ऊपर पड़ती रहे।"

भगवान ने उसको इच्छित वरदान देते हुये कहा—'आज से तू मेरा [illegible] बन गया है।' भगवान के पार्षदों में उसे स्थान मिल गया। भगवान [illegible] अन्तर्धान होने से पहिले बोले— 'जगत में जाकर दुःख-दुःखियों की [illegible] और लोगों को सन्मार्ग की ओर मोड़ो। उसके बाद तुमको यह स्थान [illegible] [illegible]।'"

सोमदत्त भगवान को नमस्कार कर जगत् में लौट आया और शिवजी की आज्ञानुसार लोक-कल्याण और प्रभु-कार्य करने के पश्चात उसने अपना देह त्याग किया।

आज से लगभग सत्रह-अठारह सौ वर्ष पूर्व सोमशर्मा नाम के एक ब्राह्मण की श्रुतार्था नाम की एक पुत्री हुई। कुछ ही समय पश्चात् पिता की मृत्यु हो जाने से वत्स और गुल नाम के दो भाइयों ने प्रेम पूर्वक श्रुतार्था का लालन-पालन किया। श्रुतार्था का सौन्दर्य शशि-कला की भांति दिन-दिन खिलने लगा।

उनके पड़ोस में ही नाग लोगों का राज्य था। आज के अमेरिका की तरह ही वह वैभव सम्पन्न राष्ट्र था। वहाँ के राजा वासुकी के भतीजे कीर्तिसेन का मन श्रुतार्था के सौंदर्य की ओर आकर्षित हो गया। श्रुतार्था भी उस प्रभावशाली युवक के सौन्दर्य पर मुग्ध हो गई। दोनों एक दूसरे के निकट आ गये। श्रुतार्था ब्राह्मण-कन्या थी, परन्तु प्रेम वस मन से कीर्तिसेन का वरण कर चुकी थी। एक सन्ध्या को कीर्तिसेन घोड़े पर सवार होकर भ्रमण करने निकला और श्रुतार्था को मिलकर विवाहार्थ उसकी स्वीकृति प्राप्त कर ली।

घर आने पर श्रुतार्थाने अपने भाइयों से सारी बाते बताकर कीर्तिसेन के साथ विवाह करने की अपनी इच्छा व्यक्त की। परन्तु दोनों भाइयों ने इसका विरोध किया। उनका कहना था कि वे ब्राह्मण हैं और नागलोक हल्के कुल के हैं। कीर्तिसेन के चाचा ने भी कीर्तिसेन के प्रस्ताव को अस्वीकार करते हुये कहा कि वह भिखारिन है। हमारी सम्पत्ति की अधिकारिणी किस प्रकार हो सकती है? वह राज-रानी नहीं बन सकती। तुम्हें किसी राज-कन्या से ही विवाह करना चाहिये।

दोनों के हृदय मिल चुके थे। दोनों मिलकर संसार चलाना चाहते थे। परन्तु दोनों के बड़ों और सगे सम्बन्धियों ने विरोध किया, इसलिये दोनों ने गन्धर्व-विवाह की विधि से शादी करली। दोनों विवाह की प्रेम-ग्रंथि से जुड़ गये।

कुछ समय तक तो इस गंधर्व-विवाह की बात गुप्त रही परन्तु जब श्रुतार्था गर्भवती हो गई तो समाज उसकी ओर उंगली उठाने और उसको बदनाम करने लगा। समाज के प्रतिष्ठित व्यक्तियों ने उसके बहिष्कार का निश्चय किया और भाइयों ने भी उसे गाँव से निष्कासित करने का निर्णय लिया। परन्तु प्रभु की लीला को कोई नहीं जानता। रात्रि में श्रुतार्था के भाइयों को स्वप्न में ईश्वरीय संकेत मिला कि श्रुतार्था की कोख से एक देवी-रत्न पैदा होने वाला है।

दोनों भाइयों ने ईश्वरीय-संकेत के अनुसार श्रुतार्था को आश्रय प्रदान किया और एक दिन वह देवी रत्न इस धरती पर अवतीर्ण हुआ। उसका नाम था गुणाढ्य अर्थात् गत जन्म का सोमदत्त।

गुणाढ्य अभी छ वर्ष का ही था कि उसकी माता श्रुतार्था का देहावसान हो गया। शायद इस दैवी महापुरुष को जन्म देने तक ही उसकी आवश्यकता थी। चाहे कुछ हो, परन्तु गुणाढ्य को अधिक दिन तक मातृ-प्रेम नहीं मिल सका।

भगवान शिव की आज्ञा से आया हुआ यह जीव बाल्यकाल से ही प्रखर बुद्धिमान था। वह तपोवन में गुरु के पास विद्याध्ययन करने के लिये गया। गुरु की सेवा-सुश्रुषा करते हुये वह विद्याध्ययन करने लगा। पढ़ते पढ़ते ही उसे विचार आया कि केवल अपने पढ़ने से ही प्रभु-कार्य नहीं होता। इसलिये मुझे दूसरों को भी पढाना चाहिये। उसने गुणदेव और रतिदेव नाम के दो शिष्य भी तैयार किये।

गुणाढ्य गुरु की आज्ञा लेकर अपने दोनों शिष्यों सहित निपट पिछड़े हुये (भील आदि) लोगों की बस्तियों में गया। वहाँ संस्कृति के विचार ही नहीं पहुँचे थे। वे सदाचार का नाम भी नहीं जानते थे। बिलकुल पशु-जीवन बिताते थे। भूख लगी तो खाना, नींद लगी तो सोना और भोगेच्छा हुई तो भोग भोगना, इतना ही उनका जीवन था। ऐसी बस्ती में रहकर उसने लोगो का विश्वास व प्रेम सम्पादन किया और उनको सांस्कृति एवँ नैतिक जीवन जीना सिखाया।

एक दिन सातवाहन राजा अपनी सेना लेकर शिकार खेलने के लिये वन में गया। प्राचीन काल में सात्विक राजा शिकार के बहाने महलों से बाहर निकलकर प्रजा और तपोधन ऋषियों के सुख-दुःखों का पता लगाते और उनकी कठिनाइयों को दूर करते थे। तपोवनों और कृषकों को हानि पहुँचाने वाले वन्य जन्तुओं, तस्करों और लुटेरों का वध करते थे। परन्तु बिगड़े हुये काल में ये राजा और उनके भोगलंपट सैनिक शिकार के नाम पर वन-ललनाओ के शील का शिकार करते थे। वे चांदी के चार टुकड़े फेंकर भोली वन सुन्दरियों के साथ भोग-विलास करते थे।

शिकार में निकले हुये राजा ने एक वनवासी बालक को कुछ रुपये देने चाहे, परन्तु उस बालक ने उन्हें लेना अस्वीकार कर दिया। राजा के पूछने पर लड़के ने कहा—"इस गाँव के लोग बिना परिश्रम किये हुये मुफ्त का किसी से भी कुछ नहीं लेते।" यह सुनकर राजा आश्चर्य चकित हो कर बोला—"आज से छ वर्ष पूर्व जब मैं यहाँ आया था, तब तो लोगों में पैसे के लिये छीना-झपटी होती थी। आज एकाएक यह परिवर्तन कैसे हो गया?"

बालक ने कहा- "आज यहाँ महत्वपूर्ण परिवर्तन हो गया है। यहाँ तीन महापुरुष आये हुये हैं, उनसे ही हमने यह शिक्षा प्राप्त की है कि बिना परिश्रम किये हमें मुफ्त में कुछ भी नहीं चाहिए।"

सैनिकों ने भी ऐसा ही अनुभव किया। उन्होंने वन में वहाँ की सुन्दरियों को ललचाने के लिये पाँच-पचीस रुपये देने का प्रयत्न किया परन्तु उनका प्रयत्न निष्फल ही हुआ। उन वन-ललनाओं ने कहा-'भगवान ने यह मानव शरीर चन्द चांदी के टुकड़ों में बेचने के लिये नहीं दिया है। इस देह में भगवान का निवास है, वह बेची या खरीदी नहीं जा सकती।'

'मैं भी कुछ हूँ' ऐसा गौरव इन जंगली लोगों में निर्माण हो गया था। यह सारा गुणाढ्य का परिश्रम था। उसने इन वनवासियों के कान में कृष्ण की वंशी और गीता की मुरली फूँक दी थी। **'अबलास करी बलशालि शालि, हरि वाजिव गीता मुरली।'** इस गीता मुरली ने अबला को सबला कर दिया था। काम-वासना से अतृप्त सैनिकों ने गुणाढ्य को गालियाँ देकर सन्तोष किया।

राजा के मंत्रियों को लगा कि उस वन में कोई दम्भी व्यक्ति आया है, जो लोगों को राजा के विरुद्ध भड़काता है। यदि वह सचमुच में पंडित होता तो राज-दरबार में क्यों नहीं आता? विद्वान या पण्डित होकर वह जंगली लोगों के बीच में क्यों पड़ा रहता? वह या तो दाम्भिक हो सकता है या निर्बुद्ध। ब्राह्मण की देह पाई है, गाँवों में लोगों ने उपेक्षा की होगी, इसलिये यहाँ रोटी कमाने आ गया होगा।

राजा ने निश्चय किया कि यहीं पड़ाव डालकर स्वयं अपनी आँखों से देखें कि ये लोग क्या-क्या करते है? वहाँ के दृश्य को देखकर राजा चकित हो गया। वे जंगली लोग यज्ञ करते थे, आहुतियाँ देते और भगवान को नमस्कार करते थे। वेद मन्त्रों का उच्चारण करने के पश्चात् सहभोज करते थे। भोजन करते हुये भी भजन गाते थे।

भोजन कर दोपहर के पश्चात् गुणाढ्य ने उन्हें स्वाध्याय कराया, बोध-पाठ दिया और लोग अपने-अपने घरों को चले गये। इस दृश्य को देखकर गुणाढ्य के प्रति राजा के मन में कुतूहल पैदा हुआ और वह गुणाढ्य तथा उसके शिष्यों को अपने साथ राजधानी में ले गया। राजा के मन में यह बात छिपी थी कि गुणाढ्य की परीक्षा दरबारी पंडितों के समक्ष ली जाय।

दूसरे दिन राज दरबार लगा। सभा-भवन प्रजाजनों और पंडितों से खचाखच भरा था। प्रत्येक व्यक्ति इस महान पंडित को देखना चाहता था। राजा ने गुणाढ्य का परिचय देते हुये चर्चा शुरू करने की आज्ञा प्रदान की। जिस प्रकार भूखा भेड़िया शिकार पर टूट पड़ता है, उसी प्रकार सभी पंडित एक साथ गुणाढ्य पर टूट पड़े। परंतु गुणाढ्य की प्रतिभा और पांडित्य के सामने सभी पंडित निस्तेज हो गये। उनकी सूर्य के सामने दीपक की सी स्थिति थी। सभी पंडित शर्म से नत मस्तक हो

कर अपने-अपने स्थानों पर बैठ गये। राजा समझ गया कि गुणाढ्य यथार्थ में रत्न है और अपना कर्त्तव्य समझकर जंगली लोगों के बीच में काम करता है। राज-दरबार के प्रमुख पंडित शर्मवर्मा ने भी गुणाढ्य की बुद्धिमता की प्रशंसा की और उसे नमस्कार करते हुये कहा- "आप अद्वितीय हैं, महान हैं। आप जैसे महापुरुष की हमने परीक्षा ली है, यह दुःख की बात है।"

राजा ने गुणाढ्य से अपने यहाँ प्रमुख दरबारी पण्डित का स्थान ग्रहण करने की प्रार्थना की। गुणाढ्य ने इनकार किया परन्तु राजा के तीव्र आग्रह को मानते हुये तथा भगवान की इच्छा समझते हुये उसने राज दरबार में रहना स्वीकार कर लिया।

राज-रानी विदुषि थी, परन्तु राजा, रानी के समान विद्वान नहीं था। एक दिन राजा-रानी जल-क्रीडा कर रहे थे। राजा ने विनोद में रानी के ऊपर पानी उंडेलना शुरू कर दिया। इससे रानी चिढ़ गई। उसने राजा से कहा-"मोदकैः सिंचमाम्" राजा इसका अर्थ यह समझा कि 'मोदक से मेरा सिंचन कर' अर्थात् मेरे ऊपर लड्डुओं की वर्षा कर। राजा ने तुरन्त नौकरों को लड्डू लाने की आज्ञा दी और रानी के ऊपर लड्डू बर्षाने लगा। राजा के इस व्यवहार से रानी को आश्चर्य हुआ, परन्तु वह तुरन्त समझ गई कि राजा को गलतफहमी हो गई है। इसलिये वह सिर पर हाथ रखकर बोली-"महाराज! मैंने आपको लड्डू-सिंचन करने नहीं कहा। मैंने तो यह कहा कि 'मा उदकै सिंचमाम्' मेरे ऊपर पानी मत डालो। यह सुनकर राजा लज्जित और अपमानित हो गया। उसके अहम् पर चोट लग गई। उसे बहुत दुःख हुआ और उसने व्याकरणशास्त्र पढ़ने का निश्चय किया।

राजा और शर्मवर्मा इस सम्बन्ध में परस्पर चर्चा कर रहे थे। उसी समय गुणाढ्य भी वहाँ पर आ गया। राजा ने उसका सम्मान करते हुये कहा-"पण्डित राज! मेरी एक समस्या है। मेरी रानी विदुषि है, परन्तु मुझे व्याकरणशास्त्र का ज्ञान नहीं है। इसलिये मुझे व्याकरणशास्त्र पढ़ना है।

"मैं आपको पढ़ाने का प्रयत्न करूँगा। परन्तु आपको बारह वर्ष तक परिश्रम करना पड़ेगा।" गुणाढ्य ने कहा।

शर्मवर्मा समझ गया कि यह पंडित राज! निपट अव्यवहारिक है। राजा को क्या ऐसा कहा जाता है कि तुम्हें बारह वर्ष तक परिश्रम करना पड़ेगा। राजा ने शर्मवर्मा की ओर दृष्टि डाली। उसने कहा—"महाराज! अधिक नहीं परन्तु छः वर्ष तो अभ्यास करना ही पड़ेगा।"

गुणाढ्य के पास राजा को खुश करने की कला नहीं थी। इसलिये उसने चिढ़ कर शर्मवर्मा को पूछा—"क्या आप छः वर्ष में राजा को सम्पूर्ण व्याकरणशास्त्र पढ़ा देंगे?" "हाँ, हाँ, निःसन्देह!" उत्तर मिला। गुणाढ्य ने अपनी सत्यता को प्रमाणित करने के लिये आवेश में आकर कहा–'यदि शर्मवर्मा छः वर्ष में राजा को सम्पूर्ण व्याकरणशास्त्र पढ़ा देंगे तो वह उसी दिन से संस्कृत, पाली, अर्धमागधी आदि भाषाओं में बोलना ही बन्द कर देंगे।'

शर्मवर्मा ने दरबार से बाहर आकर गुणाढ्य से कहा कि आप विद्वान हैं, महान हैं परंतु आपको राजा के सामने ऐसी प्रतिज्ञा नहीं करनी चाहिये थी। गुणाढ्य ने कहा—"आप छ वर्ष में समस्त व्याकरणशास्त्र कैसे पढ़ा सकेंगे?"

"विद्या जैसे बुद्धि द्वारा प्राप्त होती है, वैसे ही अनुग्रह से भी प्राप्त हो सकती है। भगवान यदि प्रसन्न हो गये तो कठिन से कठिन कार्य भी सरल हो जाता है।" इतना कहकर शर्मवर्मा चला गया।

छः वर्ष पश्चात् राजा को अनुग्रह से सम्पूर्ण व्याकरण शास्त्र आ गया। गुणाढ्य ने राजा की परीक्षा ली। राजा ने सभी प्रश्नों के सन्तोषजनक उत्तर दिये। पूर्व शर्त के अनुसार गुणाढ्य राजदरबार छोड़कर चला गया और उसने सभी भाषाओं में बोलना बन्द कर दिया। अब उसकी वाणी बन्द हो गई।

गूंगा गुणाढ्य तपश्चर्या करने दूर जंगल में चला गया। भाषा गई, वाणी गई और लोग भी गये। अब वह अकेला पड़ गया। उसने गत जन्म की शेष उपासना फिर प्रारम्भ कर दी। अब वह और भगवान दो ही रह गये थे। वह पागलों की तरह घूमते-घूमते विन्ध्य पर्वत के बनों में आया। रात्रि को वह तीन बजे चित्तएकाग्र करने के लिये बैठा तो उसे चार-पाँच आदमियों की आवाज सुनाई दी। जाड़े की मौसम थी। वे लोग आग जलाकर आग सेंक रहे थे। उन लोगों की भाषा ही कुछ भिन्न थी। गुणाढ्य ने मौन धारण किया हुआ था, इसलिये तपस्वी समझकर इन लोगों ने उसे नमस्कार किया और आदर की दृष्टि से देखने लगे।

उन लोगों की भाषा पिशाची थी। पिशाची यानी असंस्कृत लोगों की भाषा। ऐसे लोगों की भाषा जो भगवान को नैवेद्य भी नहीं चढ़ाते थे। यदि हमारे घर में भी श्लोक नहीं बोले जाते हों तो समझना चाहिये कि वह भी पिशाचों का ही घर है। ऐसे घर में रहने वाले हम भी पिशाच ही हैं।

गुणाढ्य को इस भाषा का ज्ञान नहीं था। अतः उसने इस भाषा का अध्ययन किया। वह उनके गीतों को सुनता था। यद्यपि उन लोगों को भगवान के बारे में

कुछ भी पता नहीं था, पर कला और दूसरे भौतिक गुणों की उनके पास खान थी। गुणाढ्य ने उनके इन गुणों का भी अध्ययन किया। भक्ति भाव में रंगा हुआ गुणाढ्य अब पिशाची भाषा बोलने और लिखने लग गया। उसने संस्कृत श्लोकों को पिशाची भाषा में भाषान्तर किया। सामान्य व्यक्ति के लिये एक श्लोक याद करना कठिन होता है, परंतु उसने पिशाची भाषा में सात लाख श्लोको को लिखने का भगीरथ प्रयास किया।

पिशाची भाषा में बहुत बड़ा वाङ्मय तैयार हो गया। अब उसे किसी पंडित को अर्पण करना चाहिये या राजा के पास ले जाना चाहिये ताकि उसको प्रसिद्धि प्राप्त हो और लोगों में वे भक्ति-भाव भरे विचार पहुँच सके।

रतिदेव ने इस वाङ्मय को राज दरबार में जाकर राजा को अर्पण करने की सम्मति दी। परंतु गुणाढ्य ने राजा दरबार में जाना अस्वीकृत कर दिया। रतिदेव और गुणदेव दोनों शिष्य भोज पत्र में लिखे इस वाङ्मय को लेकर राजा सातवाहन के दरबार में पहुँचे।

राजा के मन में गुणाढ्य के प्रति ईर्ष्या निर्माण हो गई थी। वह सोचता था कि गुणाढ्य उसके विकास को रोकना चाहता था। उसने इसीलिये छः वर्ष में प्राप्त किये जाने वाले ज्ञान के लिये बारह वर्ष की अवधि बताई। राजा ने गुणाढ्य के शिष्यों से कटुतापूर्ण शब्दों में पूछा कि वे कहाँ से आये हैं और उनके सिर पर क्या है ?

शिष्यों ने उत्तर दिया—वे गुणाढ्य के शिष्य हैं और उनके सर पर अनुपम साहित्य का भंडार है। यह साहित्य-रत्न आपके खजाने में शोभा देगा। हम इसे आपको समर्पित करने आये हैं। राजा ने शर्मवर्मा को आज्ञा कि वह उसे देखे। उसने उसे देखकर कहा कि मेरी समझ में नहीं आता कि वह किस भाषा में लिखा है ? राजा ने शिष्यों से कहा—" इसको फेंक दो, यहाँ क्यों लाये हो ? "

एक पंडित ने पूछा—" यह कौनसी भाषा में लिखा है ? रतिदेव ने कहा— " पिशाची भाषा में।" पिशाची भाषा सुनते ही पंडित दो कदम पीछे हट गये। असंस्कृत, जंगली तथा पिशाचों की भाषा में लिखा गया साहित्य सभ्य, शिष्ट और विद्वान पंडितो के द्वारा कैसे पढ़ा जायेगा ?

गुणाढ्य के शिष्यों को अत्यन्त वेदना हुई। इतना अमूल्य साहित्य होते हुये भी राजा और राज-पंडितों को उसका मूल्य मालूम नहीं है ! वे दुःखी हृदय से लौट पड़े। उन्होंने गुणाढ्य से अथ से इति तक सब कह सुनाया।

गुणाढ्य के पास राजा को खुश करने क
कर शर्मवर्मा को पूछा—" क्या आप छः व
पढ़ा देंगे ?" "हाँ, हाँ, निःसन्देह !" उत्तर
प्रमाणित करने के लिये आवेश में आकर कहा–
सम्पूर्ण व्याकरणशास्त्र पढ़ा देंगे तो वह उसी ि
आदि भाषाओं में बोलना ही बन्द कर देंगे।'

शर्मवर्मा ने दरबार से बाहर आकर गुणाढ्य से
हैं परंतु आपको राजा के सामने ऐसी प्रतिज्ञा नहीं
कहा—" आप छ वर्ष में समस्त व्याकरणशास्त्र कैसे प

" विद्या जैसे बुद्धि द्वारा प्राप्त होती है, वैसे
सकती है। भगवान यदि प्रसन्न हो गये तो कठिन से
जाता है।" इतना कहकर शर्मवर्मा चला गया।

छः वर्ष पश्चात् राजा को अनुग्रह से सम्पूर्ण व्याकरण
ने राजा की परीक्षा ली। राजा ने सभी प्रश्नों के सन्तोष
शर्त के अनुसार गुणाढ्य राजदरबार छोड़कर चला गया औ
में बोलना बन्द कर दिया। अब उसकी वाणी बन्द हो गई।

गूंगा गुणाढ्य तपश्चर्या करने दूर जंगल में चला गया। भा
लोग भी गये। अब वह अकेला पड़ गया। उसने गत जन्म व
प्रारम्भ कर दी। अब वह और भगवान दो ही रह गये थे। व
घूमते-घूमते विन्ध्य पर्वत के बनों में आया। रात्रि को वह तीन ब
के लिये बैठा तो उसे चार-पाँच आदमियों की आवाज सुनाई दी
थी। वे लोग आग जलाकर आग सेंक रहे थे। उन लोगों की भा
थी। गुणाढ्य ने मौन धारण किया हुआ था, इसलिये तपस्वी सम
ने उसे नमस्कार किया और आदर की दृष्टि से देखने लगे।

उन लोगों की भाषा पिशाची थी। पिचाची यानी असंस्कृत लोग
ऐसे लोगों की भाषा जो भगवान को नैवेद्य भी नहीं चढ़ाते थे। यदि हम
श्लोक नहीं बोले जाते हों तो समझना चाहिये कि वह भी पिशाचों का ही
घर में रहने वाले हम भी पिशाच ही हैं।

गुणाढ्य को इस भाषा का ज्ञान नहीं था। अतः उसने इस भाषा क
किया। वह उनके गीतों को सुनता था। यद्यपि उन लोगों को भगवान के

मंत्रमुग्ध होकर उसका संगीत सुनते रहते हैं। वे चरना भूल जाते हैं, जिससे वे दुर्बल होकर सूख गये हैं। इसीलिये उनका माँस स्वाद-हीन हो गया है। उसके स्वर में न जाने क्या जादू है कि आस पास के ग्रामवासी भी उसे सुनने को जाते हैं। उसका यह पुरुषार्थ कई महिनों से चल रहा है।

राजा ने शर्मवर्मा को आज्ञा दी— "पंडितजी! पूछ-ताछ कीजिये कि ऐसा स्वर्गीय कंठ से गाने वाला कौन है? उसके कंठ में ऐसी विशिष्ठता है कि वन के पशु भी खाना-पीना भूल जाते हैं?"

शर्मवर्मा ढूँढ करता हुआ उस स्थान पर पहुँचा जहां मधुर श्लोकों की संगीत लहरी के साथ गुणाढ्य का वाङ्मयी हवन चल रहा था। गुणाढ्य की कल्पनातीत मधुर, भावपूर्ण और प्रासादिक वाणी से निकले हुये संगीत को सुनकर महापंडित शर्मवर्मा भी मंत्रमुग्ध हो गया, पागल बन गया। वह भी खाना-पीना भूल गया और तीन दिन तक लगातार गुणाढ्य के संगीत को सुनता रहा।

जब उसे कुछ अपना भान हुआ तो उसे अपने प्रति घृणा का निर्माण हुआ कि मैंने क्या किया है? वह पश्चात्ताप कर रहा था कि उसने निष्काम कर्मयोगी और भगवान के परम भक्त को नहीं पहिचाना। उसके हृदय से लिखे वाङ्मय की उपेक्षा की, इसीलिये वह अपनी कृति को अपने हाथ से ही स्वाहा कर रहा है।

उसने दौड़कर गुणाढ्य के चरणों में मस्तक झुकाकर क्षमा याचना की और कहा— "अब बस करो! इस हवन को रोको!!" परंतु भगवान के निमित्त प्रारंभ किया गया हवन बीच में ही कैसे रोका जा सकता था!

शर्मवर्मा दौड़ा-दौड़ा राजा के पास गया और बोला— "महाराज! किसी भी प्रकार से आप गुणाढ्य को मनाइये कि वह अपना गाना बन्द करे, नहीं तो सपूर्ण पृथ्वी ही स्तब्ध हो जायेगी। महाराज! वह उन्हीं श्लोकों को गा रहा है, जिनकी हमने उपेक्षा की थी। वे साधारण श्लोक नहीं हैं। वे भगवद् भक्त के हृदय की गहराई से निकले हुये भाव-भक्ति और अर्थपूर्ण श्लोक हैं। उन्हें ही वह कई महीनों से गा-गाकर अग्नि को समर्पित कर रहा है। इस शेष वाङ्मय को बचाइये महाराज!"

शर्मवर्मा की बातों से आश्चर्यचकित होकर राजा जिज्ञासापूर्वक वन में गया। ज्योंही गुणाढ्य के मुँह से निकली हुई प्रासादिक मधुर वाणी उसके कानों में पड़ी, वह भूमि में गड़ जैसे गया। गुणाढ्य के संगीत के जादू से मस्त [illegible] को देखकर राजा पागल बन गया। उसे भी खाने-पीने का ध्यान नहीं

गुणाढ्य मन ही मन समझ गया कि इसमें भी कुछ ईश्वरीय संकेत है । मेरा अहंकार नहीं रहना चाहिये, इसलिये ही राजा ने उसे अस्वीकार किया है। जिसको जगत छोड़कर जाना है, उसका नाम भी नहीं रहना चाहिये। इसीलिये तो वेदों के विशाल वाङ्मय पर किसी का नाम नहीं है। संभव है भगवान ने मेरे अन्तःकरण की शुद्धि हेतु ही इस वाङ्मय को लिखवाया हो! इस लिये मुझे इस वाङ्मय को भगवान के चरणों में ही समर्पित कर देना चाहिए।

भगवान के दो मुँह हैं—बोलने वाला मुँह—ब्राह्मण और खाने वाला—अग्नि। इसलिये अग्नि द्वारा ही इसे भगवदार्पण करना चाहिये।

आकाश मण्डल निर्मल था। रक्तिम रवि रश्मियाँ दूर दूर क्षितिज पर फैल रही थी, उसी समय एक मधुर कंठध्वनि वन्य-पर्वत श्रृंखलाओं में गूंज उठी। हृदय के अन्तराल से निकली हुई उस संगीत लहरी ने उस समस्त वन-प्रदेश का वातावरण अलौकिक और दिव्य माधुर्य से भर दिया था। भगवान भास्कर अपनी सहस्र रश्मियों के साथ पर्वत-श्रृंखलाओं के पीछे से सर उठाकर गगन-मंडल में अबीर-गुलाल बिखेर कर अपने आल्हाद का परिचय दे रहे थे। पशु-पक्षियों ने उस सुर लहरी से मंत्रमुग्ध होकर चरना छोड़ दिया। वे गुणाढ्य के चारों ओर पशु-पक्षियों की एक विराट सभा के रूप में एकत्रित हो गये।

चारों ओर से पशु-पक्षियों से घिरा हुआ एक मानव भोज-पत्र में लिखे हुये श्लोकों को मधुर कंठ से भक्ति-भावना से सिक्त स्वर में गाता था। भाषा, शब्द, अर्थ कुछ भी ज्ञात नहीं, फिर भी उसके संगीत से मुग्ध होकर पशु अपनी भूख-प्यास भूल गये। पवन देव भी मानो संगीत सुनने के लिये रुक गये हों। ऐसी शांति छा गई।

यह मानव एक-एक पत्र पर लिखे श्लोकों को भाव और भक्ति के साथ गा कर उसी प्रकार अग्नि की भेंट करता था, जिस प्रकार कोई पिता अपने लाड़ले बेटे को चिता में स्वाहा करता है। इस अमर संगीत के गायक ने अपना समस्त वाङ्मय गा-गा कर अग्नि के द्वारा भगवान के समर्पण कर दिया।

राजा सातवाहन के भोजन में वन्य पशुओं का माँस भी परसा जाता था। एक दिन राजा ने कहा—"आजकल भोजन में जो माँस परोसा जाता है, उसमें बिलकुल भी स्वाद नहीं है। इसका क्या कारण है?" मंत्री ने कहा—"महाराज! क्षमा करें, आजकल जंगल में एक अद्भुत ब्राह्मण श्लोकों को गाता रहता है, उसकी भाषा कुछ भी समझ में नहीं आती, परन्तु पशु-पक्षी उसके चारों ओर खड़े होकर

मंत्रमुग्ध होकर उसका संगीत सुनते रहते हैं। वे चरना भूल जाते हैं, जिससे वे दुर्बल होकर सूख गये हैं। इसीलिये उनका माँस स्वाद-हीन हो गया है। उसके स्वर में न जाने क्या जादू है कि आस पास के ग्रामवासी भी उसे सुनने को जाते हैं। उसका यह पुरुषार्थ कई महिनों से चल रहा है।

राजा ने शर्मवर्मा को आज्ञा दी— "पंडितजी! पूछ-ताछ कीजिये कि ऐसा स्वर्गीय कंठ से गाने वाला कौन है? उसके कंठ मे ऐसी विशिष्ठता है कि वन के पशु भी खाना-पीना भूल जाते हैं?"

शर्मवर्मा ढूँढ करता हुआ उस स्थान पर पहुँचा जहां मधुर श्लोकों की संगीत लहरी के साथ गुणाढ्य का वाङ्मयी हवन चल रहा था। गुणाढ्य की कल्पनातीत मधुर, भावपूर्ण और प्रासादिक वाणी से निकले हुये संगीत को सुनकर महापंडित शर्मवर्मा भी मंत्रमुग्ध हो गया, पागल बन गया। वह भी खाना-पीना भूल गया और तीन दिन तक लगातार गुणाढ्य के संगीत को सुनता रहा।

जब उसे कुछ अपना भान हुआ तो उसे अपने प्रति घृणा का निर्माण हुआ कि मैंने क्या किया है? वह पश्चात्ताप कर रहा था कि उसने निष्काम कर्मयोगी और भगवान के परम भक्त को नहीं पहिचाना। उसके हृदय से लिखे वाङ्मय की उपेक्षा की, इसीलिये वह अपनी कृति को अपने हाथ से ही स्वाहा कर रहा है।

उसने दौड़कर गुणाढ्य के चरणों में मस्तक झुकाकर क्षमा याचना की और कहा— "अब बस करो! इस हवन को रोको!!" परंतु भगवान के निमित्त प्रारंभ किया गया हवन बीच में ही कैसे रोका जा सकता था!

शर्मवर्मा दौड़ा-दौड़ा राजा के पास गया और बोला— "महाराज! किसी भी प्रकार से आप गुणाढ्य को मनाइये कि वह अपना गाना बन्द करे, नहीं तो संपूर्ण पृथ्वी ही स्तब्ध हो जायेगी। महाराज! वह उन्हीं श्लोकों को गा रहा है, जिनकी हमने उपेक्षा की थी। वे साधारण श्लोक नहीं हैं। वे भगवद् भक्त के हृदय की गहराई से निकले हुये भाव-भक्ति और अर्थपूर्ण श्लोक हैं। उन्हें ही वह कई महीनों से गा-गाकर अग्नि को समर्पित कर रहा है। इस शेष वाङ्मय को बचाइये महाराज!"

शर्मवर्मा की बातों से आश्चर्यचकित होकर राजा जिज्ञासापूर्वक वन में गया। ज्योंही गुणाढ्य के मुँह से निकली हुई प्रासादिक मधुर वाणी उनके कानों में पड़ी, वह भूमि में गड़ जैसे गया। गुणाढ्य के संगीत के जादू ने समस्त [illegible] को मुग्ध देखकर राजा पागल बन गया। उन्हें भी खाने-पीने का ध्यान नहीं

रहा। उसने गुणाढ्य के चरणों में सर झुकाकर इस हवन को बन्द करने की प्रार्थना की।

गुणाढ्य ने कहा--' राजा! भगवद् निमित्त जो कार्य प्रारम्भ किया जाता है, वह बीच में ही अधूरा नहीं छोड़ना चाहिये। भगवान की इच्छा है कि इस जगत से मेरा नामोनिशान ही मिट जाना चाहिए।"

"गुणाढ्य जी! मुझे अधिक शर्मिन्दा न कीजिये। मेरे अक्षम्य अपराध को क्षमा कर मुझे प्रायश्चित करने का अवसर प्रदान कीजिए।" राजा की आँखों से पश्चाताप के आँसू बह रहे थे। जैसे बच्चा अपनी माँ के पास रोता है, उसी प्रकार राजा इस स्थित:प्रज्ञ के पास रोने लगा।

गुणाढ्य ने कहा-"मैं इसे जला नहीं रहा हूँ, बल्कि जिसका है, उसके पास वापस कर रहा हूँ। सृष्टि को जिसकी आवश्यकता नहीं, उसे सृष्टि के सर्जक को लौटा रहा हूँ।"

सात लाख श्लोकों में से इस समय केवल चालीस हजार श्लोक ही बाकी रहे थे। सम्पूर्ण हाथी निकल चुका था, सिर्फ पूँछ शेष थी। गुणाढ्य के लिखे हुये वाङ्मय में से तत्त्वज्ञान, कला, विज्ञान इत्यादि का भाग भगवान को अर्पण हो चुका था। रह गई थी सिर्फ कहानियाँ। अपनी मूर्खता से उत्तम तत्त्वज्ञान, ललित काव्य तथा अमूल्य विज्ञान का उत्कृष्ट साहित्य सदैव के लिये समाप्त हो गया। राजा को इसका महान दुःख हुआ। वह रो रहा था। कहानियों के बचे शेष साहित्य को राजा ने अपने अधिकार में ले लिया।

राजा ने उन कहानियों के द्वारा सामान्य लोगों का मार्गदर्शन करने का संकल्प किया। उस रात को राजा वहीं घास-फूस के बिछौने पर सोया रहा। प्रभु की लीला विचित्र है। प्रातः राजा देखता है कि गुणाढ्य न जाने कहाँ चला गया था और आज तक उसका पता नहीं चला।

रतिदेव ने इस वाङ्मय के शेष चालीस हजार श्लोकों का संस्कृत श्लोकों में अनुवाद किया। परन्तु वह भी आज यहाँ मिलना कठिन है। शायद विदेशों में मिल सके।

कुरुक्षेत्र से प्रारम्भ कर शालीवाहन राजा के काल तक का इतिहास इसी वाङ्मय के आधार पर लिखा गया है। पाश्चात्य विद्वानों ने उस वाङ्मय की कीमत और कद्र की और हम हाथ जोड़े खड़े रहे।

गुणाढ्य के साहित्य के संस्कृत भाषान्तर के आधार पर जर्मन विद्वान हमारे देश का इतिहास निश्चित करते हैं और प्याऊ का पानी पीने वाले हम उसे पढ़ते

और हमारे लड़के उसे पढ़कर डॉक्टर की उपाधि प्राप्त करते हैं। इससे अधिक अपनी संस्कृति की विडंबना और क्या हो सकती है?

गुणाढ्य ने भाव-भक्ति से सिक्त हृदय द्वारा अपने आँगन में ज्ञान-गंगा बहाई। दुनियाँ के सुपुत्रों ने उसका मधुर जल पी कर नवजीवन प्राप्त किया। परन्तु उसी की संस्कृति के कुपुत्रों ने उस ज्ञानगंगा के अवशेष-बिन्दुओं को भी सुरक्षित नहीं रख सका। बन्दर के हाथों में हीरे की जो गति होती है वही स्थिति हमने इस वाङ्मय की कर दी है। क्या पता प्रभु हमें क्षमा करेंगे या नहीं? प्रायश्चित्तस्वरूप यही अन्य प्राचीन ऋषि-मुनि प्रणीत वाङ्मय को भी संग्रहित करेंगे तब भी बहुत बड़ा काम होगा।

महान कर्मवीर, ज्ञानी, भक्त, अविस्मरणीय मार्ग द्रष्टा, दिव्य वाङ्मय के स्रष्टा तथा भारतीय संस्कृति के एकनिष्ठ संत गुणाढ्य को अनन्त कोटि प्रणाम।

— ० —

महर्षि का मत्सर

कल-कल करता हुआ सरस्वती का प्रशान्त प्रवाह वातावरण को अपने मधुर-स्वर से गुञ्जारित करता था। सूर्योदय की वेला में बाल-रवि की स्वर्णिम रश्मियों से सरस्वती का जल-तल चमक उठता था। संध्या काल को वृक्षों की घनी छाया उस रमणीय स्थल को गम्भीर बना देती और जीवन की संध्या का भान कराती थी। सरस्वती का उल्लसित धीर, गम्भीर प्रवाह वनचरों को उसी प्रकार प्रेम से जल-पान कराता था, जिस प्रकार माँ अपने बच्चों को स्तन-पान कराती है। सरस्वति-तट की रमणीय गिरि-श्रृंखलायें इस पावन स्थल की रक्षा करती हुई सी लगती थीं।

प्रकृति की ऐसी पावन और रमणीय स्थली में महर्षि वशिष्ठ का तपोवन था। आश्रम के अधिष्ठाता वशिष्ठ ज्ञान के हिमालय, क्षमा के सागर और तपस्या की मूर्ति थे। मनुष्य उनके दर्शन मात्र से पवित्र हो जाता था। उनको श्रवण करने के पश्चात् अदम्य जीवन-निष्ठा और आत्म-श्रद्धा का निर्माण होता था। उनकी श्वेत-शुभ्र दाढ़ी में ज्ञान के दर्शन होते थे और तेजस्वी नेत्रों में सात्विकता झलकती थी। उनके भव्य मुख-मण्डल और स्फटिक मणि के तुल्य नयनों से करुणा की धारा प्रवाहित होती थी। गले की रुद्राक्ष-माला में अतुलित शक्ति का संग्रह दृष्टिगोचर होता था। उनके अधरों की मधुर मुस्कान में सहस्त्रों मानवों का स्नेह और स्वागत-भाव लक्षित होता था। उनका दर्शन सुखी मानव के जीवन में अमृत-सिंचन कर उसकी सुख-वृद्धि करता और जीवन से पराभूत और दुखी मानव में धैर्य, उत्साह और तेजस्विता निर्माण करता था। वे मानव को जीवन-पथ पर धैर्य और दृढ़ता से चलने का पाठ पढ़ाते थे।

महर्षि की पत्नी अरुन्धती उनके ही अनुरूप थी। वह पति-परायण, शीलवान, दयाशील, गंभीर, तपोनिष्ठ और साध्वी थी। वह सम्पूर्ण आश्रम की माता थी। आश्रम में उनके स्नेह का साम्राज्य था। आश्रम का जीवन शांत, कलह और स्पर्धा रहित था। आश्रमवासी अपनी अपनी साधना में रत थे। आश्रम के पशु-पक्षी भी वेदों की ऋचायें बोलते थे। सर्वत्र पवित्र और मंगलमय वातावरण महकता था।

सरस्वती नदी के ठीक उस पार, वशिष्ठ जी के आश्रम के सामने एक और तपस्वी का तपोवन था। सूर्य का ताप भी उसके तप के तेज के सामने फीका लगता था। उसके पास बृहस्पति को भी लज्जित कर देने वाला ज्ञान-भण्डार था। परन्तु उनका ज्ञान उन्हें पचा नहीं था, फलस्वरूप वे अहंकारी और अभिमानी थे। महान तपस्वी होने पर भी उनकी वाणी में प्रसाद और माधुर्य नहीं था। उस तपोनिधि का नाम विश्वामित्र था।

मानव के अंदर जिस प्रकार प्रेम और श्रद्धा के बीज छिपे रहते हैं, उसी प्रकार ईर्ष्या और द्वेष के बीच भी रहते हैं। भगवान ने अमृत के साथ-साथ जहर भी पैदा किया है। क्यों किया है? इसका उत्तर नहीं है। परंतु विष निर्माण किया तो विष-पान करने वाला शिव भी निर्मित किया है। परन्तु शिव कचित ही होते हैं। 'सहस्राणां कश्चित्।'

विश्वामित्र जैसे तपोधन ईर्ष्या की ज्वाला से मुक्त नहीं हो सके। वशिष्ठ के प्रति उनकी नस–नस में ईर्ष्या का विष व्याप्त था। ईर्ष्या और द्वेष रूपी विषधरों के डंक के कारण उनको नींद हराम हो गई थी।

एक बार राजकीय मतभेद के कारण वशिष्ठ और विश्वामित्र के मध्य घोर युद्ध हुआ, जिसमें विश्वामित्र की पराजय हुयी। इस राजनैतिक पराजय के कारण विश्वामित्र, वशिष्ठ को परास्त करने के लिये राज्य त्याग कर वन में तपस्या करने लगे। स्पर्धा और मत्सर के कारण उनका तप निर्विकारी नहीं बन पाया। शरीर में यदि विष का प्रवेश हो जाय तो व्यायाम करने से वह शीघ्र सारे शरीर में फैल जाता है। इसी प्रकार तपस्या से विश्वामित्र के अंदर का मत्सर रूपी विष उनके रग–रग, नस–नस में व्याप्त हो गया। मत्सर का यह बीज, वृक्ष बन गया और विश्वामित्र उसके नीचे शांति और समाधान पाने का निष्फल प्रयत्न करने लगे।

विश्वामित्र लोगों को भड़काने लगे कि वशिष्ठ लोगों के बीच बैठकर गप्पें मारते हैं, वे क्या भक्ति करेंगे? लोगों के बीच रहकर कहीं भक्ति होती है? जो भक्ति नहीं कर सकता, वह तप क्या करेगा? लोग विश्वामित्र के मत्सर को जानते थे। परंतु उनसे कहे कौन? सब मौन रहते थे। 'वशिष्ठ शांति–मूर्ति नहीं हैं'—यह दिखाने के लिये विश्वामित्र नटखट बालकों को तैयार कर वशिष्ठ के आश्रम में पत्थर फिंकवाते थे ताकि वे चिढ़ें तथा उन पर क्रोध करें। परन्तु वशिष्ठ यह सब कुछ देखते हुये भी शांति से हँसते रहते थे।

वशिष्ठ की यह शांति विश्वामित्र को और भी जलाती थी, वे उसे सहन नहीं कर सकते थे। वशिष्ठ की शांति विश्वामित्र की मत्सर रूपी प्रज्वलित अग्नि में घी का काम करती और वे अन्दर ही अन्दर जलने लगते थे। विश्वामित्र, वशिष्ठ को नीचा दिखाने का सतत प्रयत्न करते रहते थे, परन्तु उन्हें सफलता नहीं मिलती थी। एक दिन उनको इसका अवसर मिल गया।

वशिष्ठ के आश्रम में धर्म–यात्रा के निमित्त बहुत से पंडित एकत्रित हुये थे। प्राचीन काल में पंडित, ज्ञानी और भक्त लोग प्रभु–भक्ति (धर्म-यात्रा) हेतु चार पाँच महिनों के लिये निकलते और भारत के गाँवों–गाँवों में जाकर लोगों को जीवन का सच्चा मार्ग बताते थे। अन्त में वशिष्ठ जैसे ऋषियों के चरणों में आकर शास्त्रार्थ

द्वारा अपनी शंकाओं का समाधान करते और नये, जीवंत विचार लेकर वापस जाते थे। फिर उन जीवन्त विचारों का जनता में प्रचार करते थे।

आज का कुम्भ मेला धर्म-यात्रा का ही विकृत रूप है। गंगा जी में गोता लगाकर संन्यासी महाराज की प्रदक्षिणा की और जीवन कृतकृत्य समझने लगते हैं। यह एक भ्रांत कल्पना है। उस काल में कुम्भ का ऐसा स्वरूप नहीं था। तब कर्तव्य परायण पण्डित-वर्ग शंका समाधान के लिये एकत्रित होता और आध्यात्मिक चर्चा करता था। समाज के लोगों का धार्मिक और सांस्कृतिक जीवन कैसे उन्नत हो, इसके लिये लगातार प्रयत्न होते थे। सभाओं का आयोजन होता था, उन्हें धर्म-यात्रा शिविर कहते थे। इन शिविरों में आसपास के लोग आकर ज्ञान-गंगा में स्नान करते, पवित्र होते और जीवन का दृष्टिकोण पाकर वापस जाते थे।

महर्षि वशिष्ठ के आश्रम में ऐसे ही धर्म-यात्रा शिविर का आयोजन किया गया था। विश्वामित्र भी उसमें सम्मिलित हुये। विश्वामित्र के पास बौद्धिक बल था। उनकी हिमालय जैसी बुद्धि और गरुड़ जैसी उड़ान थी। भले ही आध्यात्मिक जीवन में वशिष्ठ के सामने वे बौने थे। उन्होंने वशिष्ठ को नीचा दिखाने के लिये इस अवसर का पूरा-पूरा लाभ उठाया।

विश्वामित्र ने वशिष्ठ से शास्त्रार्थ किया। उनके शास्त्रार्थ को देखकर लोग बहुत प्रभावित हुये और उनकी बुद्धि की प्रशंसा करने लगे। विश्वामित्र मन ही मन में विजय का आनन्द लूटने लगे। उन्होंने सोचा आज उनकी चिरमनोकामना पूर्ण और [illegible] होगा। वशिष्ठ सम्पूर्ण भारत के पण्डितों के सामने लज्जित होगा।

सरस्वती के नीर को कम्पित कर दिया। मानों वह विश्वामित्र के मन की बात को जान गये हों।

हवा के झोंके और सरस्वती का जल शांत हुआ, मानों वे विश्वामित्र को आश्वस्त करते हों कि 'शान्त हो, हमारे पास आ, हम तेरी अशान्ति को दूर कर तुझे शीतलता प्रदान करेंगे, तेरे अन्दर के कचरे को साफ कर तुझे फूल के समान हल्का और सौरभ-मय बना देंगे।' सामने की हरियाली भी उसका आह्वान करती थी, परन्तु विश्वामित्र निःसर्ग का सन्देश लेने के लिये तैयार न थे। उनके मन में तो वशिष्ठ का कांटा खटक रहा था। उसे कैसे समाप्त किया जाय? वे इसी चिंतन में थे। उन्होंने किसी अन्य व्यक्ति द्वारा वशिष्ठ को खत्म करने की योजना बनाई, ताकि इस कुकृत्य का दोष सीधे-सीधे उन पर न मढ़ा जा सके।

ईर्ष्या और डाह से अंधे हुये विश्वामित्र इस बात को भूल गये कि इस सृष्टि में उनसे भी महान एक दूसरी शक्ति है, जो अन्तर्यामी है, सब कुछ देखती है और उसे किसी अन्य साक्षी की आवश्यकता नहीं है। वह स्वयँ साक्षी है—'सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो।'

विश्वामित्र के आश्रम के पास अहीरों की बस्ती थी। अहीर उनके तप और तेज से प्रभावित थे। एक अहीर की कन्या वशिष्ठ जी के प्रति पूज्य भाव रखती थी। वह जब नदी में पानी लेने जाती तो वशिष्ठ जी के मुखारविन्द से सूत्र और वेद-मंत्र सुनती थी। ऋषि भी उसे पुत्रीवत स्नेह करते थे।

विश्वामित्र ने इस अहीर-कन्या को अपने पास बुलाकर कहा—"तुमको मेरा एक कार्य करना है और केवल तू ही उसे कर सकती है।" कन्या ने आश्चर्य-चकित होकर कहा—"मैं आपका क्या काम कर सकूँगी? मेरी योग्यता ही कितनी है?"

विश्वामित्र ने दृढ़ता से कहा—"मुझे वशिष्ठ की हत्या करनी है।" यह सुनते ही कन्या चौंक और घबराकर दो कदम पीछे हट गई। विश्वामित्र जैसा तपोधन वशिष्ठ की हत्या करेगा? इस बात को मानने के लिये उसका मन तैयार न था।

जो व्यक्ति भगवान को प्राप्त करने के लिये सतत कठोर तपश्चर्या करता है, वह क्या भगवद्-सदृश वशिष्ठ की हत्या करेगा? उस निर्दोष-निष्पाप कन्या को क्या पता था कि इस तपोधन के अन्दर द्वेष की ज्वाला धधक रही है। उसने उसके अंतस्तल में हलचल मचा रखी है।

विश्वामित्र ने कन्या से कहा—"कल सायंकाल वशिष्ठ जिस समय घूमने के लिये निकलें, तुम उस समय अपना घड़ा लेकर पानी भरने के लिये नदी तट पर जाना और नदी में डूब जाने का सा ढोंग रचना। वशिष्ठ तुमको बचाने के लिये

"बेटी तू निर्भय रह। विश्वामित्र ने जैसा कहा है, तू वैसा ही करना।" लड़की ने कहा—"यह क्या? आपकी मृत्यु और मैं निमित्त बनूँगी? यह मेरे लिये असंभव है।"

वशिष्ठ ने कहा—"इसमें डरने की क्या बात है। मृत्यु का अर्थ है—पति से मिलना। मैं उस परम पिता परमेश्वर से बिछुड़ गया हूँ, मुझे उसको मिलने का सौभाग्य मिलेगा। उसी शुभ घड़ी के लिये तो यह सारी दौड़ धूप है।

मृत्यु के कारण हम बिछुड़ते हैं। परन्तु मृत्यु अर्थात् अपने भीतर बसे हुये भगवान को, आकाश (व्यापक) के भगवान को मिलने जाना। भगवान का हमारे साथ इकरारनामा है कि हमारे शरीर के अन्दर के भगवान को जब देह बन्धन स्वरूप लगने लगेगी और मुक्त विकास के लिये अभिनव-यात्रा की आतुरता होगी तब मृत्यु आयेगी और हम मृत्यु की उंगली पकड़कर नई यात्रा का प्रारंभ करेंगे। आज वह अमूल्य क्षण आ रहा है, उस परम पिता परमात्मा से मेरी मुलाकात होगी। आज वशिष्ठ का महान भाग्य है। मेरी मौत भी किसीका उपयोग होगी। तू उसकी निमित्त बनी है और दुःखी हो रही है? जा विश्वामित्र ने जो कहा है वह कर।"

दूसरे दिन संध्या-समय वशिष्ठ सरस्वती नदी के किनारे अकेले टहलते हुये शांत-चित्त विचार कर रहे थे कि सृष्टि के सृजनहार की क्या लीला है? ब्रह्माण्ड को भेदन करने की शक्ति वाली मेरी बुद्धि एक मानव के मन की समस्या हल नहीं कर सकी? सूर्य भगवान दिन भर कर्मयोग करने के बाद अपने घर की ओर प्रयाण कर रहे थे। मानो वे वशिष्ठ को कह रहे हों, कि महामुने! तुम भी कर्मयोग कर थक गये हो और अब थक कर अपने घर की ओर प्रयाण कर रहे हो। ऐसा संकेत देकर सविता नारायण अपने कर्मयोग की सुनहरी आभा छोड़कर अस्ताचल में विलीन हो गये।

उस समय वह अहीर-कन्या आई। वह एक क्षण पानी के ऊपर दिखाई दी और फिर पानी मे डूब गई। वशिष्ठ उसे डूबते ही नदी में कूद पड़े। उनकी अनन्त यात्रा का प्रथम सोपान समाप्त हो गया। विश्वामित्र के तपोबल से नदी में बाढ़ आ गई। नदी-तट पर खड़े लोगों ने दोनों प्राणियों को बहते देखा।

विश्वामित्र ने एक वृक्ष की आड़ से यह दृश्य देखा और अपने जीवन की महत्वाकांक्षा की पूर्ति की घड़ी को निकट आती देखकर पत्थर उठाने के लिए झुके। सरस्वती माता ने इसी समय अपनी गती तीव्र की और वशिष्ठजी को तेजी से [illegible] ले गई। सरस्वती माता ने सोचा होगा कि एक महान कर्मयोगी

के रक्त से उसका जल नहीं रंगना चाहिए। विश्वामित्र जब पत्थर उठाकर वशिष्ठ को मारने को खड़े हुये तो देखते हैं कि वह तो दस गज आगे निकल गये हैं। दैवयोग से वशिष्ठजी बहते बहते गंगा-तीर पर किनारे लग गये। वे बच गये, लोगों ने सोचा वे मर गये हैं!

वशिष्ठ जी की मृत्यु से आश्रमवासी लोगों को बहुत बड़ा दुःख हुआ। वे उनको (उनके शव को) ढूँढ़ते-ढूँढ़ते गंगातीर पर आ पहुँचे। वहाँ वशिष्ठजी को जीवित देखकर उन्हें महान प्रसन्नता हुई। उन्होंने उनसे आश्रम में लौट चलने की प्रार्थना की और बोले—"प्रभु! आपने हमको मानवीय जीवन जीना सिखाया, हमें पशु से मानव बनाया और संस्कार दिये। आप फिर से आश्रम में चलकर हमारा जीवन-विकास कीजिये।"

वशिष्ठ जी ने कहा—"विश्वामित्र जैसे महान तपोराशि आपके पास हैं, वे आपके जीवन को दिव्य और भव्य बनादेंगे। मैं यहाँ पर नया आश्रम स्थापित करूँगा।"

थोड़े ही दिनों में वशिष्ठ का पुराना आश्रम उजाड़ और वीरान हो गया। आश्रम के पशु-पक्षी भी पलायन कर गये। तपोवन की पवित्रता और महक उड़ गई। विश्वामित्र भी पराभूत होने से हताश और निराश होकर अदृश्य हो गये।

सरस्वती का नीर पन्द्रह वर्ष पश्चात् भी उसी वेग से अनन्त धारा में बहता था, परंतु उसमें वह उल्लास और माधुर्य नहीं था। जिस प्रकार मानव को जीना पड़ता है, क्योंकि वह मरता नहीं है और मरना अपने हाथ में भी नहीं है इसलिये वह शुष्क और नीरस जीवन जीता है। उसी प्रकार आज सरस्वती भी जिन्दा थी। जैसे बहना था, इसलिये बहती थी।

ऐसे रमणीय स्थान में कोई आश्रम क्यों नहीं है? किसी ऋषि का आश्रम क्यों नहीं दिखाई देता?

ऋषि-मण्डल ने आगे जाकर एक नगर में प्रवेश किया। उषाकाल हो गया था, परन्तु सबके द्वार बन्द थे। अभी तक कोई सोकर नहीं उठा था। कोई सविता नारायण को देखकर भी नमस्कार और अर्घ्य प्रदान नहीं कर रहा था। कोई भगवान का नाम नहीं लेता था।

टका धर्मं टका कर्मं टका हि परमं मनः।

यस्य गृहे टका नास्ति तद्गृहे टक टकायते॥

सर्वत्र पैसा, पैसा की ही वृत्ति दिखाई देती थी। कोई भीख माँगता था, तो कोई किसी दूसरे को लूटता था। समाज में व्यर्थ घूमने वाला व्यक्ति गुंडा होता है। वह लोगों का धन, मान लूटता, बीड़ी फूकता और अपनी शक्ति का दुरुपयोग करता है। जवान वर्ग निस्तेज और लाचारी का जीवन व्यतीत करता हुआ दिखाई दिया। वह भोग लम्पट होने से बीस वर्ष की अवस्था में ही बूढ़ा दिखाई देता था। दस वर्ष का लड़का और पाँच वर्ष की लड़की यदि शादी के विचार करने लगें तो ऐसे बच्चे आगे चलकर जवान कैसे रह सकते हैं?

समाज की इस दुर्दशा को देखकर च्यवनऋषि व्यथित होकर विचार करने लगे कि 'यह भी क्या संसार है? जीवन में कोई निष्ठा, उमंग और उल्लास नहीं, जीवन का ध्येय नहीं। यह भी क्या कोई जीवन है? मरे नहीं, इसलिये जीते हैं—तो ऐसा समाज क्या कर सकता है?

कितने ही बूढ़े जो श्मशान में जाने ही वाले होते हैं, दिखाने के लिये धार्मिकता का ढोंग करते हैं। वे कहते हैं—गीता पढ़ने से क्या नुकसान है? उसमें क्या जाता है? कुछ जाता नहीं, इसलिये गीता पढ़ते हैं। जीवन में भौतिक सुख नहीं। नैतिक और सांस्कृतिक जीवन की कल्पना नहीं। फिर आध्यात्मिक जीवन भला कहाँ से हो?

ऋषिगण घूमते-फिरते गाँव के बाहर एक वटवृक्ष के नीचे बैठ गये। कितने ही गलितांगी लोग उनके दर्शन के लिए आये। उनके जीवन में रस नहीं था, प्रभु-प्रेम नहीं था, दुःख झेलने की शक्ति नहीं थी, वे संसार से ऊब गये थे। ऐसे निस्तेज व्यक्तियों ने ऋषियों को प्रणाम किया।

च्यवन ऋषि ने पूछा—"आपके गाँव के लोगों का जीवन ऐसा क्षुद्र, लाचार और निस्तेज क्यों है? परिवार में प्रेम नहीं और घर-घर में कलह दिखाई देती है। कोई पवित्र और मांगलिक स्थान नहीं दिखाई देता।

उनमें से एक व्यक्ति ने कहा—"आज से पन्द्रह वर्ष पूर्व यह गाँव अति सुन्दर और भव्य था।"

"तो फिर आज उसके बिगड़ने का कारण क्या है?" अग्नि ऋषि ने पूछा।

उस व्यक्ति ने कहा—"पहिले हमारे गाँव में कितने ही युवक आते थे। वे ग्रामवासियों को एकत्रित करके युवकों से स्तोत्र और प्रार्थना बुलवाते तथा भगवान और भगवद् भक्ति के बारे में समझाते थे। उपनिषद पढ़ाते और सूर्य-नमस्कार करवाते थे। परंतु अब उनका आना जाना बन्द हो गया है और तभी से हमारे गाँव का ऐसा अधःपतन हो गया है।"

"उन नवयुवकों के नाम-धाम का भी कुछ पता है?" अग्नि ने पूछा।

"प्रभो! नाम-धाम की जानकारी तो हमको नहीं है, परन्तु हम इतना जानते हैं कि वे वशिष्ठजी के शिष्य थे।"

ऋषियों ने सोचा—यहाँ कहीं अवश्य वशिष्ठजी का आश्रम होना चाहिये। सम्भवतः वे किसी कारण वश यहाँ से चले गये हों।

"परन्तु आप लोगों ने उनकी खोज तो करनी थी" अग्नि ने कहा। उन पुरुषों के पास इसका कोई उत्तर न था। मानव कितना स्वार्थी होता है? ऋषियों को इसका प्रत्यक्ष दर्शन इस गाँव में हुआ।

वे घूम फिर नदी किनारे आये। वे सोचने लगे वशिष्ठ का पता कैसे हो सकता है। उनको किस से [illegible] और [illegible] किस प्रकार पाया जाय? इसके लिये किसी से पूछना चाहिये। यह विचार कर सभी ऋषि किसी की प्रतीक्षा में बैठ गये। [illegible] यह भी बात आती है न।

"प्रभो ! सरस्वती माता का जल नीरस क्यों हो गया है ?" ऋषियों ने पूछा। भगवान ने कहा—"यहाँ पर वशिष्ठ ज्ञान दान करते थे। पशु-तुल्य लोगों को दानव न बनने देकर मानव बनाने का अविरत प्रयत्न करने वाले कर्मयोगी यहाँ से चले गये हैं, इसलिये उनके जाते ही सरस्वती का पानी भी नीरस हो गया है।" "परन्तु भगवान ! इसमें लोगों का क्या दोष है ?" ऋषियों ने कहा।

"लोगों का अक्षम्य अपराध है। वशिष्ठ के शिष्यों ने लोगों के द्वार खटखटाये। भोग-विलास में डूबे और सूअर का सा जीवन जीने वाले लोगों को जगाया। उन्हें मानव जीवन का पाठ पढ़ाकर जीवंत जीवन जीना सिखाया। लाचार, क्षुद्र और निस्तेज जीवन जीने वालों में तेजस्वी संस्कार भरे। परन्तु जब वे चले गये तब इन कृतघ्नी मानवों ने सौजन्य के नाते भी उनकी जानकारी प्राप्त नहीं की। ये इतने स्वार्थी हैं। इन्होंने यह भी विचार नहीं किया वे लोग क्यों नहीं आ रहे हैं ?"

गत जन्म के पुण्य से मानव देह मिलती है। मानव देह प्राप्त करने पर यदि मानव जैसा जीवन नहीं होगा तो भगवान दुबारा मानव-देह नहीं देते।

सरस्वती का जल फीका हो गया, परन्तु क्यों और कैसे हुआ ? इसकी किसी व्यक्ति को भी चिंता नहीं थी। सभी लोग मानो वीतराग महात्मा हो गये हो। अन्तरात्मा से आवाज आती है कि मानव ! यह कार्य अच्छा नहीं है, तू भगवान का बेटा है, तुझे यह शोभा नहीं देता। ऐसा जीवन जीने का प्रयास कर जो भगवान को सुन्दर लगे। भगवान बाहर से थपत मारते हुये कहते हैं—"मानव ! अब भी चेत, अभी समय है। यदि विपत्ति से बचना है तो ईश्वरोन्मुख बन। परन्तु जड़ बने मानव को ज्ञान ही नहीं है। जितने दिन भगवान ने जीने का परवाना (आज्ञा) दिया है, उतने दिन जीने देते हैं, उसके बाद ऐसे लोगों की खबर लेते हैं और फिर मानव-जीवन नहीं देते।" भगवान शिवजी ने कहा।

च्यवन और अंगि ऋषि ने भगवान के चरणों में मस्तक रखकर कहा—"प्रभु ! उन्हें क्षमा कीजिये। वे मूर्ख हैं, उन्हें इस बात का लेशमात्र भी ज्ञान नहीं है कि वे क्या कर रहे हैं ! हम उनका आवश्यक सुधार करेंगे। प्रभु ! यह कर्त्तव्य हमारा है। आप सरस्वती के जल को मीठा कर दीजिये। फिर हम यहाँ तपोवन खड़ा कर भूले हुये मानव को सद्मार्ग पर लायेंगे।"

इसके पश्चात् उन्होंने ग्रामवासियों को समझाया और मानवीय जीवन जीने के लिये तैयार किया। अंगिरा और च्यवन ने समाज में फिर से भक्ति और संस्कारों को स्थापित करने के लिये वहाँ पर एक तपोवन खड़ा किया। इससे सर्वत्र हर्ष छा गया। भगवान शिव की कृपा और ऋषियों के कर्मयोग से सरस्वती का खारा पानी मीठा हो गया। अत्रि, भृगु और भरद्वाज अपने-अपने आश्रमों में लौट गये।

च्यवन ऋषि के प्रयत्न से वीरान और उजाड़ स्थल फिर नन्दन कानन बन गया। व्यक्तिगत मत्सर के कारण जगत का—मानव समाज का कितना अहित होता है! विश्वामित्र इसके जीते जागते उदाहरण हैं। मैं स्वयं नहीं करूँगा और दूसरे को भी नहीं करने दूँगा। ऐसे नालायकों की दुनियाँ में कमी नहीं है। मानव जीवन लेकर ऐसा जीवन जीना चाहिये जो मानव को शोभा दे। व्यक्तिगत स्वार्थ के लिये कम से कम मानवता का द्वेषी तो नहीं बनना चाहिये। मैं भगवान का बेटा हूँ, इसलिये उसके कार्य के लिये अपना सर्वस्व अर्पण कर दूँगा। भगवान के विचारों को घर-घर पहुँचाऊँगा और समाज में शांति, स्वस्थता और समाधान स्थापित करूँगा। ऐसी वृत्ति होनी चाहिये।

न राज्यं न च राजासीन्न दंड्यो न च दांडिकः।
स्वधर्मेण प्रजास्तावत् रक्षन्तिस्म परस्परम्॥

यह स्थिति वसिष्ठ ने स्थापित की थी। हम भगवान से प्रार्थना करेंगे कि हमें सद्बुद्धि और शक्ति दे कि हम इस लोक में अपना जीवन भव्य बनावें और भव्य समाज की रचना के लिये सतत प्रयत्नशील रहकर महर्षि वसिष्ठ के मार्ग का अनुसरण कर सकें।

— ० —

अगस्ति

अति प्राचीन काल में पृथ्वी अनन्त रत्नों से भरपूर थी। प्रभातकालीन स्वर्णिम रवि-रश्मियों से पृथ्वी के रत्न-जड़ित शिखर जगमगाते रहते थे। एक बार पृथ्वी के विविध रत्नों की विलोभनीय चमक से ललचाये सागर के अन्तराल में हलचल मच गई।

सागर ने विचार किया-पृथ्वी के पास अनन्त रत्न हैं और मेरे पास केवल सीप! क्या यह भी कोई जीवन है? मैं किसी भी मूल्य में पृथ्वी के उन रत्नों को प्राप्त करूँगा।

एक दिन अस्ताचल के स्वर्णिम शिखरों पर संध्या की अठखेलियाँ चल रही थीं, पृथ्वी माता आनन्द-विभोर होकर मधुर गीत गा रही थी, इसी समय सागर ने आकर पृथ्वी माता को नम्रतापूर्वक नमस्कार किया।

पृथ्वी ने वात्सल्य-स्नेह से पूछा-"क्यों बेटा! इस समय कैसे आया? आनन्द में तो है न?"

सागर ने कहा-"माँ! तेरे आशीर्वाद से मैं आनन्द में हूँ। मुझे विचार आया कि तू दिन भर के परिभ्रमण से थक गई होगी, इसलिये चलूँ माँ की कुछ सेवा करूँ।" ऐसा कहकर वह पृथ्वी माता के चरण दबाने लगा। उसने कहा-"माँ! अब तो मैं तेरा ही होकर रहूँगा, तेरा ही काम करूँगा और तू जैसा कहेगी, वैसा ही करूँगा।"

इस सेवाशील प्यारे पुत्र के प्रगाढ़ प्रेम को देखकर पृथ्वी माता गद्गद हो गई। निश्छल और निष्पाप अंतःकरण वाली माँ के ध्यान में इस धूर्त लड़के की चालबाजी और छल कहाँ से आवे? माँ ने अत्यन्त प्रेम से कहा-"बेटा! तुझे क्या

चाहिये ?" सागर ने कपटता पूर्वक कहा—"माँ ! मुझे कुछ नहीं चाहिये, तेरी कृपा से मेरे पास बहुत कुछ है।"

पृथ्वी ने सागर की इस निरीह और निर्लोभिता से प्रसन्न होकर कहा—"नहीं, तुझे कुछ तो माँगना ही चाहिये। तू जो कुछ भी माँगेगा, मैं अवश्य दूँगी।" सागर ने अत्यन्त चतुरता से कहा—"यदि तेरा अधिक आग्रह है, तो मैं केवल इतना ही माँगता हूँ कि तेरी सेवा-प्रदक्षिणा करूँ और मुझे तेरा तीर्थ-चरणामृत मिलता रहे।"

इस सेवा-भावी नम्र लड़के से प्रसन्न होकर पृथ्वी ने कहा—"तथास्तु।"

उस दिन से पृथ्वी पर बरसात गिरने लगी। पृथ्वी का चरणामृत सागर में जाने लगा। पर्वतों के रत्न धुल-धुलकर समुद्र में पहुँचने लगे। पृथ्वी कंगाल और सागर रत्नाकर हो गया। समस्त रत्न सागर में समा गये। सुन्दर और आकर्षक दिखाई देने वाले पर्वत-शिखर काले और भयानक दिखाई देने लगे।

कुछ समय पश्चात पृथ्वी रत्न-विहीन हो गई। अब उसे ज्ञात हुआ कि उसके साथ छल किया गया है। सागर अब पृथ्वी की उपेक्षा करने लगा। पृथ्वी दुःखी हो कर विचार करने लगी कि अब वह किससे कहे ? किसके पास शिकायत करे ?

पृथ्वी की दृष्टि आकाश के चन्द्रमा पर पड़ी, वह उसके पास गई। चन्द्रमा ने पृथ्वी को नमस्कार करते हुये कहा— "माँ ! मेरे लिये क्या आज्ञा है ? मैं तेरा

चन्द्रमा ने कुछ नहीं किया, सूर्य भी कुछ नहीं कर पाया। कोई पृथ्वी की सहायता नहीं करता। वह दिन प्रतिदिन कंगाल और क्षीण बनती गई। सागर उन्मत्त होकर आगे बढ़ने लगा, इतना ही नहीं पृथ्वी की मजाक भी उड़ाने लगा। सत्ता और सम्पत्ति आने पर सब उन्मत्त हो जाते हैं।

सागर की हलचल बढ़ने लगी। पृथ्वी को लगा कि वह उसके रत्न तो ले ही गया था, अब उसे भी निगलना चाहता है। सागर के दुष्ट इरादे को देखकर पृथ्वी अपने दूसरी लड़कों की ओर देखने लगी। उसने पण्डितों के पास जाकर अपनी दुःख गाथा सुनाई।

पंडितों ने पृथ्वी को आश्वस्त किया कि वह चिंता न करे, वे लोग अभी उसके रत्नों को वापस लाते हैं। समस्त पंडित सागर के पास जाकर उसको उपदेश करने लगे। उन्होंने कहा—"सागर! तेरे जैसे महान शक्तिवान को ऐसा कार्य शोभा नहीं देता। तेरे जैसे महान लोग ऐसा कार्य करेंगे तो सृष्टि कैसे चलेगी? तू पृथ्वी के रत्न वापस देदो।"

सागर मुस्कराते हुये मन में बिचार करने लगा कि ये नामर्द लोग किनारे पर खड़े होकर मुझे उपदेश करने आये हैं? उसने कहा—"तुम लोगों को रत्न संभालना नहीं आता, इसलिये मैंने उन्हें अपने पास संभालकर रखा है। हम सब लोग भाई हैं। तुम लोग शास्त्रार्थ, चर्चा और उपदेश करते रहो, जब कभी तुमको आवश्यकता होगी तो तुम मुझसे ले जा सकते हो।"

पंडितों ने वापस आकर पृथ्वी से कहा—"तुम व्यर्थ चिंता करती हो, रत्नों की जब आवश्यकता होगी, तब सागर वापस कर देगा।"

यह सुनकर पृथ्वी माता अत्यन्त निराश हो गई। उसे लगा कि सागर ने जिस प्रकार मुझको मूर्ख बनाया है, उसी प्रकार इन पंडितों को भी बनाया है। वह अपने शूर बेटे क्षत्रियों के पास गई और कहा—"मेरे बहादुर बेटो! सागर ने मेरे रत्न लूटकर मुझ पर अन्याय किया है। तुम अन्यायी सागर को दण्ड दे कर मेरे रत्न वापस ला दो।"

पृथ्वी माता के वचनों को सुनकर उन्मत्त हुये शूर क्षत्रिय अपने शस्त्र ले सागर की ओर गये। उनमें से कितने ही लोग बिना विचारे ही सागर में कूद पड़े और कुछ किनारे पर खड़े होकर समुद्र को डांट-फटकार पिलाने लगे। इतने में सागर से भयंकर गर्जना करते हुये एक लहर आई और सबको अपने पेट में समा ले गई। कुछ दूर पर खड़े क्षत्रियों को लगा कि जो सागर में कूदे थे, वे वापस नहीं आये और जो किनारे पर खड़े थे वे भी समुद्र के उदर में समा गये हैं, इसलिये अवश्य

कुछ दाल में काला है। Thy will be done. There will be no change कहकर वे वापस लौट गये।

क्षत्रियों के निष्फल लौट आने पर पृथ्वी को बहुत बड़ा दुःख हुआ, वह निराश हो गई। शूर क्षत्रिय भी मुझे न्याय नहीं दे सका तो अब कौन न्याय देगा? पृथ्वी ने अपने लाड़ले वैभव-सम्पन्न लोगों के पास जाकर उन्हें सारी घटना सुनाई और सागर से उसके रत्न वापस लाने के लिये कहा।

ये श्रीमन्त लोग विचार करने लगे कि अथाह सागर के सामने हमारी सम्पत्ति कितनी तुच्छ है। यदि हम अपनी समस्त सम्पत्ति भी स्वाहा कर दें, तब भी सागर मानने वाला नहीं है। इतने बड़े सागर में एक बोरी चीनी डालने से क्या अन्तर पड़ने वाला है? वे पृथ्वी से कहते हैं—"माँ! जड़वाद की हवा बह रही है। सागर उन्मत्त हो गया है। आज का युग ही बिगड़ गया है, नियति की भी इच्छा ऐसी ही होगी, उसकी इच्छा से ही सब कुछ होता है। ऐसी विषम परिस्थिति में हम क्या कर सकते हैं? यदि तुझे कुछ दान चाहिये तो हम चन्दा करके आपको एक थैली अर्पण कर देंगे। इस कलिकाल में इसके अतिरिक्त हम और क्या कर सकते हैं?"

पण्डित, शूर और श्रीमन्तों से भी कुछ नहीं हुआ। इसलिये पृथ्वी निराश होकर रुदन करने लगी। पृथ्वी माता का आर्तनाद सुनकर क्षीण काय किन्तु तेजस्वी नेत्रों वाला एक ऋषिकुमार दौड़ते हुये आकर पूछने लगा—"माँ! तुझे क्या हुआ है? तू क्यों रोती है? तेरी आँखों में आँसू क्यों हैं? माँ! मैं जीवित हूँ, मुझे आशीर्वाद दे कि मैं तेरे दुःख को दूर कर सकूँ।"

पृथ्वी माता ने उसके कृश-गात और अल्प-वय को देखकर मन में विचार किया कि रवि, चन्द्र, पण्डित, शूर और श्रीमन्त भी जिस कार्य को नहीं कर सके, उसे यह छोटासा बालक कैसे कर सकता है? परन्तु उसके प्रेम को देखकर पृथ्वी का हृदय भर आया। वह गद्गद् और स्तब्ध हो गई, कुछ भी बोल न सकी।

पृथ्वी माता कुछ बोलती नहीं, इसलिये ऋषिकुमार आशंका में पड़ गया। उसने कहा—"माँ! तू बोलती क्यों नहीं? तू डर मत, मुझे आशीर्वाद दे। मैं [illegible] को [illegible], [illegible] को [illegible] और सागर को [illegible]। [illegible] आशीर्वाद चाहिये"। पृथ्वी फिर भी कुछ न बोल सकी। हृदय से [illegible] आशीर्वाद दिया और ऋषिकुमार [illegible] की तरह [illegible] के [illegible] [illegible]

समर्थ लोगों को चुप किया, तो यह बच्चर के समान बालक मेरा सामना क्या करेगा ? यह उन्मत्त होकर गरजने लगा।

आकाश को भी गुंजा देने वाली धीर-गम्भीर वाणी में इस सिंह-शावक ने गर्जना की—"सागर ! तूने मेरी माता के ऊपर अन्याय किया है। याद रखना...'

इस गम्भीर गर्जना को सुनकर सागर क्षण भर स्तब्ध रह गया और फिर कहने लगा—"शूर, पंडित और वैभव-संपन्न लोग अपने शरीर को बचाते हुये दूर खड़े रहे। तू तो छोटा बालक है, तू क्या कर सकता है ? तूने अभी मेरा प्रभाव देखा नहीं है। मुझे तुझ पर दया आती है। तू वापस चला जा। प्रार्थना कर, कथा-पुराण सुन, तपश्चर्या कर और अपना जीवन सफल कर। यदि तुझे कुछ दक्षिणा चाहिये तो मेरे बंगले पर आकर ले जा ? व्यर्थ जान मत गवाँ।"

यह सुनते ही ऋषिकुमार मानों जलने लगा। उसकी आँखों से तेज झरने लगा। वह सागर की ओर बढ़कर कहने लगा—"सागर ! तू पीछे हटता है या नहीं ? आज मैं दक्षिणा लेने नहीं, तुझे दण्ड देने आया हूँ। तेरा उपदेश सुनने नहीं, तुझे सबक सिखाने आया हूँ। मेरे सामने क्या देखता है ? पीछे हटता है या नहीं ?" यह कहकर ऋषिकुमार ने सागर के गहरे पानी में संचार किया।

ऋषिकुमार को डराने के लिये सागर भयानक गर्जना करने लगा। ऋषी-कुमार ने सागर को ललकारते और चेतावनी देते हुये सागर से अंजलि भर पानी लिया और कहा—"सागर ! तू अपने मन में क्या समझता है ? दूर हटता है या नहीं ? यदि तू पीछे नहीं हटा तो मैं तुझे एक घूँट में पी जाऊँगा ?"

ऋषि-कुमार की निष्ठा, दृढ़ता, निर्भयता तथा तेज के प्रभाव से सागर का पानी बिना अंजलि-पान किये ही सूखने लगा। ऋषि-कुमार की तेजस्विता से घबराकर सागर ने उसके पैर पकड़ लिये और गिड़गिड़ाते हुये कहा—"ऋषि-कुमार ! मुझे बचाओ, मेरी भूल हुई है, मुझे क्षमा करो ! कृपा कर आचमन मत करना—मैं मर जाऊँगा, नष्ट हो जाऊँगा। आप जैसी आज्ञा करेंगे, मै वैसा करने के लिये तैयार हूँ।"

ऋषि-कुमार ने शांत होकर कहा—"तू अपनी मर्यादा से रह, अपनी मर्यादा (सीमा) का उल्लंघन मत कर और मेरे साथ चलकर पृथ्वी माता के सभी रत्न उसके चरणों में रख दे।"

सागर ने ऋषि-कुमार को नमस्कार किया। रत्नों के भण्डार को लेकर विजयी ऋषि-कुमार आगे और पराजित सागर पीछे पीछे चला। सागर ने सभी रत्न पृथ्वी माता के चरणों में समर्पित कर दिये।

ऋषि-कुमार को देखकर पृथ्वी माता गद्गद् हो गई, उसका हृदय भर आया। उसने कुमार को प्रेम से अपनी गोद में लिया, उसका चुम्बन किया और छाती से लगा कर अश्रु-जल से उसको नहला दिया। उसने पूछा—"बेटा! तू कौन है? तेरा नाम क्या है? तूने किस शक्ति के द्वारा इतने शक्तिशाली सागर को रोका और पराजित किया है?"

ऋषि-कुमार ने कहा—"माँ! मेरा नाम अगस्ति है। मेरे पास पांडित्य, शौर्य और वैभव कुछ नहीं है, परंतु माँ! मेरे पास तेरी शक्ति है और उस शक्ति की ताकत ने ही यह कार्य किया है। प्रेम, श्रद्धा और भक्ति ही मेरी शक्ति है।"

पृथ्वी माता ने अगस्ति को प्रेमपूर्ण आलिंगन प्रदान किया और सागर से कहा "जा, तू इन रत्नों को ले जा, इन्हें सम्भाल कर रखना और सदा अपनी मर्यादा में रहना।"

उस दिन से सागर अपनी मर्यादा नहीं छोड़ता। परन्तु यदि हम सागर की जमीन दबायेंगे, तो सागर किसी दूसरे स्थान पर तूफान करके हमारी जमीन दबा लेगा। बम्बई के लोगों ने सागर को पाट कर उसकी भूमि दबा ली और उस पर इमारतें खड़ी कर दी हैं, तो सागर ने दक्षिण भारत में उतनी भूमि का अतिक्रमण कर लिया। फिर भी सागर अपनी मर्यादा नहीं छोड़ेगा। यह अगस्ति का कृपा-प्रसाद है। आज भी दक्षिण भारत में जब समुद्री तूफान आता है और सागर उछलने-कूदने लगता है तो लोग कहते हैं—"सागरा! अगस्ति वाला (हे सागर! अगस्ति आता है)। यह ऐसी मान्यता है कि ऐसा [illegible] शांत हो जाता है।

सम्पन्न लोगों को चुप किया, तो यह बन्दर के समान बालक मेरा सामना क्या करेगा ? वह उन्मत्त होकर गरजने लगा।

आकाश को भी गुंजा देने वाली धीर-गम्भीर वाणी में इस सिंह-शावक ने गर्जना की—"सागर! तूने मेरी माता के ऊपर अन्याय किया है। याद रखना...'

इस गम्भीर गर्जना को सुनकर सागर क्षण भर स्तब्ध रह गया और फिर कहने लगा—"शूर, पंडित और वैभव-संपन्न लोग अपने शरीर को बचाते हुये दूर खड़े रहे। तू तो छोटा बालक है, तू क्या कर सकता है ? तूने अभी मेरा प्रभाव देखा नहीं है। मुझे तुझ पर दया आती है। तू वापस चला जा। प्रार्थना कर, कथा-पुराण सुना, तपश्चर्या कर और अपना जीवन सफल कर। यदि तुझे कुछ दक्षिणा चाहिये तो मेरे बंगले पर आकर ले जा ? व्यर्थ जान मत गवाँ।"

यह सुनते ही ऋषिकुमार मानों जलने लगा। उसकी आँखों से तेज झरने लगा। वह सागर की ओर बढ़कर कहने लगा—"सागर! तू पीछे हटता है या नहीं ? आज मैं दक्षिणा लेने नहीं, तुझे दण्ड देने आया हूँ। तेरा उपदेश सुनने नहीं, तुझे सबक सिखाने आया हूँ। मेरे सामने क्या देखता है ? पीछे हटता है या नहीं ?" यह कहकर ऋषिकुमार ने सागर के गहरे पानी मे संचार किया।

ऋषिकुमार को डराने के लिये सागर भयानक गर्जना करने लगा। ऋषी-कुमार ने सागर को ललकारते और चेतावनी देते हुये सागर से अंजलि भर पानी लिया और कहा—"सागर! तू अपने मन में क्या समझता है ? दूर हटता है या नहीं ? यदि तू पीछे नहीं हटा तो मैं तुझे एक घूँट में पी जाऊँगा ?"

ऋषि-कुमार की निष्ठा, दृढ़ता, निर्भयता तथा तेज के प्रभाव से सागर का पानी बिना अंजलि-पान किये ही सूखने लगा। ऋषि-कुमार की तेजस्विता से घबराकर सागर ने उसके पैर पकड़ लिये और गिड़गिड़ाते हुये कहा—"ऋषि-कुमार! मुझे बचाओ, मेरी भूल हुई है, मुझे क्षमा करो। कृपा कर आचमन मत करना—मैं मर जाऊँगा, नष्ट हो जाऊँगा। आप जैसी आज्ञा करेंगे, मै वैसा करने के लिये तैयार हूँ।"

ऋषि-कुमार ने शांत होकर कहा—"तू अपनी मर्यादा से रह, अपनी मर्यादा (सीमा) का उल्लंघन मत कर और मेरे साथ चलकर पृथ्वी माता के सभी रत्न उसके चरणों में रख दे।"

सागर ने ऋषि-कुमार को नमस्कार किया। रत्नों के भण्डार को लेकर विजयी ऋषि-कुमार आगे और पराजित सागर पीछे पीछे चला। सागर ने सभी रत्न पृथ्वी माता के चरणों में समर्पित कर दिये।

ऋषि-कुमार को देखकर पृथ्वी माता गद्‌गद् हो गई, उसका हृदय भर आया। उसने कुमार को प्रेम से अपनी गोद में लिया, उसका चुम्बन किया और छाती से लगा कर अश्रु-जल से उसको नहला दिया। उसने पूछा-"बेटा! तू कौन है? तेरा नाम क्या है? तूने किस शक्ति के द्वारा इतने शक्तिशाली सागर को रोका और पराजित किया है?"

ऋषि-कुमार ने कहा-"माँ! मेरा नाम अगस्ति है। मेरे पास पांडित्य, शौर्य और वैभव कुछ नहीं है, परंतु माँ! मेरे पास तेरी भक्ति है और उस भक्ति की शक्ति ने ही यह कार्य किया है। प्रेम, श्रद्धा और भक्ति ही मेरी शक्ति है।"

पृथ्वी माता ने अगस्ति को प्रेमपूर्ण आलिंगन प्रदान किया और सागर से कहा "जा, तू इन रत्नों को ले जा, उन्हें संभाल कर रखना और सदा अपनी मर्यादा में रहना।"

उस दिन से सागर अपनी मर्यादा नहीं छोड़ता। परन्तु यदि हम सागर की जमीन खायेंगे, तो सागर किसी दूसरे स्थान पर तूफान करके हमारी जमीन खा जायेगा। बम्बई के लोगों ने सागर को पाट कर उसकी भूमि हथियाली और उस पर हवेलियाँ खड़ी कर दी हैं, तो सागर ने दक्षिण भारत में उतनी भूमि का अधिग्रहण कर लिया। फिर भी सागर अपनी मर्यादा नहीं छोड़ेगा। यह अगस्ति का पुण्य-प्रताप है। आज भी दक्षिण भारत में जब समुद्री तूफान आता है और सागर उछलने-कूदने लगता है तो लोग कहते है—"सागरा! अगस्ति आला (हे सागर! अगस्ति आता है)। वहाँ ऐसी मान्यता है कि ऐसा कहने से सागर शांत हो जाता है।

इस कराल कलि काल में चारों ओर जड़वाद का तांडव नृत्य हो रहा है। मानव-जीवन संस्कृति-माता की गोद छोड़कर ऊर्ध्वगामी हो रहा है। वह सत्य, शिव और सौन्दर्य को छोड़कर भौतिक साधनों की अंधी दौड़ में विनाश के गहन गर्त में चला जा रहा है। जिस संस्कृति और परम्परा को टिकाने के लिये हमारे पूर्वजों और ऋषिमुनियों ने अपने रक्त का एक एक बूंद खर्च किया है, वह संस्कृति-माता आज रो रही है तथा चारों ओर आशा भरी दृष्टि से देख रही है कि 'है कोई लाल! जो मेरा उद्धार करे?' परन्तु आज उसके लिये किसी का अन्तःकरण नहीं जगता, किसीका अन्तस्थ जाग्रत नहीं होता। बुद्धिमान बुद्धि और वित्तवान वित्त देने के लिये तैयार नहीं है। अधिकारी लोगों को समय नहीं है। तब सामान्य मानव 'मुझमें शक्ति नहीं है,' ऐसा कह बैठा रहेगा?

अगस्ति सामान्य मानव था, बालक था, परन्तु वह कहता है—"माँ! मेरे पास पंडिताई नहीं, वित्त नहीं, पर तेरी भक्ति है" उसकी भक्ति की शक्ति ने ही सागर जैसे महान उन्मत्त का पराभव किया है। हम भी संस्कृति-माता से कहेंगे—"माँ! हमारे पास केवल प्रेम, श्रद्धा तथा भक्ति की शक्ति है, हम उसीके आश्रित होकर जगत में फिर से तेरी प्रतिष्ठा को स्थापित करेंगे।" यही जीवन का उत्कृष्ट कर्तव्य और परमोच्च आदर्श है। यही मानव-जीवन की सफलता है।

मानव-जीवन के इस सन्देश को देने वाले महान अगस्ति को अनन्त प्रणाम!

—०—

वाराणसी

भारतवर्ष की सम्पूर्ण नदियों में गंगा का कुछ विशिष्ट ही महत्त्व है। गंगा जी भगवान शिव की जटा से निकलकर सैकड़ों मील की यात्रा कर भगवान विष्णु के चरण-कमलों में पहुँचती है। जिसका आदि और अन्त दोनों भगवान है, ऐसी गंगा कोटि-कोटि जीवों और सैकड़ों गाँवों को स्पर्श कर पावन करती तथा सिंचन कर शीतलता और जीवन प्रदान करती है इस दिव्य और पावन सरिता के तट पर हजारों ब्रह्मर्षियों ने भौतिक सुख और राजर्षियों ने राज्य-भोग त्याग कर तपश्चर्या की है।

'अपि प्राज्यं राज्यं तव जननि तीरे निवसत।' जगन्नाथ पण्डित की इस उक्ति में कितना सत्य समाया हुआ है! इस पतित-पावनी गंगा की अविरत प्रवाहित जल धारा को देखकर मांधाताओं को अपने वैभवशाली राज्य भी तुच्छ लगे थे और वे राज्य त्याग कर गंगा-तट पर बस गये थे।

गंगा समस्त भारतवर्ष का पवित्र तीर्थस्थल है। फिर गंगा और काशी का मेल तो बेजोड़ है। १५०० मील लम्बी बहने वाली गंगा का पावित्र्य सर्वत्र एक सा नहीं है। कलकत्ते में गंगा का पानी पीने के उपयोग में नहीं लिया जाता। जब कि काशी में गंगा अति पवित्र है।

कोई भारत के किसी भी कोने का और किसी भी भाषा को बोलने वाला व्यक्ति क्यों न हो, परन्तु उसके मन में एक मूक भावना रहती है कि एक बार काशी विश्वनाथ के दर्शन तो कर ही आऊँ। ऐसा कोई विरला ही अभागा होगा, जो काशी और उसके पावित्र्य को न मानता हो। प्रत्येक की भावना होती है कि मृत्यु समय उसके मुँह में गंगा-जल जाय और वह भी काशी की गंगा का। और मृत्यु के पश्चात् उसकी अस्थियाँ काशी के पास गंगा में विसर्जित की जाँय।

'काशीमरणान्मुक्तिः' काशी में मरने से मुक्ति होती है, ऐसा कहा गया है। तब काशी में अवश्य ऐसा कुछ होना चाहिये, जिसके कारण वहाँ मरने पर मानव मुक्त हो जाता है। वहाँ ऐसी चीज क्या है? इसकी स्पष्ट समझदारी होनी चाहिये। नहीं तो बहुत से बूढ़े लोग बिना समझे ही वहाँ पड़े रहते हैं। काशी के महत्त्व के पीछे की भूमिका को ध्यान में रखने पर ही काशी-यात्रा का कुछ अर्थ और वहाँ के मरण का महत्त्व है।

काशी अर्थात् सरस्वति (विद्या) का मायका-(पीहर) और संस्कृति का मस्तक तथा केन्द्र। हजारों-लाखों पंडितों और प्रचारकों ने काशी से निष्ठावान तेजस्वी जीवन प्राप्त किया था। वे काशी से दीक्षा और व्रत लेकर भारतीय-संस्कृति के प्रचार के लिये बाहर निकले हैं। यह भी मान्यता है कि काशी में सभी देवता निवास करते हैं।

ऐसी इस महान और पवित्र नगरी काशी में भगवान विश्वेश्वर को अपना स्थान छुड़ाकर कौन लाया है? इसका कोई विचार ही नहीं करता! इसको जानने के लिये हजारों वर्ष पीछे के इतिहास का अवलोकन करना पड़ेगा।

भारत के सांस्कृतिक इतिहास को पढ़ने पर ज्ञात होता है कि इस देश में समय-समय पर सांस्कृतिक उत्थान-पतन की लहर आयी है। इस प्रकार से सांस्कृतिक अधःपतन के एक काल में लोग भौतिक और भोग मय जीवन को ही प्रधानता देने लगे हैं। 'खाओ पीओ और मौज करो' के अतिरिक्त जीवन में और कुछ भी नहीं था। उस काल में 'सर्वविन्ध्यहिमालयोः' विन्ध्य और हिमालय पर्वत के मध्यम के भूभाग को भारत कहते थे। उसमें दस-बीस भोगी राजा राज्य करते थे। नीति, धर्म, यज्ञ तथा कुटुम्ब संस्था समाप्त हो गई थी। 'कालो वा कारणं राज्ञः राजा कालस्य कारणम्'-महर्षि वेदव्यास के इस महान सिद्धान्त के अनुसार राजाओं के बिगड़ने से प्रजा भी बिगड़ गई थी।

साम्यवादी विचारधारा इस सिद्धान्त के विपरीत कहती है। उसका कहना है कि नेतृत्व (राजा) का निर्माण समाज (प्रजा) करता है। अर्थात 'यथा राजा तथा प्रजा' नहीं, बल्कि 'यथा प्रजा तथा राजा' यानी परिस्थिति नेता को बनाती है। परन्तु यह सिद्धान्त नितान्त भ्रामक है। इतिहास का गहन अध्ययन करने पर इस सिद्धान्त का खोखलापन समझ में आ जायेगा।

वास्तव में यदि परिस्थिति ही नेतृत्व का निर्माण करती, तो साम्यवाद (कम्युनिज्म) को औद्योगिक रूप से विकसित जर्मनी, इंग्लैण्ड आदि देशों में आना चाहिये था, जहाँ उसके लिये अनुकूल परिस्थितियाँ थीं। परन्तु ऐसा न होकर वह

कतई पिछड़े और अविकसित देश रूस में आया। इसका कारण न तो परिस्थिति थी और न रूस की आवश्यकता ही। उसके पीछे लेनिन का महान कर्तृत्व और प्रतिभा थी। 'समाज या परिस्थिति नेता का निर्माण करती है', साम्यवादियों के इस सिद्धान्त के मूल में ही विरोधाभास है। वस्तुतः रूस में जो साम्यवाद आया, वह व्यास के 'कालो वा कारणं राज्ञः राजा कालस्य कारणम्' के सिद्धान्त के अनुसार आया है।

इसी सिद्धान्त के अनुसार भोगवादी राजाओं की प्रजा भी उनका अनुकरण कर भोगवादी बन गई थी। यज्ञों के समाप्त हो जाने पर लोगों के अन्दर की स्वाहा वृत्ति भी खत्म हो गई थी। लोग अग्नि में हवन करने के बजाय केवल अपने मुँह में होम करना जानते थे तथा दूसरे का स्वाहा करते थे। भोग-विलास और मौज-शौक ही जीवन का सर्वस्व हो गया था। परलोक, नीति व धर्म को मानने के लिये कोई तैयार न था। समाज सभी प्रकार से अधःपतित हो गया था।

मानव समाज के इस अधःपतन को देखकर भगवान व्याकुल होकर पृथ्वी तल पर आये और किसी हरि के लाल को ढूँढते-ढूँढते वाराणसी आ पधारे। वारुणा और असी के संगम पर बसी इस नगरी में एक घने वृक्ष के नीचे बैठकर कठोरतम रिपुंजय विवस्वान का प्रथम पौत्र दिवोदास तपश्चर्या कर रहा था।

भगवान ने दिवोदास से पूछा-"समाज का इतना गहन अधःपतन हो गया है और तू उसे उठाने तथा लोगों को सुधारने के बजाय चुपचाप कैसे बैठा है?"

दिवोदास ने कहा-"प्रभु! मुझे लोगों को सुधारने के नाद में नहीं पड़ना है। मुझे तो मुक्ति चाहिये और फिर जगत इतना अधिक बिगड़ गया है कि उसको सुधारना सम्भव भी नहीं है। विशाल खारे समुद्र में एक बोरी चीनी डालकर उसे मीठा करने के समान ही यह हास्यास्पद बात है। मैं इस भ्रष्ट, भोगी और अधःपतित समाज से ऊबकर ही यहाँ आकर मुक्ति साधने का प्रयत्न कर रहा हूँ।"

"भले मानव! मुक्ति का अर्थ कामना और वासना से छूटना है। जब तक कोई प्रभु के हाथ का हथियार बनकर उसका कार्य नहीं करने लगता, तब तक मुक्ति पाना कठिन है। ज्यों-ज्यों प्रभु-कार्य होता रहेगा, त्यों-त्यों कामना, वासना क्षीण होती चली जायेगी और एक दिन स्वयं मुक्ति मिल जायेगी।"

"तो फिर प्रभु! ये लोग किस प्रकार सुधर सकते हैं?" दिवोदास ने पूछा।

भगवान ने कहा—"तू यहाँ अपना राज्य स्थापित कर। मैं यहाँ सात्त्विक और सुसंस्कृत लोगों को भेजता हूँ। तू अपने राज्य को दैवी बना। यहाँ ऐसे धार्मिक और संस्कारी लोगों को तैयार कर फिर उन्हें पास-पड़ोस के राज्यों में भेज

'काशीमरणान्मुक्तिः' काशी में मरने से मुक्ति होती है, ऐसा कहा गया है। तब काशी में अवश्य ऐसा कुछ होना चाहिये, जिसके कारण वहाँ मरने पर मानव मुक्त हो जाता है। वहाँ ऐसी चीज क्या है? इसकी स्पष्ट समझदारी होनी चाहिये। नहीं तो बहुत से बूढ़े लोग बिना समझे ही वहाँ पड़े रहते हैं। काशी के महत्त्व के पीछे की भूमिका को ध्यान में रखने पर ही काशी-यात्रा का कुछ अर्थ और वहाँ के मरण का महत्त्व है।

काशी अर्थात् सरस्वति (विद्या) का मायका-(पीहर) और संस्कृति का मस्तक तथा केन्द्र। हजारों-लाखों पंडितों और प्रचारकों ने काशी से निष्ठावान तेजस्वी जीवन प्राप्त किया था। वे काशी से दीक्षा और व्रत लेकर भारतीय-संस्कृति के प्रचार के लिये बाहर निकले हैं। यह भी मान्यता है कि काशी मे सभी देवता निवास करते हैं।

ऐसी इस महान और पवित्र नगरी काशी में भगवान विश्वेश्वर को अपना स्थान छुड़ाकर कौन लाया है? इसका कोई विचार ही नहीं करता! इसको जानने के लिये हजारों वर्ष पीछे के इतिहास का अवलोकन करना पड़ेगा।

भारत के सांस्कृतिक इतिहास को पढ़ने पर ज्ञात होता है कि इस देश में समय-समय पर सांस्कृतिक उत्थान-पतन की लहर आयी है। इस प्रकार से सांस्कृतिक अधःपतन के एक काल में लोग भौतिक और भोग मय जीवन को ही प्रधानता देने लगे हैं। 'खाओ पीओ और मौज करो' के अतिरिक्त जीवन में और कुछ भी नहीं था। उस काल में 'मध्येविन्ध्यहिमालयोः' विन्ध्य और हिमालय पर्वत के मध्यम के भूभाग को भारत कहते थे। उसमें दस-बीस भोगी राजा राज्य करते थे। नीति, धर्म, यज्ञ तथा कुटुम्ब संस्था समाप्त हो गई थी। 'कालो वा कारणं राज्ञः राजा कालस्य कारणम्'-महर्षि वेदव्यास के इस महान सिद्धान्त के अनुसार राजाओं के बिगड़ने से प्रजा भी बिगड़ गई थी।

साम्यवादी विचारधारा इस सिद्धान्त के विपरीत चलती है। उसका कहना है कि नेतृत्व (राजा) का निर्माण समाज (प्रजा) करता है। अर्थात 'यथा राजा तथा प्रजा' नहीं, बल्कि 'यथा प्रजा तथा राजा' यानी परिस्थिति नेता को बनाती है। परन्तु यह सिद्धान्त नितान्त भ्रामक है। इतिहास का गहन अध्ययन करने पर इस सिद्धान्त का खोखलापन समझ में आ जायेगा।

वास्तव में यदि परिस्थिति ही नेतृत्व का निर्माण करती, तो साम्यवाद (कम्युनिज्म) को औद्योगिक रूप से विकसित जर्मनी, इंग्लैण्ड आदि देशों में आना चाहिये था, जहाँ उसके लिये अनुकूल परिस्थितियाँ थी। परन्तु ऐसा न होकर यह

तत्त्वज्ञान के भी अलग-अलग वर्ग और अधिकारी होते हैं, उनके अधिकार और क्षमता के अनुसार ही तत्त्वज्ञान परसा जाता है। सबको बराबर नहीं परोसा जाता। भगवान को भी गीता में कहना पड़ा है—'इदं ते ना तपस्काय ना भक्ताय कदाचन।'

उस काल में लोगों के जीवन में यदि किसी भी प्रकार की उलझन या झंझट उठ खड़ी होती तो लोग वाराणसी आकर अपनी समस्याओं का समाधान करते और गंगास्नान कर पवित्र होकर लौटते थे।

दिवोदास ने लोगों के रग-रग, नस-नस में ऐसी तेजस्विता भर दी थी कि वे कहते थे-'हम भले ही गरीब होंगे, पर लाचार और बेचारे नहीं बनेंगे। और तो क्या पर भगवान से भी मांगेंगे नहीं। मुफ्त का लेंगे नहीं।'

कुछ ही समय में दिवोदास ने समस्त भारतवर्ष को ही बदल डाला। इसके लिये उसने कठिनाइयों और मुसीबतों का सामना भी किया। भोगवादी राजाओं को युद्ध में पराजित कर उन्हें सात्त्विक, सांस्कृतिक और तेजस्वी जीवन जीने के लिये बाध्य किया तथा गाँव-गाँव में तेजस्वी वृत्ति का निर्माण किया। उस समय समस्त भारत में सबकी यह मान्यता दृढ़ हो गई कि जिस स्थल में तेजस्वी जीवन का सन्देश लाने वाले ऐसे महापुरुषों का निर्माण होता है, उसका दर्शन कर तथा उसकी पावन धूलि माथे पर चढ़ाकर अपना जीवन कृतकृत्य करना चाहिए।

दिवोदास ने लोगों में नाचिकेत वृत्ति का निर्माण किया था। नचिकेता ने यमराज से लोकोत्तर वैभव लेने से इनकार कर दिया था। उसने आत्मविद्या का आग्रह किया था। दिवोदास ने इस तत्त्वज्ञान को प्राप्त कर लोगों का जीवन अमृत-मय बना दिया था।

'इह जन्मनि जन्मान्तरेवा' सबके मन में यही भावना थी कि उनको भी वैसा ही दिव्य जीवन मिले। वाराणसी और तत्कालीन भारत के दिव्य जीवन के समाचारों से इन्द्र को लगा कि वह तो स्वर्ग से भी बढ़कर है। देखना चाहिये कि पृथ्वी-तल पर ऐसा क्या है?

यह देखने और दिवोदास की परीक्षा लेने के लिये इन्द्र ने अग्नि देव को वाराणसी भेजा। अग्नि ने घर-घर में जाकर लोगों के जीवन को देखा कि [illegible] तेजस्वी जीवन जीते हैं, परस्पर प्रेम करते हैं, उनके जीवन में आत्म गौरव [illegible] स्वाभिमान है। किसी में लाचारी और क्षुद्रता नहीं। स्वाभिमान [illegible] के साथ नम्रता और [illegible] भी थी। [illegible] कैसे [illegible] और [illegible] करना उन्हें [illegible] दिया था। लोग [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]। '[illegible]

कर उन्हें भी सुसंस्कृत बना। जो राजा लोग तेरे सत्कृत्य और धर्माचरण का अनुसरण न करें, उनके साथ युद्ध करने और उन्हें कण्ठ-स्नान कराने में भी न हिचकना।"

दिवोदास ने कहा—"भगवान! मुझे आपकी आज्ञा सिरोधार्य है। मैं तपस्या का त्याग कर आपका कार्य करूँगा, परन्तु मेरी एक शर्त है।"

"क्या शर्त है?"

"प्रभु! जब तक मैं यहाँ रहूँ, तब तक यहाँ मेरे अतिरिक्त किसी दूसरे की सत्ता नहीं चलनी चाहिए।" भगवान दिवोदास की शर्त को स्वीकार करने के पश्चात् अदृश्य हो गये।

दिवोदास ने अपना पुरुषार्थ प्रारम्भ किया और वारणा तथा असी दोनों सरिताओं के मध्य भाग में वाराणसी नामकी एक दिव्य और भव्य नगरी बसाकर उसे सुसंस्कृत और तेजस्वी बनाया। यहाँ से सैकड़ों-हजारों तेजस्वी प्रचारक तैयार हुये, जिन्होंने अंग, बंग, कलिंग आदि विविध राज्यों में जा-जाकर लोगों को जीवन का दिव्य सन्देश सुनाया और तेजस्वी, सांस्कृतिक, सात्विक और सांस्कृतिक जीवन की स्थापना की।

दिवोदास की नगरी से दिव्य, भव्य और तेजस्वी जीवन का सन्देश ले जाने वाले इन भक्त नौजवान प्रचारकों के अलौकिक जीवन को देखकर लोग पूछते थे कि तुमने यह सब कहाँ से सीखा? तो वे उत्तर देते थे कि राजा दिवोदास ने वाराणसी नामकी एक ऐसी दिव्य और भव्य नगरी बसाई है, जिसके लिये देवताओं को भी ईर्ष्या होती है। वह सहस्रों मानवों के जीवनों को दिव्य, भव्य, भक्तिमय और तेजस्वी बनाती है।

इन देव-तुल्य प्रचारकों के मुँह से वाराणसी का अद्‌भुत और अलौकिक वर्णन सुनकर लोगों को लगता था कि जहाँ ऐसे महापुरुष तैयार होते और गाँवों-गाँवों में फिर कर लोगों के जीवन को सुधारते हैं, तो जीवन में कम से कम एक बार तो उस नगरी का दर्शन करना चाहिये, उसकी यात्रा करनी चाहिये।

उस काल में वाराणसी में हजारों हजारों लोगों के तपोवन चलते थे। जहाँ लोग अपने भौतिक जीवन को तेजस्वी बनाते, आध्यात्मिक जीवन को उच्च करते तथा भाव और भक्ति-जीवन को पुष्ट करते थे।

आज विपरीत ही दृश्य दृष्टिगोचर होता है। जिसे तत्त्वज्ञान पचा नहीं, वही तत्त्वज्ञान के विचार कहने लगता है। जिस प्रकार बिना पचा हुआ अन्न दुर्गंध फैलाता है, उसी प्रकार बिना पचा हुआ तत्त्वज्ञान भी दुर्गंध छोड़ता है। जिसे मूँग का पानी नहीं पचता वह खोया खाने चला है।

तत्त्वज्ञान के भी अलग-अलग वर्ग और अधिकारी होते हैं, उनके अधिकार और क्षमता के अनुसार ही तत्त्वज्ञान परसा जाता है। सबको बराबर नहीं परोसा जाता। भगवान को भी गीता में कहना पड़ा है—'इदं ते ना तपस्काय ना भक्ताय कदाचन।'

उस काल में लोगों के जीवन में यदि किसी भी प्रकार की उलझन या झंझट उठ खड़ी होती तो लोग वाराणसी आकर अपनी समस्याओं का समाधान करते और गंगास्नान कर पवित्र होकर लौटते थे।

दिवोदास ने लोगों के रग-रग, नस-नस में ऐसी तेजस्विता भर दी थी कि वे कहते थे-'हम भले ही गरीब होंगे, पर लाचार और बेचारे नहीं बनेंगे। और तो क्या पर भगवान से भी मांगेंगे नहीं। मुफ्त का लेंगे नहीं।'

कुछ ही समय में दिवोदास ने समस्त भारतवर्ष को ही बदल डाला। इसके लिये उसने कठिनाइयों और मुसीबतों का सामना भी किया। भोगवादी राजाओं को युद्ध में पराजित कर उन्हें सात्त्विक, सांस्कृतिक और तेजस्वी जीवन जीने के लिये बाध्य किया तथा गाँव-गाँव में तेजस्वी वृत्ति का निर्माण किया। उस समय समस्त भारत में सबकी यह मान्यता दृढ़ हो गई कि जिस स्थल में तेजस्वी जीवन का सन्देश लाने वाले ऐसे महापुरुषों का निर्माण होता है, उसका दर्शन कर तथा उसकी पावन धूलि माथे पर चढ़ाकर अपना जीवन कृतकृत्य करना चाहिए।

दिवोदास ने लोगों में नाचिकेत वृत्ति का निर्माण किया था। नचिकेता ने यमराज से लोकोत्तर वैभव लेने से इनकार कर दिया था। उसने आत्मविद्या का आग्रह किया था। दिवोदास ने इस तत्त्वज्ञान को प्राप्त कर लोगों का जीवन अमृत-मय बना दिया था।

'इह जन्मनि जन्मान्तरेवा' सबके मन में यही भावना थी कि उनको भी वैसा ही दिव्य जीवन मिले। वाराणसी और तत्कालीन भारत के दिव्य जीवन के चमत्कारों से इन्द्र को लगा कि वह तो स्वर्ग से भी बढ़कर है! देखना चाहिये कि पृथ्वी-तल पर ऐसा क्या है?

यह देखने और दिवोदास की परीक्षा लेने के लिये इन्द्र ने अग्नि देव को वाराणसी भेजा। अग्नि ने घर-घर में जाकर लोगों के जीवन को देखा। [illegible] तेजस्वी जीवन जीते हैं, परस्पर प्रेम करते हैं, उनके जीवन में आत्म-गौरव [illegible] स्वाभिमान है। किसी में लाचारी और कुण्ठा नहीं। [illegible] एक [illegible] और नम्रता भी थी। [illegible] कैसे [illegible] और व्यवहार करना [illegible] था। लोग गरीब भी थे परन्तु [illegible] हैं। '[illegible]

यदि षष्ठे वा शाकं पचति स्व गृहे' पाँच-पाँच, छः छः दिन में भी खाना मिलता, तब भी लोगों के मुँह पर लालिमा और तेजस्विता दिखाई देती थी।

अग्नि को जातवेदस माना जाता है। उसके पास विद्वता थी तो लोगों के पास भी विद्वता थी। अग्नि को अपनी स्वाहा वृत्ति भी घर-घर में देखने को मिली। प्रत्येक व्यक्ति को लगता था कि मैं दूसरे के लिये किस प्रकार उपयोगी हो सकता हूँ। अग्नि में तेजस्विता है। उसने प्रत्येक व्यक्ति में तेजस्विता पाई। यह सब देखकर अग्निदेव आश्चर्य चकित हो गये। उन्हें लगा कि यहाँ स्वर्ग की अपेक्षा कुछ भी कम नहीं है। वह वाराणसी को देखकर आकर्षित हुये और वहीं बस गये।

इन्द्र आतुरता से अग्नि की प्रतीक्षा कर रहे थे। अग्नि अभी तक क्यों नहीं आया? उसने अग्नि की खोज में पवन देव को भेजा। अन्दर-बाहर स्वच्छ रहने वाले वायु देव पृथ्वी में आकार भ्रमण करने लगे।

पवन-देव का एक विशिष्ट गुण स्वच्छता है। कितने ही लोग आंतरिक स्वच्छता तो क्या, पर बाह्य स्वच्छता भी नहीं रख सकते। पाँच-पाँच दिन तक मुँह भी नहीं धोते। कुएँ के कुएँ दातून करते हैं। शहरों में बाह्य स्वच्छता दिखाई देती है। लोग तीन-तीन प्रकार के साबुन से तीन-तीन घंटे नहाने में लगाते हैं। सुगन्धित लोशन लगाकर स्नान घर से बाहर निकलते हैं। परंतु अन्तःकरण इतना अस्वच्छ होता है कि पड़ोसी का रेडियो देखकर जलने लगते हैं। ये लोग भीतर से अस्वच्छ होते हैं।

वायु-देव ने देखा कि यहाँ के लोग भीतर-बाहर से स्वच्छ हैं। उनमें द्वेष और मत्सर का नाम नहीं है। वायु का दूसरा गुण चुपचाप बिना बोले गुप्त रीति से दूसरों की सेवा करना है। उसने देखा कि यहाँ के लोग बिना कहे, बिना विज्ञापन किये, चुपचाप दूसरों की सेवा करते रहते हैं। उनमें उसके प्रतिफल की आकांक्षा नहीं है।

वायुदेव ने वहाँ बड़ी-बड़ी पाठशालायें और तपोवन देखे। परन्तु गहराई से छान बीन करने पर भी उसे इस बात का पता नहीं चल सका कि उनका खर्च कहाँ से आता है? कौन देता है?

आज अपने यहाँ इसके उल्टा ही देखने को मिलता है। कुछ न करने वाला भी घोषणा करता है कि मैंने अमुक-अमुक सेवायें की हैं। और जिसने थोड़ा भी किया तो वह उसका विस्तृत विज्ञापन करता है। किसी स्कूल, धर्मशाला या पंचायत घर का मोटा चंदा मांगकर बनाते हैं और उस पर अपने नाम का पत्थर लगाते हैं।

तीस हजार रुपये गाँव वालों के और पाँच हजार अपने और हॉल पर भाई साहब के नाम का बोर्ड !

आज दान, दान न रहकर व्यापार बन गया है। लोग कीर्ति और सामाजिक सम्मान (Social status) के लिये दान देते हैं अर्थात् पैसा (दान) देकर कीर्ति और सम्मान खरीदते हैं। किसी विपद्ग्रस्त के लिये थोड़े पैसे देते हैं, तो उस पर चार-चार जनों के नाम खुदवाते हैं। 'अमुक सेठ की विधवा पत्नी श्रीमती...के सुपुत्र श्री...की धर्मपत्नी श्रीमती...ने...रुपया दान दिये। हस्ताक्षर...।' यह दान नहीं पैसों से खरीदा हुआ नाम है। इस कथित दान की एक पाई भी भगवान के यहाँ जमा होने वाली नहीं है।

वायुदेव ने घर-घर में और लोगों के बही-खातों के अन्दर घुस कर भी देखा, परन्तु इन तपोवनों, विद्यालयों, तथा धार्मिक-संस्थाओं के लिये दिये गया दान कहीं अंकित न था। यह सब कुछ देखकर वायुदेव की भी वहीं बसने की इच्छा हुई और वे भी वाराणसी में बस गये।

वायु-देव भी लौट कर नहीं आये। इसलिये इन्द्र ने दोनों की खोज में सूर्य देव को पृथ्वी मण्डल में भेजा।

सूर्य भगवान महान कर्मयोगी हैं। पल-पल की गिनती कर अविरल कर्म करने वाले महान तेज-पुञ्ज सूर्य ने पृथ्वी में आकर देखा कि आबाल-वृद्ध सभी लोग व्यवस्थित ढंग से जी रहे हैं। उनका रहन-सहन, परिवेश एवं जीवन-व्यवहार व्यवस्थित है। बालक, किशोर, युवक और वृद्ध समयानुकूल और अपनी अवस्थानुकूल कर्मयोग में रत रहते हुये तेजस्वी जीवन-यापन कर रहे हैं।

आज तो मानव मन चाही जीवन प्रणाली अपनाता है। विद्यालय में पढ़ने वाला बालक विचित्र वेष-भूषा पहिनता और संसारी जीवन के रंगीन स्वप्नों में डूबा रहता है। फिर वह परीक्षा में असफल होने ही वाला है। परन्तु उसके पास तैयार (Readymade) उत्तर होता है कि 'मैं अनुत्तीर्ण होने वाला नहीं था, प्रोफेसर ने पक्षपात किया है। सर्वत्र रिश्वत और सिफारिश चलती है, मेरे पास ये साधन नहीं थे। इसीलिये मुझे अनुत्तीर्ण कर दिया गया है।'

पैन्ट पहिन कर लघु शंका करने वाले महापुरुष तर्क करते हैं कि पैन्ट पहिनने से पाप थोड़े ही लगता है। परन्तु इन मूर्खों को इतना बोध नहीं है कि पाप भले ही न लगता हो, परन्तु प्रसंगोचित परिधान और वेष-भूषा तो होनी ही चाहिये। '[illegible] कुर्यात्।'

[illegible]

अठासी वर्ष की आयु में भी जीते हैं। काल जीवन को समाप्त कर रहा है, इसकी इस वृद्ध को खबर ही नहीं है। गीता में भगवान कहते है—"**कालोऽस्मि लोकक्षयकृत् प्रवृद्धः**।–लोगों को समाप्त करने वाला काल मैं हूँ।" इसलिये कहा है–"**धर्मार्थकामाः सममेव सेव्याः**।"

पाश्चात्य लोग कहते है–Time is money इसलिये प्याऊ का पानी पीने वाले और साहबों को अपना धर्म–गुरु मानने वाले हम भी समय की तुलना पैसे से करने लगे हैं। ऐसा कहकर हम समय का महत्त्व घटाते हैं। वास्तव में काल (समय) पैसा नहीं, बल्कि भगवान है। दुःख है कि काल को भगवान समझने वाली संस्कृति के उत्तराधिकारी हम काल का मूल्य ही नहीं समझते। जबकि पाश्चात्य लोग एक–एक मिनिट का हिसाब रखते और उसका महत्त्व समझते हैं, हमारे वर्षों के वर्ष चले जाते हैं, पर कोई उसका हिसाब नहीं रखता।

सूर्य भगवान ने देखा कि यहाँ के लोगों को समय की कीमत मालूम है। प्रत्येक कार्य समयानुसार होता है। सबका जीवन यथायोग्य रीति से चल रहा है। '**उदये सविता रक्तो रक्तश्चास्तमये तथा**।' लोग संपत्ति और विपत्ति में मेरे ही समान सम भाव से रहते हैं। उसे लगा कि स्वर्ग में इससे अधिक क्या है? इसलिये वह भी यहीं रह गया।

अग्नि–देव नहीं लौटे, पवन–देव नहीं आये और सूर्य भगवान भी वापस नहीं हुये, इससे इन्द्र–देव अत्यधिक चिंतित हो गये। उन्होंने इन तीनों की ढूँढ–खोज के लिये चन्द्र–देव को भेजा।

चन्द्र शीतल, मोहक, आकर्षक, कर्मशील और उदार है। उसने काशी की गली–कूचों की खाक छान दी और पाया कि वहाँ के लोगों में वे सभी गुण विद्यमान हैं, जो उसमें हैं और जो उसमें भी नहीं हैं, वे गुण भी उसने उनमें देखे। लोगों के ऐसे अलौकिक जीवन को देखकर चन्द्रमा ने भी काशी में रहने का ही निश्चय किया। इस प्रकार एक एक कर सभी देवता आये और काशी में बस गये।

जिस नगरी में आने के लिये देवता तड़पते हों, उसके दर्शनों की लालसा यदि मानव करे तो नवीनता ही क्या है। भारत के कोने–कोने से लोग इस पावन नगरी के दर्शन करने के लिये आते थे।

दिवोदास ने समस्त काशी का ही नहीं समस्त भारत का ही स्वरूप बदल दिया था। उसे प्रसन्नता थी कि प्रभु–कृपा से मानव जीवन दिव्य, भव्य, तेजस्वी और सक्रियमय बना है, देवता भी उससे आकर्षित होकर काशी में बस गये हैं। परन्तु उसके मन में तनिक उद्विग्नता सी थी कि 'क्या मेरे कार्य में कुछ न्यूनता रह गई है जो अभी तक जगदीश्वर यहाँ नहीं आये?'

एक दिन दिवोदास इसी चिंतन में मग्न हो कर गंगा जी के किनारे बैठा था कि उसे एकाएक स्मरण हो आया कि मैंने स्वयँ ही भगवान से शर्त की थी कि 'जब तक मैं यहाँ हूँ, तब तक यहाँ किसी दूसरे की हुकूमत नहीं चलनी चाहिये।' इसीलिये जगदीश नहीं आते।

दिवोदास को लगा कि जब तक स्वयँ भगवान काशी में नहीं बसते, तब तक उसका सम्पूर्ण कर्मयोग निष्फल है। और भगवान को काशी में लाने के लिये उसको वहाँ से जाना होगा। इसलिये उसने लोगों से कहा—"प्रभु-कृपा से हमारे यहाँ सब कुछ है, एक ही कमी है कि यहाँ भगवान ने निवास नहीं किया है। इसके लिये मुझे यहाँ से जाना होगा, क्योंकि जब तक मैं यहाँ हूँ, तब तक भगवान यहाँ नहीं आ सकते।"

लोगों ने दिवोदास से प्रेम-पूर्ण आग्रह किया कि वह उन्हें छोड़कर न जाय, क्योंकि उसने अपने खून का पानी बनाकर ऐसी दिव्य, भव्य और अद्भुत नगरी बसाई तथा लोगों को आत्मीयता के साथ भव्य और तेजस्वी मानव जीवन जीना सिखाया है। उसके बिना वे कैसे रह सकेंगे!

दिवोदास ने कहा—"भाइयो! मैं आप लोगों के सामने एक गुप्त रहस्य को प्रकट करता हूँ कि मैंने जब अपना कर्म योग प्रारम्भ किया था, उस समय भगवान से शर्त की थी कि जब तक काशी में मैं रहूँ तब तक यहाँ किसी की सत्ता नहीं चलनी चाहिये। इसलिये जब तक मैं यहाँ हूँ, भगवान नहीं आ सकते। अतः मुझे जाना ही चाहिये, ताकि भगवान यहाँ आवें।

काशी में जगदीश्वर आकार बसें, इसके लिये दिवोदास ने अपना आत्म-समर्पण किया। दिवोदास ने जाते-जाते भगवान से निवेदन किया—"भगवान! मेरा कार्य पूरा हो चुका है, मैं जाता हूँ, अब आप इस नगरी में आकर निवास करें।"

दिवोदास ने ऐसी दिव्य, भव्य, सुसंस्कृत और सुसंस्कारी नगरी बसाई थी, जिसे देखकर भगवान का मन भी वहाँ रहने का हो गया। भगवान विश्वेश्वर कैलाश छोड़कर काशी में रहने लगे।

भगवान ने दिवोदास से कहा—"जब तक काशी में तेरी स्थापित की हुई परम्परा रहेगी, लोग दिव्य और तेजस्वी जीवन जियेंगे, तब तक मैं यहाँ रहूँगा!" अर्थात् जब लोग दैवी-जीवन के बजाय आसुरी और भोगवादी जीवन व्यतीत करने लगेंगे, तब विश्वेश्वर भगवान वापस वैकुण्ठ चले जायेंगे।

आज दिवोदास द्वारा स्थापित और भगवान विश्वेश्वर के निवास की काशी नगरी में वे दिव्य और भव्य परम्परायें नहीं दिखाई देतीं। [illegible] — 'रांड सांड सीढ़ी संन्यासी, इनसे बचे तो सेवे काशी।'

हम भगवान से प्रार्थना करेंगे कि प्रभु ! ऐसी कृपा करो कि फिर हजारों लोग जीवन की दीक्षा लेकर काशी के उस प्राचीन गौरव को फिर से स्थापित कर सके ।

जब कभी हम काशी जावें, काशी विश्वनाथ के दर्शन कर पतित पावनी गंगा की गोदी में स्नान करें, तो उस महान कर्मयोगी को न भूलें, जिसके कारण काशी का महत्व बढ़ा और जो साक्षात् भगवान को वहाँ लाया है ।

यदि हम यहाँ बैठकर भी काशी का चित्र अपनी आँखों के सामने खड़ा करेंगे और अंतःकरण से भावपूर्वक दिवोदास का स्मरण करेंगे तो भी हमारी काशी यात्रा हुई ही समझी जायेगी ।

दिवोदास को स्मरण करेंगे तो पता चलेगा कि भगवान विश्वेश्वर किसलिये काशी में आये और फिर हम भी भगवान को लाने के लिये कृतनिश्चयी होंगे । भगवान हमें ऐसी शक्ति प्रदान करें ।

काशी विश्वनाथ और कर्मयोगी दिवोदास को अनन्त प्रणाम ।

— ० —